प्रकाशक:—

सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया

मन्त्री,

श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर

प्रति १०००] प्रथमावृत्ति [मूल्य २॥) रुपया

वि० सं० २००७, ईस्वी सन् १९५०

मुद्रक:—

श्री जालमसिंह मेड़तवाल के प्रबन्ध से

श्री गुरुकुल प्रिं० प्रेस, ब्यावर में मुद्रित

प्रस्तावना



आपने कभी चन्दन घिसते देखा है ? वह ज्यों-ज्यों घिसा जाता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक शीतल एवं सुगन्धित होता जाता है।

और वह स्वर्ण भी! जितना ही उसे तपाया जाता है, पिघलाया जाता है, उतना ही वह परिष्कृत, शुद्ध तथा देदीप्यमान हो जाता है, असली कुन्दन बन जाता है।

हाँ, तो आखिर मेरा अभिप्राय क्या है? मुझ तुच्छ का क्या अभिप्राय और उसका मूल्य भी क्या? अखिल मानवजाति की सर्वोपरि उन्नतम एव पवित्रतम मानव-संस्कृति से पूछिए, वह क्या कहती है?

वह कहती है कि इसी प्रकार मन को भी जितना ही परिष्कृत किया जायगा, माँजा जायगा, साफ़ किया जायगा, उतना ही वह निखरता जायगा, चमकता-दमकता तथा शुद्ध सात्विक उज्ज्वल प्रकाश से जगतमगाता जायगा।

एक विचारक की धारणी है:—

"पुष्पों का सौन्दर्य उनके मनोरम वर्ण और सुवास मे है, स्वर्ण का महत्त्व उसके शुद्ध होने में है, और कस्तूरी की विशेषता

उसकी भीनी सुगन्ध में है, ठीक इसी प्रकार एक सच्चे मनुष्य का सौन्दर्य उसके निर्मल मन और ध्येयनिष्ठ एकाग्र बुद्धि में है ।"

प्रश्न है, यह मन निर्मल कैसे हो ? उत्तर, एक नहीं, अनेक हैं । उस परम सत्य तक पहुँचने के अनेक पथ हैं। जैनधर्म की आध्यात्मिक भाषा कहती है—'आत्मा अनन्त गुणों का पुँज है।' एक रहस्यवादी कवि कहता है—'विधना मारग हैं ते ते, सरग नखत तन रोवाँ जे ते।' एक और तरङ्गी बोल रहा है—'तेरे घर के द्वार बहुत हैं, बता, किधर किस पथ से आऊँ ?'

उन्हीं सत्य की राहों में से एक राह है—'अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा बहुमान प्रकट करना, प्रार्थना करना । प्रार्थना का अर्थ है:-'प्रभु के पवित्र चरणों में अपने 'स्व' को चुपचाप भक्ति-भाव से समर्पण कर देना ।'

जब साधक का अन्तरात्मा, उस महदात्मा परमात्मा के साथ एकनिष्ठ, एकरस होता है, तब जीवन के कण-कण पर सत्य की ज्योति जगमग-जगमग करने लगती है, अमृतानन्द की रसधार बहने लगती है।

जो प्रार्थना केवल वाणी पर चढ़ कर बोलती है, संसार के स्थूल पदार्थों में अटकी रहती है, जिस में से वासनाओं की दुर्गन्ध आती है, वह प्रार्थना जैन धर्म को मान्य नहीं है। यह प्रार्थना क्या, यह तो सौदाबाजी है । साधक जीवन की मधुर सुगन्ध निष्काम भाव से अपने प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करने में है। प्रभु को अर्पण करने का अर्थ है—'प्रभुमय जीवन बनाना' प्रभुमय जीवन का अर्थ है, पवित्र एवं निर्मल जीवन।

जो जीवन वासनाओं से रहित है, विकारों से दूर है, अपने पवित्र स्व में केन्द्रित है बाहर नहीं भटक रहा है, जिसके चारों ओर स्वच्छ संयम की अभेद्य लक्ष्मणरेखा खिची हुई है, जिसको अपने प्रभु को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान आता ही नहीं है, जिसका अन्तर चैतन्य अपने प्रभु में एकाकार हो गया है, वह है प्रभुमय जीवन।

जैन-संस्कृति प्रार्थना को महत्त्व देती है, अपने आराध्य को प्रतिपल स्मृतिपथ में रखने को कहती है, परन्तु इससे भी आगे बढ़ कर कहती है कि "अपने पुनीत पुरुषार्थ को न भूलो, जीवन के कर्तव्यों के प्रति बेभान न बनो। शक्ति का अनन्त स्रोत तुम्हारे अन्दर ही बह रहा है वह कहीं बाहर से नहीं आने वाला है, किसी से दिया नहीं जाने वाला है। प्रभु का स्मरण तो ठीक समय पर उठ खड़ा होने के लिए शोर घड़ी है, अलार्म है। उठना तो साधक, तुझे ही पड़ेगा। यदि तेरी मन्द चेतना है तो वह प्रार्थना क्या करेगी ? प्रार्थना आदर्श ग्रहण करने के लिए है। उस आदर्श को यथार्थ का रूप देने के लिए, इसके आगे तू है और तेरा पुरुषार्थ है।"

प्रार्थना के प्रवाह में जैन संस्कृति के उक्त आदर्श को भूल गए तो फिर वही दूसरों की तरह हमारी प्रार्थनाएँ भी केवल प्रभु के आगे गिड़गिड़ाना और भीख माँगना मात्र रह जायँगी। और इस स्थिति में प्रार्थना सजीव एवं सतेज न होकर निर्जीव निस्तेज, मृत तथा कलेवर मात्र रहेगी, जो जैनधर्म को कदापि कथमपि अभीष्ट नहीं है। प्रार्थना यान्त्रिक वस्तु नहीं है, वह हृदय की चीज है, इससे भी बढ़कर जीवन की चीज है। संत विनोबा ने कहीं कहा है—"प्रार्थना के वचनों में जो भाव हों, उनको हृदय पर

अङ्कित करके उसी प्रकाश में दिन भर का जीवन व्यतीत करने का अभ्यास करना चाहिए। दुनिया अभी लोभवृत्ति और भेद-भाव से त्रस्त है। उसमें से मुक्त होने का बल ईश्वर की प्रार्थना से मिलेगा, ऐसी अपेक्षा है।"

प्रस्तुत प्रार्थनाप्रबोध पुस्तक इन्हीं सब विचारों को लेकर प्रकाशित होने जा रही है। प्रार्थना क्या है, उसका क्या प्रयोजन है, जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए प्रार्थना से क्या प्रेरणा मिलती है, इत्यादि अनेकानेक गंभीर प्रश्नों का सीधा और सचोट उत्तर पाठकों को यहाँ मिलेगा।

आचार्यशिरोमणि पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज अपने युग के एक क्रान्तदर्शी महापुरुष थे। उनका अन्दर और वाहर का जीवन बड़ा ही भव्य था। उनके प्रवचन आदर्श प्रवचन होते थे। उनमे मानवता का स्वर पूर्णरूप में झंकृत रहता था। इन पंक्तियो के लेखक ने उनकी वाणी का गम्भीर नाद सुना है। वह श्रवण अब भी अन्तर मे गूंजता रहता है। यह प्रार्थनाप्रवोध, उन्हीं के प्रवचनों का सन्देश है। प्रवचन प्रारम्भ करने से पहले आचार्यश्रीजी भक्त कवि श्री विनयचन्दजी की जिन--चौवीसी का कोई एक पद्य बोलते थे। बोलते क्या, वह अवसर बड़ा ही मनोरम तथा हृदयस्पर्शी होता था। प्रार्थना करते-करते पूज्यश्री तन्मय होजाते थे, आनन्दरस में झूमने लगते थे। उनके मुख मण्डल पर एक से एक उच्च पवित्र भावनाएँ प्रस्फुटित होतीं, उनका एक मेला सा लग जाता। प्रार्थना वोल कर ज्यों ही उस पर कुछ कहने के लिए अग्रसर होते तो एक समां वँध जाता। कभी भक्ति की अमृतधाराएं बहतीं, तो कभी दार्शनिक गहराई में डुबकियाँ लगने लगतीं। कभी नैतिक जीवन

के ऊँचे हिमशिखरों की ओर उगली उठती तो कभी समाज की कुप्रथाओं पर आग बरसने लगती। श्रोता सब के सब मंत्रमुग्ध से भावना के प्रवाह में बहने लगते। क्या मजाल, जो कोई इधर उधर हो जाय, ठहर जाय, या कहीं अटक जाय!

श्रीयुत प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने पूज्यश्री के उन्हीं प्रार्थना सम्बन्धी प्रवचनों का प्रस्तुत प्रार्थना प्रबोध में सकलन किया है। पण्डित जी जैन समाज में एक सुख्यात सपादक हैं। आपकी संपादन शैली बड़ी ही सुन्दर एवं हृदयग्राहिणी होती है। प्रार्थना प्रबोध मे शैली का चमत्कार पाठकों को मुग्ध किए विना न रहेगा! पूज्य श्री का चिन्तन और पण्डित जी का सपादन, मेरे मन को 'स्वर्णे सुगन्धः' की सूक्ति की ओर समाकृष्ट करता है।

मैं प्रार्थना प्रबोध का हृदय से स्वागत करता हूँ। आशा है, श्रद्धालु जन इसके सहारे प्रार्थना-क्षेत्र में प्रवेश करेंगे और अपने मन को माँजने में सफल होंगे।

कुन्दन भवन
ब्यावर
१८ नवम्बर १९५०

उपाध्याय, अमर मुनि

प्रकाशक की ओर से

परम प्रतिभा के धनी, युगप्रवर्तक, स्वर्गीय जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी म० के प्रवचनों से आज 'प्रार्थना प्रबोध' पाठकों के कर-कमलों में समर्पित किया जा रहा है। पूज्य श्री के प्रवचन साहित्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने काफी लिखा है, मैं अपनी श्रद्धा के सूखे शब्द-सुमन भी अनेक बार चढ़ा चुका हूँ। इसके अतिरिक्त इस समिति की ओर से तथा हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम की ओर से विपुल प्रवचन-साहित्य प्रकाशित हो चुका है। ऐसी स्थिति में अब उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना शेप नहीं है। 'न हि कस्तूरिकामोदो शपथेन विभाव्यते।' अर्थात् कस्तूरी की गन्ध को सौगन्ध खाकर जतलाने की आवश्यकता नहीं होती। पाठक स्वयं उसे पढ़ें, चिन्तन करें, मनन करें। उसकी कल्याणकारिता स्वय उन्हें प्रतीत हुए विना नहीं रहेगी।

सहायक

प्रस्तुत किरण श्रीमती मूली बाईजी, धर्मपत्नी सेठ उदयचन्दजी सा० डागा की ६००) रुपये की सहायता से, समिति प्रकाशित कर रही है। डागाजी के पिताजी श्री धर्मचंद्रजी थे। पिता श्री के समस्त गुण आप में समाविष्ट हो गये थे। उनका सारा जीवन धार्मिकता से ओतप्रोत था। धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा दृढ़ थी और अपने प्रत्येक आचरण में वे धर्म का विचार रखते थे। लोग कहते हैं-धर्म और व्यापार परस्पर विरोधी हैं। धर्म को साधें तो व्यापार जाता है और व्यापार साधें तो धर्म जाता है। इस भ्रमपूर्ण विचार के कारण अधिकांश लोगों का जीवन

विरूप-सा हो जाता है। उसमें असंगति ऐसी व्याप जाती है कि फिर अन्त तक समन्वय को अवकाश नहीं मिलता। मगर सेठ उदयचन्द जी इसके अपवाद थे। उन्होंने अपने जीवन व्यवहार से यह सिद्ध कर दिखाया था कि धर्म का अनुसरण करते हुए भी किस प्रकार व्यवसाय चलाया जा सकता है। आप कलकत्ता मे एक प्रसिद्ध व्यापारी थे। धर्म और नीति के प्रभाव से आपकी बड़ी प्रतिष्ठा। थी तारीफ यह है कि आपने अपने ही परिश्रम से काफी द्रव्य उपार्जन करके उसका सदुपयोग भी किया था। कलकत्ता में जब जैनसभा की स्थापना हुई तो उसे आपने २१००) रुपयों का दान दिया था। और भी अनेक प्रसङ्गों पर समुचित दान दिया करते थे। जैन सभा के कार्यों में आप अन्त तक गहरी दिलचस्पी लेते रहे।

यह उल्लेखता करते हुए हमे विशेष प्रसन्नता है कि आपके परिवार की श्रीमती मूलीबाई प्रथम महिला हैं, जिन्होंने पूज्यश्री के साहित्य-प्रकाशन के लिए साहित्य समिति को आर्थिक सहायता दी है। आशा है, अन्य बहिनें भी आपका अनुकरण करेंगी और इन अनमोल साहित्य के प्रकाशन मे अपने द्रव्य का सदुपयोग करके अपने धन और जीवन को सफल बनाएँगी।

कीमत में रियायत

श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम के गत दिल्ली-अधिवेशन में यह निश्चय किया गया है कि पूज्यश्री के साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार करने के लिए खरीददारो को विशेष कमीशन दिया जाय। तदनुसार एक साथ सौ रुपये का साहित्य खरीदने पर २५ रु० प्रतिशत कमीशन दिया जाना निश्चित हुआ है। यह ऐसी रियायत है, जिससे खूब लाभ उठाया जा सकता है। उदार-

हृदय धर्मप्रेमी सज्जनों का कर्त्तव्य है कि वे इस साहित्य को खरीद कर जिज्ञासु जैन-अजैन भाइयों में वितरण करें। विक्रेताओं को भी रियायत से लाभ उठाना चाहिए।

पुस्तक के विषय में

'प्रार्थना प्रबोध' में पूज्यश्री के प्रार्थना सम्बन्धी प्रवचनों का संग्रह है। पूज्यश्री अपने प्रवचनों के आरम्भ में प्रार्थना प्रति दिन करते थे और उस पर विवेचन भी किया करते थे। प्रयत्न किया गया है कि उनके प्रार्थना सम्बन्धी सभी विचारों का संग्रह 'प्रार्थना प्रबोध' में हो जाय। अतः इस पुस्तक में अधिकांश प्रार्थनाएँ नवीन हैं तो कुछ ऐसी भी हैं जो पहले अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी थीं। ऐसा किये बिना पूज्यश्री के समस्त प्रार्थना संबंधी भाव एकत्र नहीं हो सकते थे।

इस किरण की प्रस्तावना विद्वद्वर उपाध्याय मुनिश्री अमरचन्द जी महाराज ने लिखने की कृपा की है। हम आपके अति आभारी हैं।

आशा है, यह किरण विशेष रूप से पाठकों के जीवन को ऊँचा उठाने में सहायक होगी।



भीनासर (बीकानेर)
ज्ञानपञ्चमी,
वि० सं० २००७.

चम्पालाल बाँठिया,
मन्त्री,
श्री जवाहर साहित्य समिति

प्रार्थना-प्रबोध



श्रीमान् सेठ उदयचन्दजी साहब डागा

प्रार्थना-प्रबोध

विषय-सूची



प्रार्थना की महिमा



जो लोग परमात्मा की प्रार्थना में श्रद्धा रखते हैं और जो प्रार्थना की शक्ति को स्वीकार करते है, उनके लिए प्रार्थना एक अपूर्व वस्तु है। उस पर यदि विश्वास रखा जाय तो उससे अपूर्व वस्तु की प्राप्ति होती है। यदि प्रार्थना में विश्वास न हुआ तो वही एक प्रकार का ढोंग बन जाती है। उससे फिर अपूर्व वस्तु की प्राप्ति होना सभव नहीं है। कल्पवृक्ष मे कौन-सी वस्तु नहीं रही हुई है? उसमें रहती तो सभी वस्तुएँ हैं पर नजर एक भी नहीं आती। फिर भी कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर जिस वस्तु की कल्पना की जाती है, वही वस्तु मिल जाती है। इस प्रकार कल्पवृक्ष स्वयं कल्पना (चिन्ता) के आधार से वस्तु प्रदान करता है। यदि कल्पना न की जाय तो उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना मे निहित शक्ति भले ही दृष्टिगोचर न हो, पर यदि उस पर विश्वास किया जाय तो उसमे समस्त मनोरथ पूरे हो सकते है। यही कारण है कि ज्ञानीजन परमात्मा की प्रार्थना के सामने कल्पवृक्ष या चिन्तामणि रत्न की भी परवाह नहीं करते। उनकी दृष्टि में परमात्मा की प्रार्थना के मुकाबिले उसकी भी कीमत नहीं है। जब हमारे भीतर परमात्मा की प्रार्थना पर ऐसा अगाढ विश्वास पैदा हो जाएगा और प्रार्थना के सामने कल्पवृक्ष और चिन्तामणि भी तुच्छ प्रतीत होने लगेंगे, तब हमे स्पष्ट मालूम हो जायगा कि परमात्मा की प्रार्थना मे कैसी अद्भुत शक्ति विद्यमान है। अतः

परमात्मा की प्रार्थना मे दृढ विश्वास रखो। हाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए और वह यह कि जब किसी सांसारिक पदार्थ की इच्छा को पूर्ण करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना की जाती है, तब वह सच्ची प्रार्थना नही वरन् ऊपरी ढोंग बन जाती है। इस विषय मे भक्त केशवलाल ने ठीक ही कहा है—'परमात्मा की प्रार्थना मे पन्द्रह आना मन लगा हो और केवल एक आना मन सांसारिक पदार्थ की पूर्त्ति में लगा हो तो वह प्रार्थना भी ढोंग-रूप ही है।'

किसान को घास और भूसे की भी आवश्यकता पड़ती है। पर वह घास भूसे के लिए खेती नही करता। उसका उद्देश्य तो धान्य को प्राप्त करना होता है। फिर भी धान्य के साथ घास-भूसा भी आनुषंगिक रूप में उसे मिल ही जाता है। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना करते समय ऐसा विचार करना चाहिए कि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने लिए मैं प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने मे ही आत्मा का कल्याण समाया हुआ है। इस प्रकार की उन्नत भावना रखने से अन्न के साथ-साथ जैसे घास-भूसा आप ही मिल जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थ भी अनायास ही मिल जाते हैं। लेकिन संसार की सब वस्तुएँ पा लेने की अपेक्षा आत्मा का कल्याण-साधन श्रेष्ठतर है। अतएव आत्मिक निर्मलता के लक्ष्य से ही परमात्मा की प्रार्थना करनी चाहिए। अगर प्रार्थना द्वारा आत्मा का हित-साधन हो सकता है तो तुच्छ चीजो को पाने के लिए उस प्रार्थना का उपयोग करना, चने के बदले रत्न देने के समान मूर्खता है। आत्म-कल्याण की अभिलाषा रखने वालो को ऐसी मूर्खता कदापि नहीं करनी चाहिए।

परमात्मा की प्रार्थना, किसी भी स्थान पर और किसी भी परिस्थिति मे की जा सकती है। पर प्रार्थना मे आत्म-समर्पण की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। प्रार्थना करने वाला अपनी व्यक्तिगत सत्ता को भूल जाता है। वह परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य-सा स्थापित कर लेता है। वस्तुत आत्मोत्सर्ग के बिना सच्ची प्रार्थना नहीं हो सकती। इसलिए भक्तजन कहते हैं—

तन धन प्राण समर्पी प्रभु ने इन पर वेगि रिझास्या राज।

अर्थात्—परमात्मा की प्रार्थना करने मे तन, धन और प्राण भी अर्पण कर दूंगा।

यदि तुम्हारे चर्म-चक्षु ईश्वर का साक्षात्कार करने मे समर्थ नहीं हैं तो इससे क्या हुआ? चर्म-चक्षु के अतिरिक्त हृदय-चक्षु भी है और उस चक्षु पर विश्वास भी किया जा सकता है। परमात्मा की प्रार्थना के विषय मे ज्ञानी जन यही कहते हैं कि तुम चर्म-चक्षुओं पर ही निर्भर न रहो। हमारी बात मानो। बचपन मे जब तुमने बहुत-सी वस्तुएँ नहीं देखी होतीं तब माता के कथन पर तुम भरोसा रखते हो। क्या उससे तुम्हे कभी हानि हुई है? बचपन में तुम साप को भी साप नहीं समझते थे। मगर माता पर विश्वास रखकर ही तुम साप को सांप समझ सके हो और सांप के दश से अपनी रक्षा कर सके हो। फिर उन ज्ञानियो पर, जिनके हृदय मे माता के समान करुणा और वात्सल्य का अविरल स्रोत प्रवाहित होता रहता है, श्रद्धा रखने से तुम्हे हानि कैसे हो सकती है? उन पर विश्वास रखने से तुम्हे हानि कदापि न होगी, प्रत्युत लाभ ही होगा। अतएव जब ज्ञानी जन कहते हैं कि परमात्मा है और उसकी प्रार्थना—स्तुति करने से शान्तिलाभ होता है तो

उनके इस कथन पर विश्वास रखो। स्मरण रखना, इस प्रकार के विश्वास से तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा।

विषय-वासना होने पर भक्ति नहीं रह सकती। परमात्मा की भक्ति और विषय-वासना एक साथ कैसे निभ सकती है?

परमात्मा का सच्चा भक्त वही है जिसने विषय-वासना का निरोध कर दिया है। परमात्मा की भक्ति की अभिलाषा रखने वाले के लिए ऐसे व्यक्ति का संसर्ग भी त्याज्य है, जो विषय-वासना को प्रधानता देता है।

जो योगी या परमयोगी कहलाने वाला पुरुष ध्यान-मौन में परायण होकर आत्मा-परमात्मा का ध्यान नहीं करता, वह संसार में भार-रूप है। संसार के जीवों में साम्य भाव हुए बिना कोई योगी नहीं कहला सकता। वही सच्चा योगी है जो प्राणी-मात्र को अपने समान समझता है, उन्हें आत्मौपम्य-बुद्धि से देखता है। जैसा मैं हूँ वैसे ही और भी प्राणी हैं, इस प्रकार का अनुभव करके जो दूसरे के सुख-दु:ख को अपने ही समान समझता है और सबके प्रति समभाव-पूर्वक व्यवहार करता है, अर्थात् जिस बात से मुझे दुःख होता है, उससे अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है, दुःख जैसे मुझे अप्रिय है वैसे ही औरों को भी अप्रिय है, जैसे मुझे सुख की अभिलाषा है, उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख के ही अभिलाषी हैं, इस प्रकार आत्मौपम्य-बुद्धि से समस्त प्राणियों को देखने वाला और ऐसा ही व्यवहार करने वाला सच्चा योगी है।

यह कथन जैन-दर्शन का ही नहीं है किन्तु अन्य दार्शनिकों का भी यही कथन है। गीता में कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि या दु खं, स योगी परमो मत ॥
अध्याय ६, ३२

समभाव वाले और विषम भाव वाले पुरुष के कार्यों में कितना अन्तर रहता है, यह बात ससार में सर्वत्र ही देखी जा सकती है। सम्यक्-दृष्टि जीव भी खाना पीना, विवाह आदि कार्य करता है और मिथ्यादृष्टि भी यह सब करता है। लेकिन दोनो के कार्यों की भाव-भूमिका मे महान् अन्तर होता है। समभाव से अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। उसका आस्वाद वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह सिर्फ अनुभव की वस्तु है और अनुभव करने वाले ही उसे पहचानते हैं। जिसके हृदय में समभाव जागृत हो जाता है उसे किसी प्रकार की हानि नहीं उठानी पड़ती।

मित्रो ! ईश्वर की प्रार्थना से समभाव पैदा होता है और समभाव ही मोक्ष का द्वार है। ऐसा समझकर अगर आप अपने अन्तःकरण में समभाव धारण करेंगे तो आपका परम कल्याण होगा।

जगत् मे आशाएँ इतनी अधिक है कि उनका अन्त नहीं आ सकता। शास्त्र मे कहा है—

इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।

अर्थात्—आशा-तृष्णा आकाश के समान अनन्त है। तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है। ऐसी स्थिति में तृष्णा की पूर्ति के लिए उद्योग करना आकाश को नापने के समान निष्फल चेष्टा है। ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष आशाओं की पूर्ति करने के लिए पर-

मात्मा की प्रार्थना नहीं करते, वरन् आशा का नाश करने के लिए नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं।

इसी भाव से परमात्मा की प्रार्थना करना उचित है। अगर तुम आशा को नाश करने के बदले सांसारिक पदार्थों—धन, पुत्र, स्त्री आदि के लिए प्रार्थना करोगे तो संसार के पदार्थ तुम्हें लात मार कर चलते बनेंगे और तुम्हारी आशाएँ ज्यों की त्यों अधूरी ही रह जाएँगी। हाँ, अगर तुम आशा-तृष्णा को नष्ट करने के लिए—अन्तःकरण में पूर्ण निस्पृह वृत्ति जागृत करने के लिए ईश-प्रार्थना करोगे तो संसार के पदार्थ—जिसके तुम अधिकारी हो—तुम्हें मिलेंगे ही, साथ ही शांति का परम सुख भी प्राप्त होगा। अतएव आशा को नष्ट करने की एकमात्र आशा से परमात्मा की प्रार्थना करो।

यह मत सोचो—ईश्वर तो कभी दिखता नहीं है, उससे प्रेम किस प्रकार किया जाय? अगर ईश्वर नहीं दिखता तो संसार के प्राणी, कीड़ी से लगाकर कुञ्जर तक, समान हैं। इस तत्त्व पर विचार करोगे तो ईश्वर से प्रेम करने की बात असंभव न लगेगी। ईश्वर नहीं दिखता तो न सही, संसार के प्राणियों की ओर देखो और उन्हें आत्म-तुल्य समझो। सोचो—जैसा मैं हूँ, वैसे ही यह है। इस प्रकार इतर प्राणियों को अपने समान समझने से शनैः शनैः ईश्वर का साक्षात्कार होगा—परमात्मतत्त्व की उपलब्धि होगी—आत्मा स्वयं उस शुद्ध स्थिति पर पहुँच जायगा।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर का ध्यान करने से आत्मा स्वयं ईश्वर बन जाता है। पर जब तक ईश्वरत्व की अनुभूति नहीं होती तब तक प्राणियों को ही ईश्वर के स्थान पर आरोपित कर लो।

संसार के प्राणियों को आत्मा के समान समझने से दृष्टि ऐसी निर्मल बन जायगी कि ईश्वर को भी देखने लगोगे और अन्त में स्वयं ईश्वर बन जाओगे।

जगत् के इस विषमय वातावरण में यह उदार भावना किस प्रकार आ सकती है ? किस उपाय से भूतल के एक कोने में रहने वाला मनुष्य, दूसरे कोने के निवासी प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझ सकता है ?

इस प्रश्न का मेरे पास एक—केवल एक ही उत्तर है। वह यह है कि त्रिलोकीनाथ की विजय की भावना में ही विश्व-शांति की भावना निहित है। इस प्रकार की व्यापक भावना त्रिलोकीनाथ की विजय चाहने से ही हो सकती है। त्रिलोकीनाथ परमात्मा की विजय चाहने से अन्तःकरण में एक प्रकार की विशालता-समभावना आती है। ऐसा चाहने वाला व्यक्ति सोचता है कि मेरा स्वामी त्रिलोकीनाथ है। संसार के समस्त प्राणी उसकी प्रजा हैं। जब मैं त्रिलोकीनाथ की विजय चाहता हूँ तो उसकी प्रजा में से किसकी पराजय, किसका बुरा सोचूँ ? मैं जब त्रिलोकीनाथ की विजय चाहता हूँ तो उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी समस्त प्रजा का भला चाहूँ। परमात्मा की विजय चाहने से इस प्रकार के विचार अन्तःकरण में उत्पन्न होते हैं और इन उदार विचारों से राग-द्वेष का भाव क्षीण हो जाता है। जितने अंशों में विचारों की उदारता होगी उतने ही अंशों में राग-द्वेष की क्षीणता होगी और जितने अंशों में राग-द्वेष की क्षीणता होगी उतने अंशों में निराकुलता-शांति प्राप्त होगी। इस प्रकार विश्वशांति का मूल मन्त्र है—परमात्मा की विजय की कामना करते रहना।

इस विसंय कामना की एक विशेषता यह भी है कि इसकी आराधना से सामूहिक जीवन के साथ ही साथ वैयक्तिक जीवन का भी विकास होता है। इस से सिर्फ राष्ट्र या राष्ट्र-समूह ही लाभ नहीं उठा सकते वरन् व्यक्ति भी अपना जीवन उदार सम-भावपूर्ण और शान्त बना सकते हैं।

प्रथम तो परमात्मा के भजन करने का अवसर मिलना ही अत्यन्त कठिन है, तिस पर अनेक प्रकार की बाधाएँ सदैव ताकती रहती हैं और मौका मिलते ही उस अवसर को व्यर्थ बना डालती हैं। इस प्रकार मानव जीवन की यह घड़ियाँ अनमोल हैं। यह घड़ियाँ परिमित है। संसार में कोई सदा जीवित नहीं रहा और न रहेगा ही। अतएव प्राप्त सुअवसर से लाभ उठा लेना प्रत्येक बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है। अतएव परम भाव से परमात्मा का-स्मरण करो।

यह श्वासोच्छ्वास, जो चलता रहता है, समझो कि मेरा नहीं किन्तु परमात्मा का ही चलता है। इसे खाली मत जाने दो। प्रत्येक श्वास और उच्छ्वास में परमात्मा का स्मरण चलता रहने दो। इसके लिए सतत जागृत भाव की आवश्यकता है— चिर अभ्यास की अपेक्षा है। अगर शीघ्र ऐसा न हो सके, तो भी आदर्श यही अपने सामने रखो। आदर्श सामने रहेगा तो उसी ओर गति होगी, भले ही वह मन्द हो।

जिस प्रकार सूर्य के सामने अंधकार नहीं रहता, इसी प्रकार परमात्मा से साक्षात्कार होने पर आत्मा में कोई भूल शेष नहीं रहती। किन्तु आपको और हमको अभी तक परमात्मा से साक्षात्कार नहीं हुआ है। हम लोग अभी इस पथ के पथिक हैं।

इसीलिए प्रार्थना करके हमे परमात्मा से साक्षात्कार करने का मार्ग तय करना है। प्रार्थना में अपने दुर्गुणों को छिपाना नहीं चाहिए किन्तु प्रकट करना चाहिए। ऐसा करने से आत्मा एक दिन परमात्मा से साक्षात्कार करने मे समर्थ हो सकेगा।

हे भाइयो ! मेरा कहना मानते होओ तो मैं कहता हूँ कि दूसरे सब काम छोड़कर परमात्मा का भजन करो। इसमे तनिक भी विलम्ब न करो। तुम्हारी इच्छा आत्मकल्याण करने की है और यह अवसर भी अनुकूल मिल गया है। कल्याण के साधन भी उपलब्ध है। फिर विलम्ब किस लिए करते हो ? कौन जानता है यह अनुकूल दशा कब तक रहेगी ?

परमात्मा से भेंट करने का सरल और सुगम मार्ग भजन है। यह मार्ग सभी के लिए उपयोगी है। चाहे कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, पुरुष हो या स्त्री हो, नीच हो या उच्च हो, धनवान् हो या निर्धन हो, भजन का मार्ग सब के लिए खुला है। इस मार्ग में यह सब ऊपरी भेद मिट जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा का भजन क्या है ? परमात्मा का नाम लेना ही भजन है या कुछ और ? इसका उत्तर यह कि भगवान का नाम लेना ही भजन है अवश्य, लेकिन भजन का खास अर्थ ईश्वरीय तत्त्व की उपासना करना है।

जीवन की कला को विकसित करने के लिए ईश्वर की प्रार्थना एक सफल साधन है। अगर आठ पहर—दिनरात ईश्वर की प्रार्थना हृदय में चलती रहे तो संसार दुःखप्रद नहीं हो सकता। यही नहीं, संसार के दुःख आत्म-जागृति के निमित्त बनकर

कहेंगे—आत्मन्, तू अपने घर में क्यों नहीं जाता? इस झंझट में काहे को पड़ा है? प्रार्थना करने वाले को संसार के दुःख किस प्रकार जागृत कर देते हैं, यह बात प्रार्थना करने वाला ही जानता है। जो मनुष्य संसार के प्रपंचों में ही रचापचा है, उसे यह तथ्य मालूम नहीं हो सकता।

प्रार्थना का विषय आध्यात्मिक है। इस आध्यात्मिक विचार के सामने तर्क वितर्क का कोई मूल्य नहीं है। यह विश्वास का विषय है। हृदय की वस्तु का मस्तिष्क द्वारा निरीक्षण-परीक्षण नहीं किया जा सकता।

जिस समय आम के वृक्ष में मंजरियाँ लगती हैं और उनकी सुगन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर उन पर मँडराते हैं, तब कोयल चुप रह सकेगी? कोयल किसी के कहने से नहीं गाती। आम में मंजरी आने से उस पर जो मतवालापन सवार हो जाता है, उस मतवालेपन में वह बोले बिना नहीं रह सकती।

एक कवि कहता है—जिसके हृदय में भक्ति हो वही भक्ति की शक्ति को जान सकता है। केतकी और केवड़ा के फूलने पर भौंरे को गुँजार करने से कभी रोका जा सकता है?

भ्रमर हमारे आपके लिए गुँजार नहीं करता। केतकी और केवड़ा के फूलने से उस में एक प्रकार की मस्ती आ जाती है। उस मस्ती की अवस्था में गुँजार किये बिना वह अपने चित्त को शान्त कैसे रख सकता है? इसी प्रकार वसन्त ऋतु आने पर, जब आम फूलों से सुसज्जित हो जाता है, तब कोयल से चुप नहीं रहा जा सकता। मेघ की गम्भीर गर्जना होने पर मयूर बिना बोले कैसे रह सकता है?

पवन के चलने पर ध्वजा हिले बिना रह सकती है ? इसी प्रकार कवि कहता है—किन्तु मुझ से अगर कोई कहे कि तुम बोलो मत—चुप रहो, तो मेरे अन्तःकरण में भक्ति का जो उद्रेक हो रहा है, उस उद्रेक के कारण बिना बोले मुझ से कैसे रहा जा सकता है ?

वसन्त ऋतु के आने पर भी अगर कोयल नहीं बोलती तो उसमें और कौवी मे क्या अन्तर है ? केतकी के फूलने पर भी भ्रमर मतवाला होकर गुंजार नहीं करता तो भ्रमर में और दुर्गन्ध पर जाने वाली मक्खी में अन्तर ही क्या रहेगा ? कोयल वसन्त के आने पर और भ्रमर केतकी के कुसुमित होने पर भी न बोले—अगर उन्होंने वह अवसर गँवा दिया तो फिर कौनसा अवसर उन्हें मिलेगा, जब वे अपने कोयल और भ्रमर होने का परिचय देंगे ? अतएव कोयल और भ्रमर में जब तक चैतन्य है, जब तक जीवन है, तब तक वे अवसर आने पर बोले बिना नहीं रहेंगे। इसी प्रकार अगर मयूर मे जीवन है, तो मेघ की गर्जना सुनकर उससे चुपचाप बैठा न रहा जायगा। अगर वह चुपचाप रहता है तो उसमें और गीध में क्या अन्तर है ? मेघ की गर्जना सुनते ही मयूर के उर में जो प्रेम उमड़ता है वह गीध के हृदय में नहीं उमड़ता।

तात्पर्य यह है कि वसन्त आदि अवसरों पर कोयल आदि के बोलने मे निसर्ग की प्रेरणा है। निसर्ग की यह प्रेरणा इतनी बलवती होती है कि उसके आगे किसी की नहीं चलती। इसी प्रकार भक्त के अन्तःकरण में भक्ति की आंतरिक प्रेरणा उत्पन्न होती है। उससे प्रेरित होकर भक्त मौन नहीं रह सकता।

जीवन का प्रत्येक क्षण—चौवीसों घण्टे प्रार्थना करते-करते ही व्यतीत होने चाहिए। एक श्वास भी बिना प्रार्थना का—खाली नहीं जाना चाहिए। प्रार्थना में जिनका अखण्ड ध्यान वर्त्तता है उन्हे वारम्बार श्रद्धापूर्वक नमन है। हम लोगों मे जब तक जीवन है, जब तक जीवन में उत्साह है, जब तक शक्ति है, यही भावना विद्यमान रहनी चाहिए कि हमारा अधिक से अधिक समय प्रार्थना करते-करते ही बीते।

जब तक अहंकार है, अभिमान है, तब तक भक्ति नही हो सकती। अहकार की छाया में प्रेम का अंकुर नहीं उगता। अहंकार में अपने प्रति घना आकर्षण है, आग्रह है और प्रेम में घना उत्सर्ग चाहिए। दोनों भाव परस्पर विरोधी हैं,। एक में मनुष्य अपने आपको पकड़ कर बैठता है। अपना आपा खोना नहीं चाहता और दूसरे में आपा खोना पड़ता है। इस स्थिति में अहकार और प्रेम या भक्ति दोनों एक जगह कैसे रहेंगे।

काच पर प्रतिविम्ब पड़े विना नहीं रहता, इसी प्रकार भावप्रार्थना करने वाले प्रार्थी के निर्मल हृदय पर परमात्मा का प्रतिविम्ब पडे विना नहीं रहता। जब स्वच्छ काच पर, देखने वाले का प्रतिविम्ब पड़ता है तब हृदय निर्मल होने पर चिदानन्द परमात्मा का प्रकाश हृदय पर क्यों नही पड़ेगा? परमात्मा के प्रकाश को अन्त.करण में प्रतिविम्बित करना ही प्रार्थना का साध्य है। इस साध्य के लिए आवश्यक, बल्कि अनिवार्य है—हृदय की निर्मलता। हृदय निर्मल न होगा तो प्रार्थना अपना साध्य कैसे साधन कर सकेगी?

प्रार्थना, जीवन और प्राण का आधार है। प्रार्थना ही वह अनुपम साधन है, जिसके द्वारा प्राणी आनन्दधाम मे स्वच्छन्द

विचरण कर सकता है। जो प्रार्थना प्राणरूप बन जाती है, वह भले ही सीधी-सादी भाषा में कही गई हो, ग्राम्य भाषा द्वारा की जाती हो या प्राकृत-संस्कृत भाषा द्वारा की जाती हो, प्रार्थना करने वाले को चाहे संगीत से परिचय हो या न हो, उसके स्वर में लालित्य हो अथवा न हो, वह प्रार्थना सदा कल्याणकारिणी होगी।

प्रार्थना का सम्बन्ध भाषा से या जिह्वा से नहीं है। जिह्वा-स्पर्शी भाषा तो शुक भी बोल लेता है। मगर वह भाषा केवल प्रदर्शन की वस्तु है। निर्मल अन्तःकरण में भगवान् के प्रति उत्कृष्ट प्रीतिभावना जब प्रबल हो उठती है, तब स्वयंमेव जिह्वा स्तवन की भाषा का उच्चारण करने लगती है। स्तवन के उस उच्चारण में हृदय का रस मिला होता है। ऐसा स्तवन ही फलदायी होता है। प्रार्थना के विषय में जो प्रवचन किया जाता है उसका एक मात्र प्रयोजन भी यही है कि सर्वसाधारण के हृदय में प्रार्थना के प्रति प्रीति का भाव उत्पन्न हो जाय—प्रार्थना में अन्तःकरण का रस मिल जाय।

आत्मा के आवरणों का क्षय करके ईश्वर बनने का यह सीधा रास्ता है। परमात्मा से साक्षात्कार करने के अनेक उपाय बताये हैं, लेकिन सब से सरल मार्ग यही है कि आत्मा में परमात्मा के प्रति परिपूर्ण प्रेम जागृत हो जाय। यह प्रेम ऐसा होना चाहिये कि किसी भी परिस्थिति में ईश्वर का ध्यान खण्डित न होने पावे।

आत्मकल्याण के लिए गहन तत्त्वों का विचार भले ही किया जाय, पर ऐसा करना सब के लिए संभव नहीं है। तो क्या आत्मकल्याण का रास्ता सर्वसाधारण के लिये खुला नहीं

है ? अवश्य खुला है। सर्वसाधारण के लिए आत्मकल्याण का सरल मार्ग परमात्मा की प्रार्थना करना है। प्रार्थना की इस महिमा से आकृष्ट होकर, अनेक वर्षों से मुझे प्रार्थना करने की लगन लगी है। परमात्मा की प्रार्थना में मुझे अपूर्व आनन्द और अखण्ड शांति का शीतल एवं पवित्र झरना बहता जान पड़ता है।

परमात्मा के नाम का स्मरण पाप के फल से बचने के लिए करना चाहिए या पाप से बचने के लिए अथवा फल भोगने में धैर्य-प्राप्ति के लिए ?

'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।' कृत कर्मों से, उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। अतएव फल से बचने की कामना करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त कर्म करके उसके फल से बचने की कामना करना एक प्रकार की दीनता और कायरता है। अतएव नवीन कर्मों से बचने के लिए और पूर्वकृत कर्मों का समभाव के साथ फल भोगने की क्षमता प्राप्त करने के लिए ही भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

वास्तव में जो जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं, वह परमात्मा के नाम का आश्रय लेकर दुःख से बचने की इच्छा नहीं करते किन्तु यह चाहते हैं—कि हे प्रभो! हम अपने पाप का फल भोगते समय व्याकुल न हों, हमें घबराहट न हो और धैर्य के साथ पाप का फल भोगें।

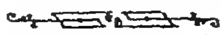
इस प्रकार कष्टों को सहन करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए परमात्मा का नाम स्मरण करोगे तो पाप का फल भोगने के पश्चात् पापमुक्त बन सकोगे और आत्मकल्याण साध सकोगे।

परमात्मा पर प्रतीति लाओ। भगवान् की भक्ति में प्रेम रक्खो और उनकी प्रार्थना करके उन्हे अपने हृदय में स्थापित करो। अगर तुमने मेरी इस बात पर ध्यान दिया, अगर तुमने अपना हृदय भगवान् का मंदिर बना लिया, तो शीघ्र ही एक दिव्य ज्योति तुम्हारे अन्तःकरण में उद्भूत होगी। उस ज्योति के सामने मैं तुच्छ हूँ। यही नहीं, वरन् मै भी उसी ज्योति का उपासक हूँ। तुम भी उसी ज्योति की उपासना करो।

एक लक्ष्य पर पहुँचने के साधन या मार्ग अनेक होते हैं, पर सर्वसाधारण के लिए जो मार्ग अधिक सुविधाजनक हो वही उत्तम मार्ग है। आत्मशोधन के संबध में भी यही बात है। आत्मशोधन के अनेक मार्गों में से भक्तिमार्ग पर प्रत्येक व्यक्ति चल सकता है। इस मार्ग पर जाने में क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या अशक्त, क्या स्त्री, क्या पुरुष, किसी को कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रत्येक प्राणी भक्ति के मार्ग पर चल सकता है और आत्म कल्याण की प्राप्ति कर सकता है।



१ ऋषभदेव-स्तवन



श्री आदीश्वर स्वामी हो,
प्रणमूँ सिर नामी तुम भणी, प्रभु अन्तरयामी आप,
मो पर मेहर करीजे हो,
मेटीजे चिन्ता मन तणी, मारा काटो पुराकृत पाप ।।श्री०।।
आदि धरम की कीधी हो,
भरत क्षेत्र सर्पिणी काल में, प्रभु जुगल्या धर्म निवार,
पहला नरवर मुनिवर हो,
तीर्थङ्कर जिन हुआ केवली, प्रभु तीरथ थाप्यां चार ।।श्री०।।
मा मरुदेवी देव्या थारी हो,
गज होदे मोक्ष पधारिया, तुम जन्म्यां हि प्रमाण,
पिता नाभि महाराजा हो,
भव देव तणो करी नर थया, पछे पाम्या पद निरवाण ।।श्री०।।
भरतादिक सौ नन्दन हो,
वे पुत्री ब्राह्मी सुन्दरी, प्रभु ए थारां अङ्गजात,
सघलाई केवल पाम्या हो,
समाया अविचल जोत में, प्रभु त्रिभुवन में विख्यात ।।श्री०।।
इत्यादिक बहु तार्या हो,
जिण कुल मे प्रभु तुम ऊपन्या, कोई आगम में अधिकार ।।श्री०।।
अवर असंख्य तार्या हो,
उधार्या सेवक आपरा, प्रभु सरणा आधार ।।श्री०।।

१-ऋषभदेव



भगवान ऋषभदेव को हम क्यों नमस्कार करते है ? जो असंख्य काल पहले हुए है, जिन्हे हमने और हमारी सात क्या, सात सौ पीढियों ने भी देखा नहीं है, जिनका समय इतिहास मे भी अतीत है, जिनका परिचय सिर्फ शास्त्रो मे ही पाया जाता है, उन भगवान ऋषभदेव को नमस्कार करने का प्रयोजन क्या है ? उन प्रभु का नाम सुनते ही हृदय मे उल्लास और भक्तिभाव क्यों उत्पन्न हो जाता है ?

इन प्रश्नों का उत्तर यही दिया जा सकता है कि भगवान् के प्रति हमारे हृदय में अलौकिक प्रीति का भाव विद्यमान है। और यह अलौकिक प्रीति भी निष्कारण नहीं है। भगवान् ने जगत् को शाश्वत कल्याण का मार्ग बतलाया है। उनका संसार के ऊपर असीम उपकार है। उपकारी के उपकार को कोई सज्जन पुरुष भूल नहीं सकता। जो मनुष्य उपकार को उपकार न माने, वह पशु से भी गया बीता है।

प्यासे आदमी को गङ्गा का शीतल जल मिल जाय तो उसे कितना आनन्द और कैसा संतोष होता है ? मगर उसे यह भी समझना चाहिए कि गङ्गा यहीं नहीं पैदा हो गई है, बल्कि आगे से आई है। अगर हिमालय से गङ्गा का आगमन न हुआ होता तो उसे शीतल जल कैसे मिलता ? अतएव गङ्गा के उत्पत्ति-स्थान हिमालय आदि का भी उपकार माना जाता है। ऐसा मानना व्यवहार के अनुकूल है।

ठीक इसी तरह, संसार के व्याकुल बना देने वाले संतापों से संतप्त प्राणियो को अपूर्व शान्ति प्रदान करने वाली धर्मरूपी गङ्गा प्राप्त हुई है। इस अवसर्पिणी काल में इस धर्म-गङ्गा की अर्थात् परमात्मा की वाणी की उत्पत्ति कहाँ से है? कहना होगा-

श्री आदीश्वर स्वामी हो, प्रणमूं।

भगवान् ऋषभदेव ने इस जगत् में जन्म लेकर धर्मरूपी वाणीगङ्गा का शीतल-संतापसंहारक स्रोत वहाया है। ऐसी स्थिति में भगवान् ऋषभदेव का असीम उपकार मानना चाहिए या नहीं? कदाचित् कहा जाय कि धर्म के विषय में भगवान् ऋषभदेव का उपकार है, तो क्या जो बातें धर्म से पृथक् समझी जाती हैं, उनके विषय मे ऋषभदेव भगवान् का उपकार मानने की जरूरत नहीं है?

आप आज जिस विवाह के अवसर पर हर्ष मनाते है और उत्साह दिखलाते हैं, उसे चलाने वाला कौन है? जिस व्यापार से पैसा पैदा करके आप शक्ति और सुख के साथ जीवन बिता रहे हैं, उसकी सर्वप्रथम शिक्षा देने वाला कौन है? जिस राज्य-शासन के बिना एक घड़ी भी ससार में शान्ति नहीं रह सकती, जिसके अभाव में शान्तिपूर्वक धर्म की आराधना भी नहीं हो सकती, उस राज्यशासन को आरम्भ करने वाला कौन है?

'ऋषभदेव भगवान्!'

असल मे बात यह है कि जिन कार्यों को हम व्यावहारिक अथवा सांसारिक कहते हैं और जिनका धर्म के साथ कतई सबंध नहीं समझते, उनमे भी अनेक कार्य ऐसे है जो परोक्ष रूप से धर्म में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए विवाह-संस्कार को ही

लीजिए। विवाह सांसारिक कृत्य है। यह सत्य होने पर भी क्या यह सत्य नहीं है कि विवाह ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करने में सहायक है? अगर विवाहप्रथा न रहे तो मनुष्य, पशुओं से भी बुरी हालत में पहुँच जाय और धर्म-कर्म मिट्टी में मिल जाएँ। राजशासन के संबंध में भी यही बात है। राजशासन के विना लूटपाट, चोरी-डकैती, व्यभिचार, खूनखराबी आदि के फैलाव को कौन रोक सकता है? इन सब अनाचारों को रोकने के लिए शासन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। इसीलिए राजशासन भी धर्मशासन का सहायक है।

नीति के विना धर्म नहीं टिक सकता। भगवान् ऋषभ-देव विशिष्ट ज्ञान के धारक थे। उन्होंने इस तथ्य को भलीभांति समझ लिया था। अतएव उन्होंने नीति और धर्म-दोनों की ही शिक्षा दी।

भगवान् ऋषभदेव के उपकार को न मानने या भूल जाने के कारण ही आज जगत् की दुर्दशा हो रही है। अगर उनका उपकार मानकर उन्हें याद किया जाय तो मनुष्य, पशु बनने से रुक सकता है। मगर आज दुनिया उनके उपकार को, उनके आदर्शों को, उनके उपदेशों को भूल रही है। आज उनकी बताई हुई नीति का ह्रास हो रहा है। व्यवहार, खान-पान, विवाह-शादी आदि के अवसर पर उस नीति को याद करते हो?

भगवान् ऋषभदेव ने दश प्रकार का धर्म बतलाया है। उन्होंने एकदम से मोक्षमार्ग की स्थापना नहीं की, बल्कि पहले संसार-नीति की स्थापना की है। यह बात जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र से भलीभांति प्रगट होती है।

उस समय संसार में बड़ी ही विकट घटना घटी थी। कल्पवृक्षों ने सहायता देना बन्द कर दिया था। और उस समय के लोगों को पता नहीं था कि अन्न कहाँ से लाएँ और प्राण कैसे बचाएँ? उस समय की इस भयानक मुसीबत की कल्पना करना भी कठिन है। ऐसे घोर संकट के समय भगवान् ऋषभदेव सहायक न होते तो कौन जाने क्या स्थिति होती? मनुष्य, मनुष्य को खाने लग जाता और न मालूम क्या क्या कुकर्म होने लगते? मगर जिस समय संसार घोर कष्ट मे पड जाता है, उस समय महापुरुष उसका त्राण करता है। कष्ट-सागर में पड़ी हुई नौका को वह पार लगा देता है।

उस समय की परिस्थिति बड़ी ही भीषण थी। देश में त्राहि-त्राहि मची थी। आपत्ति मे कौन किसका सहायक होता है? विपदा के समय अपना शरीर भी वैरी बन जाता है। इस कथन के अनुसार उस समय कोई किसी का सहायक नहीं था। उस समय की प्रजा का निर्वाह कल्पवृक्षों से होता था। मगर अब उन्होंने अन्न-वस्त्र देना बन्द कर दिया था। स्त्रियाँ मर्यादा भङ्ग करने लगीं। किसी का किसी पर अनुराग नहीं रहा। ऐसी विकट परिस्थिति मे, जब जीवन के लिए सब से बड़ा संकट उपस्थित था, भगवान् ऋषभदेव ने आगे आकर सब को शान्ति प्रदान की। उन्होंने लोगो को बतलाया कि कल्पवृक्ष की राह मत देखो। भीख मागना दीनता है। अब कर्मयुग का आरम्भ हुआ है। पुरुषार्थ करके जीविका उपार्जन करो, यही तुम्हारे लिए हितकर और सुखकर है।

तुलसी कर पर कर करो, कर तल कर न करो।
जा दिन कर तल कर करो, वा दिन मरण करो॥

तात्पर्य यह है कि दान देना तो अच्छा है, मगर दीनता-पूर्वक दान लेने की अपेक्षा मर जाना श्रेयस्कर है, ऐसा तुलसी-दासजी का कथन है।

मांगना और मरना बराबर है। अनुभव करो और अभ्यास करो तो पता चले। भगवान् ऋषभदेवजी ने कहा—इस प्रकार पराये भरोसे रहने और माग कर खाने पहनने से मनुष्यत्व पर नहीं पहुँच सकते। पराधीनता में पड़े रहने से दुःख दूर नहीं हो सकता। मुक्ति का अधिकारी बनने के लिए स्वाधीनता की आवश्यकता है। मैं आप लोगों को भीख माँगना छुड़ाकर दातार बनाता हूँ। आप पृथ्वी को दो तो वह आपको देगी। भीख मांगना भूल जाओ।

अभी तक युगलिया कल्पवृक्ष से लेकर कल्पवृक्ष को बदले में क्या देते थे?

'कुछ भी नहीं!'

बिना उद्योग किए, पराया दिया खाते थे। तब उनमें बड़ी बात कहाँ से आती? पर भगवान् ऋषभदेव ने उन्हें उद्योग करने की शिक्षा दी। गीता में जो कर्मयोग बतलाया गया है, उसका तत्त्व ऋषभदेव से आरम्भ होता है।

ऋषभदेव ने लोगों को बतलाया कि तुम अब तक कल्प-वृक्ष के भरोसे थे, किन्तु उद्योग करने से कल्पवृक्ष तुम्हारे हाथ में ही आ जायगा। मनुष्य अपने हाथ से उत्तम भोजन बना सकता है या नहीं? भगवान ऋषभदेव ने लोगों को कृषि करना सिखला कर कहा कि तुम स्वयं अपने हाथों से अच्छा-अच्छा भोजन बनाकर खा सकते हो।

आप लोग आज अच्छे-अच्छे भोजन किसके दिये खाते हैं? सेठानी के दिये या नौकर के दिये? नहीं! अगर परम्परा को समझो तो यह ऋषभदेव का दिया भोजन है। उन्होंने ही इसका उत्पन्न करना और बनाना सिखलाया है। लेकिन भगवान् ने भोजन की यह क्रिया जीवन कायम रखने के लिए बतलाई है। आपका बड़प्पन इसी में है कि केवल जीवन के लिए अन्न समझो। जीवन के लिए भोजन कर सकते हो, पर भोजन के लिए जीवन मत समझो।

संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं। दोनों में ज़मीन-आसमान सरीखा अन्तर है। एक प्रकार के मनुष्य जीने के वास्ते खाते हैं। उन्हें जीने का अधिकार है। अन्न सब प्राणी खाते हैं। यह जीवन अन्नमय है। साधुओं को भी अन्न खाना ही पड़ता है। खाये बिना जीवन नहीं रह सकता। दूसरे प्रकार के मनुष्य खाने के लिए जीते हैं। जो खाने के लिए जीता है वह हीनता को पकड़े बिना नहीं रहेगा। संसार में जो जीने के लिए खाता है, वह अपने शरीर की रक्षा करता है और जो खाने के लिए जीता है, वह शरीर और परलोक दोनों को बिगाड़ता है।

आज आपमें खाने पीने, कृषि और व्यापार आदि की स्वतन्त्रता है, वह ऋषभदेवजी की बतलाई हुई है। उन्होंने ऐसी स्वतन्त्रता बतलाई है जो मुक्ति प्राप्त करने के लिए समर्थ बना देती है। इस कर्मभूमि का परिपूर्ण आरम्भ भगवान् ऋषभदेव से ही हुआ है।

जिन ऋषभदेव ने संसार का इतना महान उपकार किया उनके लिए अब कुछ लोग कहते हैं कि ऋषभदेव ने बड़ा पाप

किया ! जगत् को पापमय देखने वाले यह एकान्त पापवादी लोग जगत् के सारे पाप उन पर ही डाल देते हैं । कहते हैं—व्यापार और खेती करना, विवाह-शादी करना, मकान बनवाना आदि सभी पाप के काम ऋषभदेवजी ने ही बतलाये है, अतः इन सब पापों के भागी वही हैं। उनका कहना है कि इन सब पापों के फलस्वरूप उन्हें बारह महीनो तक आहार नहीं मिला और एक हजार वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी।

मित्रो ! यह चर्चा गूढ है। भगवान ऋषभदेवजी को बहुत कष्ट सहना पड़ा, यह सही नहीं है। छह महीने तक तो उन्होंने भोजन ही नहीं करना चाहा था और छह महीनें तक विधिपूर्वक भोजन न मिलने के कारण वह निराहार रहे। उन्होंने ससार को पूर्वोक्त कार्य सिखलाये, इससे यदि पाप हुआ तो पुण्य भी कुछ हुआ या नहीं ? अगर भगवान जीविका का उपाय न समझाते तो न जाने कितना अनर्थ होता ! मनुष्य, मनुष्य को खा जाता और ससार नरक बन जाता। मित्रो ! फिर कोरा पाप ही पाप क्यों गिनते हो और पुण्य की गिनती ही नहीं करते ! खर्च को नामे लिखते हो और जमा को छिपाने की चेष्टा करते हो ? कलकत्ते में आपका मुनीम हो। उसका खर्च तो लिख लो मगर उसने जो कमाई की है, उसे जमा न करो तो क्या हिसाब बराबर कहा जायगा ?

'नहीं।'

लेकिन यह बात जाने दीजिए। जरा इस बात पर विचार तो कीजिये कि भगवान् ऋषभदेव क्या आप लोगों से भी कम ज्ञानी थे ? आपको जिस काम में एकान्त पाप ही पाप नजर आता है, उसमें क्या भगवान् को नजर नहीं आया होगा ? फिर

वे जान बूझकर ऐसा क्यों करते ? भगवान् ऋषभदेव की 'नीयत क्या थी ? बिगाडने की थी या सुधारने की ? बिगाड़ने और सुधारने वाले की नीयत एक-सी है ? भाइयो, नीयत को देखो। प्रत्येक कार्य का फल नीयत पर निर्भर होता है।

कार्य का फल नीयत पर किस प्रकार निर्भर है, इस विषय मे एक उदाहरण प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है—

दो मित्र थे। उनमे से एक ने कहा—फलां जगह की वेश्या बहुत अच्छी है। आज ही महफिल में उसका नाच देखने चलें। बड़ा-मजा आयगा।

दूसरे नें कहा—आज एक महात्मा भी पधारे हैं। उनका धर्मोपदेश सुनने चलना अच्छा है। इससे जीवन की उन्नति होगी और आत्मा का कल्याण होगा।

इस प्रकार दो मित्रों की दो प्रकार की मति हुई। एक वेश्या की महफिल मे जाना चाहता है और दूसरा साधु के व्याख्यान में। इन दोनो की मति पर विचार करके नीयत का प्रभाव देखिए।

दोनों मित्र अपने-अपने अभीष्ट स्थान पर गये। दूसरा मित्र जब साधु के पास गया तो वहाँ वैराग्य की रूखी बातें हो रही थीं। फलां चीज का त्याग करो, इस काम मे पाप है, उस काम मे पाप है, इस प्रकार की बातों के सिवाय वहाँ राग-रङ्ग की बातें कहाँ से होतीं ? उन बातों को सुनकर वह सोचने लगा—कहाँ आकर फँस गये ! यहाँ तो सभी बातें रूखी ही रूखी हैं। मेरा मित्र तकदीर वाला निकला जो महफिल मे बैठा गाना सुन रहा होगा। मैं वृथा यहाँ आ गया। इस प्रकार उसकी भावना में विकार आ गया।

मित्रो ! क्या पलटा ? साधु पलटे या व्याख्यान पलटे ?

'नीयत पलटी ।'

पहला मित्र, जो वेश्या के यहाँ गया था, तरह-तरह के मनुष्यों को आते देख और वेश्या के घृणित और लज्जाजनक हाव-भाव देखकर तथा आने वालों की नीच मनोवृत्ति पर विचार करके पछताने लगा। उसने सोचा-वेश्यावृत्ति कितनी नीच है ! वेश्या ने अपना शरीर पैसो के वास्ते बेच दिया है। इसका यह नाच-गान और हाव-भाव पैसों के लिए ही है ! वास्तव में वेश्या किसी की सगी नहीं—पैसो की है। जैसे मृत कलेवर पर कुत्ते पड़ते है, इसी प्रकार इस पर मूर्ख लोग पड़ते हैं और सभी समझते हैं कि यह मेरी है ! चाहे कोई रोगी हो या कोढ़ी हो, किसी की संगति इसके लिए वर्जनीय नहीं है। यह नारी के रूप में साक्षात् नरक है। मैं इस नरक मे क्यो आ फँसा ? मेरा मित्र भाग्यवान् है जो मुनिराज का व्याख्यान सुनकर अपना जीवन धन्य बना रहा होगा।

अब जरा इसकी नीयत पर विचार कीजिए। ऐसी नीयत रखने वाले को, वेश्या के पास जाने पर भी पाप हुआ या पुण्य ?

'पुण्य ।'

नीयत पलटने से पाप भी पुण्य के रूप में परिणत हो गया। एक साधु के पास जाकर और व्याख्यान सुनकर भी पाप में पड़ा और दूसरा वेश्या के पास जाकर भी पुण्य का भागी ह गया। अतएव यह सचाई कभी नहीं भूलना चाहिए कि पाप और पुण्य हृदय की भावना पर निर्भर है। कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो ।

अर्थात्—बन्धन और मुक्ति का प्रधान कारण मन है।

श्री आचारांग सूत्र में कहा गया है—

"जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा ।"

अर्थात्—नीयत के कारण बन्ध के स्थान भी संवर के स्थान हो जाते हैं और संवर के स्थान भी आस्रव के स्थान हो जाते है।

जो लोग भगवान ऋषभदेव को पाप लगना कहते हैं, वे स्वयं कितने ज्ञानी हैं ? उन्हें कितना ज्ञान है जो भगवान् ऋषभदेव का पाप देखने लगे हैं ? क्या ऋषभदेवजी ने खोटी नीयत से काम किया था ? जरा उस समय की परिस्थिति पर विचार करो। ऋषभदेवजी ने सब को गड़हे में गिरने से बचा लिया—संसार को मुसीबत से छुटकारा दिलाया। तो क्या यह एकान्त पाप हुआ ? जबान मिली है तो जरा सोच-विचार कर बोलना चाहिए, अन्यथा जबान मिलना मुश्किल हो जायगा। भगवान् ऋषभदेव ने अनीति छुड़ाकर लोगों को नीति का मार्ग बतलाया, पाप से बचा कर कल्याण के मार्ग पर लगाया। उन्होंने किसी का अकल्याण नहीं किया और न अकल्याण करने की भावना को ही हृदय में स्थान दिया। फिर उन्हें किस प्रकार एकान्त पाप लगा, यह समझ में नहीं आता। अपनी खोटी जिद पर अड़कर भगवान् को भी पापी बतलाने वालों को क्या कहा जाय !

मित्रो ! अपने मन में विचार करो कि ऋषभदेव अगर विवाह का नियम न बतलाते तो नर और नारियों की हालत

क्या कुत्तों और कुतियों सरीखी न हो जाती ? अगर विवाह करने से ही पाप होता है और विवाह न करने वाला ही धर्मात्मा होता है तो कुत्ता-कुतियों का विवाह कहाँ होता है ? फिर उन्हे धर्मात्मा और ब्रह्मचारी कहना पडेगा ! वह विवाह न करके भी क्या ब्रह्मचर्य पालते हैं ?

'नहीं !'

ऐसी स्थिति मे मनुष्यो का विवाह न होता तो वे पशुओ से भी गये-बीते हो जाते या नही ? ऋषभदेवजी ने नियम बना दिया तो पाप के लिए या पाप से बचने के लिए ? आरम्भ-समारम्भ तो प्रत्येक कार्य में होता है। गाडी मे बैठकर व्याख्यान सुनने जाना पाप है या पुण्य ?

'भाव से पुण्य !'

गाड़ी पर सवार होकर एक आदमी वेश्या के घर जाता है और दूसरा साधु के पास जाता है। दोनों का फल क्या एक-सा है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार ऋषभदेवजी की भावना को देखना चाहिए।

भगवान् के अनन्त नाम और अनन्त गुण हैं। उनका कोई पार नहीं पा सकता। देहधारी की तो बात ही क्या है, देवों का गुरु कहलाने वाला बृहस्पति भी पार नहीं पा सकता। जब बृहस्पति भी पार नहीं पा सकते तो अपन कैसे पार पा सकते हैं ? फिर भी जितनी प्रार्थना हो सकती है या होती है, वह आत्मा के विकास का सहारा है। जिस तरह सूर्य से कमल विकसित और प्रफुल्लित होता है, उसी तरह परमात्मा की प्रार्थना से हृदय-कमल खिल जाता है। आत्मा अपूर्व आनन्द अनुभव करने लगता है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है—

श्री आदीश्वर स्वामी हो, प्रणवों सिर नामी तुम भणी।

यहाँ तक प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के विषय में जैनशास्त्र के अनुसार थोड़ा-सा कथन किया गया है। अब जरा और सामान्य विचार करना आवश्यक है।

भगवान पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ और महावीर के गुणों का अभ्यास सब को होते हुए भी विशेषतः जैन ही उनका नाम लेते हैं, परन्तु ऋषभदेव का नाम ऐसा है, जिससे जैन ही नहीं बल्कि हिन्दूमात्र के हृदय में जागृति होती है।

भगवान् ऋषभदेव ने ही सब से पहले इस अंधकारमय जगत् में प्रकाश किया है। इस भरतक्षेत्र में असत् से सत् की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले जाने वाले भगवान् ऋषभ ही हुए हैं। इसी कारण उनके विषय में, जैन साहित्य में कहा है—

आदि धरमनीकीधी हो, भरतक्षेत्र सर्पिणीकाल में,
प्रभु जुगल्या धर्म निवार।

इस छोटे से पद में हजारों श्लोकों की महिमा भरी है। प्रार्थना ऐसी ही होनी चाहिए। प्रार्थना में विस्तार की नहीं, संग्रह की ही आवश्यकता है।

इस पद में यह बतलाया गया है कि इस भरतक्षेत्र में, मौजूदा अवसर्पिणीकाल में, ऋषभदेव ने धर्म का प्रकाश किया। जुगलियों में स्वाभाविक कर्म नहीं था, इससे धर्म भी नहीं था। यद्यपि बिना कर्म के कोई जी नहीं सकता परन्तु उस समय असि, मषि और कृषि कर्म नहीं था। आज जैसे जंगली जीव वृक्षों के

फल आदि खाते और उन्हीं के नीचे निवास करते हैं, इसी प्रकार युगलिया लोगों की आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों से पूरी होती थीं। इस प्रकार उनमें कर्म (पुरुषार्थ) नहीं था और धर्म भी नहीं था। बिना कर्म के धर्म नहीं और बिना धर्म के मोक्ष नहीं। भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम कर्म सुधारा और फिर धर्म का प्रकाश किया।

नैतिक जीवन के अभाव में धर्म नहीं रह सकता। नैतिक जीवन परतंत्र हुआ और गुलामी में फँसे कि धर्म भी चला जाता है। गुलामों का धर्म गुलामी है। जिस प्रकार गुलामों को इज्जत का खयाल नहीं रहता, उसी प्रकार धर्म का भी खयाल नहीं रहता। भगवान् ऋषभदेव ने जुगलियों को सब से पहले स्वतंत्र बनाकर शिक्षा दी कि कल्पवृक्षों के प्रति भिखारी मत बनो। यह भीख माँगना छोड़े बिना धर्म की पात्रता नहीं प्राप्त हो सकती।

खेद है कि आज बहुत-से हट्टे-कट्टे अनधिकारी व्यक्ति भी भीख माँगते देखे जाते हैं। ऐसे लोग धर्म का क्या पालन करेंगे ! जिन्हें कर्म-अकर्म का भान नहीं है, जिन्हें नैतिक जीवन बिताने की परवाह नहीं है, वे धार्मिक जीवन व्यतीत करना कैसे जान सकेंगे ?

भगवान् ऋषभदेव ने कल्पवृक्षों से भीख माँगना छुडाकर दूसरों से भीख माँगना क्यों नहीं सिखाया ? अगर कल्पवृक्षों ने देना बन्द कर दिया था तो क्या हुआ। भगवान् ऋषभदेव तो समर्थ पुरुष थे। उन्होंने कल्पवृक्षों के समान ही दूसरा कोई प्रबंध क्यों नहीं कर दिया ? इसमें बड़ा गंभीर रहस्य है। बिना गहरा विचार किये उस रहस्य को नहीं समझा जा सकता।

एक आदमी भीख माँगकर अपना जीवन-निर्वाह करता है और दूसरा उद्योग करके—मिहनत-मजूरी करके—खेती नौकरी व्यापार आदि से जीवन व्यतीत करता है। इन दोनों में किसका जीवन अच्छा है?

'उद्योग करने वाले का।'

भीख माँगने वाले की आत्मा इतनी गिरी हुई होगी कि उसमें सत्य नहीं ठहरेगा, जब कि उद्योग करने वाले का जीवन तेजस्वी होगा।

यही विचार करके भगवान् ऋषभदेव ने सबसे पहले युगलियों को स्वतंत्र बनाया। जब वे स्वतंत्र हो गये और उनमें स्वतंत्रता का तेज फूटने लगा, तब भगवान् ने प्रभावशाली धर्म प्रकट कर दिया। वास्तव में स्वतंत्रता के बिना आत्मज्ञान की ज्योति प्रकट नहीं होती। इसलिए भगवान् ने परतंत्रता को धर्म में बाधक जान उसे हटाकर संसार को कल्याण का मार्ग बतलाया।

श्रीमद्भागवत में वेदव्यासजी ने ऋषभदेव भगवान् के विषय में लिखा है:—

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः,
श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाऽभयमात्मलोक—
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥

जिसे वेदव्यासजी नमस्कार करें उसे कौन हिन्दू नमस्कार नहीं करेगा? वेदव्यासजी कहते हैं—मैं उन ऋषभदेव को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने नित्य आत्मानन्द प्राप्त कर लिया है अर्थात्

केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। केवलज्ञान प्राप्त करने मे यह गुण हुआ कि मोह और तृष्णा का विलय हो गया। मोह और तृष्णा को जीतकर भगवान् परमात्मानन्दमय हो गये।

भ० ऋषभदेव स्वयं परमात्मरूप हो गये, यह तो उनका स्वय का ही विकास और हित हुआ। पर हमे यह भी देखना चाहिए कि उनसे संसार का भी कुछ हित हुआ या नहीं ? इसके लिए मैं कई बार कह चुका हूँ कि जो हमको प्रकाश न दे वह सूर्य नहीं, जो प्यास न बुझावे, वह पानी नहीं, अर्थात् उपकार करने के कारण ही इनका महत्त्व है। फिर जिन्हे हम तीर्थङ्कर कहते है, परमात्मा मानते है, वह यदि हमारा कल्याण न करे तो उन्हे हम परमात्मा कैसे मानें ?

ऋषभदेव भगवान् के विषय मे वेदव्यासजी कहते हैं कि उन्होंने संसार पर कृपा करके निजानन्द को प्रकट करने का सतत उपदेश दिया और अपना मोह जीतकर ससार को मोह जीतने का आदर्श ही नहीं समझाया वरन् उपदेश भी दिया। उन्होंने कहा—मत डरो। निर्भय होओ। इस आत्मा में तुमने ही भय उत्पन्न किया है। वास्तव मे आत्मा को कोई भय नहीं है।

लोग डराने से डरते हैं। आजकल मनुष्य साँप, सिंह आदि से भी संभवत उतना न डरते होंगे, जितना मनुष्य से डरते हैं। लोगो ने अपनी भीति को विशाल बना लिया है। जिस भूत को कभी देखा नहीं, अपनी कल्पना से उसका भी निर्णय कर डाला है।

मारवाड़ के भाई-बहिनों को देखो तो उनमे विरले ही मिलेंगे जिनके शरीर पर तावीज, गंडे या डोरे न हो। उनकी समझ

से तावीज आदि के कारण भूत नहीं लगता ! मगर जो भय भूत रूप होकर भीतर घुस गया है, वह इन तावीजों से कैसे निकले ?

भय के भूत से धूर्तों की शक्ति ऐसी बढ़ गई है कि उस शक्ति के आगे अर्थात् धूर्तों द्वारा भ्रम मे डाल देने से परमात्मा की भक्ति का प्रभाव पड़ना मुश्किल हो रहा है। बहिनो को तो अपनी छाया में भी भूत दिखाई देता है। जहाँ चार बहिनें इकट्ठी हुईं, बस यही चर्चा चली ! मतलब यह है कि मनुष्यों ने अपने आपके लिए आप ही भय पैदा कर लिया है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—'जितो भयान् ।' सारांश यह है कि डरो मत। अपनी आत्मा को निर्भय बनाओ। इस तरह भगवान् ने आत्मा को अभय देने का उपदेश दिया है। अन्य ग्रन्थो में भी लिखा है—

'वर्द्धते भीः ।'

तुममें डर बढ़ रहा है। उसे निकाल फैंको और अभय हो जाओ।

आज अनेक भाई और बहिनें अपने बालकों को केवल रोना बंद करने के लिए या अन्य प्रयोजन के लिए डराते हैं। उन्हें मालूम नहीं है कि इस तरह डराने का परिणाम क्या होता है ? अभी से बच्चे डरपोक होते जाते हैं और समझ आने पर पहले के सुने हुए शब्दों के संस्कार अपना काम करते हैं। अर्थात् आगे चलकर बालक खूब डरपोक बन जाता है। मैं पूछता हूँ, आपने कभी अपनी नज़र से भूत देखा है ?

'नहीं !'

नहीं देखा है। फिर भी तुमसे यदि कोई कहे कि सौ रुपये लेकर आधी रात को श्मशान मे चले जाओ तो कितने भाई तैयार होंगे ?

'सौ में से पाँच-चार।'

क्यों ? इसीलिए कि यद्यपि तुमने भूत नहीं देखा है, फिर भी बालकपन का भूत का संस्कार डरा रहा है।

मैं यह नहीं कहता कि भूत या देवता है ही नहीं। परन्तु प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि जो भूत से डरता है वह मरता है और जो नहीं डरता, भूत उसकी सेवा करता है।

जितो भवान्, वर्द्धते भीः।

अर्थात् तुम हार गये, क्योंकि तुम्हारे हृदय में भय का निवास हो गया है।

'मा हन मा हन' का पाठ तुम सुनते हो। इसमें सभी का समावेश हो गया या नहीं ? फिर तुम दूसरों को अभयदान देने को कहते हो, परन्तु अपनी आत्मा को क्यो भयभीत बनाये हो ? पहले अपनी आत्मा को अभयदान दो अर्थात् अपने भीतर भय मत रहने दो।

आज कई-एक साधुओं और सतियो को भी जन्तर-मन्तर पर भरोसा है, परन्तु यह भरोसा आत्मा को गिराने वाला है। जैनसिद्धान्त में भय को कहीं स्थान नहीं दिया गया है।

थोड़ी देर के लिए मान लें कि संसार मे भय का स्थान है, परन्तु कहीं निर्भय-स्थान भी है या नहीं ? यदि है तो निर्भय स्थान को छोडकर भयस्थान में क्यो पड़ते हो ?

आप 'अभयदयाणं' का रोज पाठ करते है परन्तु उस पर विश्वास नहीं है। अभयदान का दाता मिलने पर भी

अभयदान न लेकर भय का ही संग्रह करो, यह कौन-सी बुद्धिमानी है ? आपको विश्वास होना चाहिए कि मैंने परमात्मा को प्राप्त किया है, फिर डर किसका है ? हृदय में ऐसी निर्भीकता आये विना काम नहीं चल सकता।

वेदव्यास कहते हैं—भगवान् ऋषभदेव ने संसार को अभयदान दिया। लोग निर्भय होकर विचरने लगे।

शास्त्र मे कहा है—'असाहिज्जा देवा।'

यह पाठ कितना जोरदार है ! परन्तु जिसके हृदय में भ्रम है उसके लिए यह पाठ किस काम का ? जिसके हृदय में कायरता बस गई है, उसके लिए वीरता का उपदेश काम नहीं आता। आपको अपने अन्तःकरण से भय का संस्कार निकाल कर निर्भयता लानी चाहिए। इतना न कर सको तो भी कम से कम इन कोमल-मति बालकों के हृदय मे तो भय का संचार मत करो।

जिस कृष्ण के विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने जनमते ही पूतना को मार डाला था, उन्हीं कृष्ण का भजन करते हुए भी लोग डाकिनी से डरते है, यह कितनी लज्जा की बात है ! जब तक आप लोगों के दिल से ऐसा मिथ्या भय नहीं जायगा, परमात्मा का पता लगना मुश्किल है।

प्राचीन काल के श्रावक देवता, गंधर्व, राक्षस आदि किसी से नहीं डरते थे। दो उंगलियों पर जहाज उठाकर देवता आकाश मे ले गया और उसने वहीं से पटक देने का भय दिखाया। तब भी श्रावक के हृदय में भय का संचार नहीं हुआ। सुदर्शन सेठ श्रावक ने अर्जुनमाली के मुद्गरों का जरा

भी भय नहीं खाया, इसका क्या कारण है? प्राचीन काल के श्रावक इतने निडर और आजकल के श्रावक इतने डरपोक क्यों हैं? इसमें क्या रहस्य है? इसमें रहस्य यही है कि पहले ऐसे शब्द सुनाये जाते थे—ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि राक्षस के सन्मुख दिखाई देने पर भी भय नहीं होता था। इसके विपरीत आज ऐसे शब्द सुनाये जाते हैं—ऐसे संस्कार डाले जाते हैं कि लोग कल्पना के भूत से भी भयभीत हो जाते हैं। निर्ग्रन्थप्रवचन के मानने वाले श्रावक इस प्रकार डरपोक हों, यह कितनी कायरता है!

पहले के लोग डराना तो दूर रहा, सहधर्मी की सेवा करके पुण्य बाँधते थे और अब नगण्य बात के लिए सहधर्मी की ही खराबी करने को तैयार हो जाते हैं! और चाहे कोई स्वार्थ हो या न हो, केवल रोष में आकर सहधर्मी को हानि पहुँचाने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। ऐसे लोग अगर समकित पावें भी तो कैसे पावें? भाइयो, इस बात की प्रतिज्ञा करो कि कम से कम अकारण किसी सहधर्मी को या किसी भी अन्य मनुष्य को कष्ट न देंगे।

जो बिना कारण दूसरे की जड़ काटने को तैयार रहता है, उसे आत्मा को 'अभय' बनाने का उपदेश किस प्रकार लग सकता है? बिना मतलब दूसरे का अनिष्ट करके क्रोध का पोषण करना कितना अनुचित है, इस बात का विचार करो।

प्राचीन काल में मतलब होने पर भी काका और भतीजे दिन भर युद्ध करते और रात को एक दूसरे की सेवा करते थे। मेवाड़ के पृथ्वीराज और सूरजमल को देखो। वे दिन भर लड़ते और रात को एक साथ भोजन करके एक दूसरे के घावों

पर पट्टी बाँधते थे और आगामी दिन के लिए सावधान रहने की आगाही करते थे ! एक वह भी मनुष्य थे और एक आप हैं कि कर तो कुछ भी नहीं सकते, फिर भी औंधा-सीधा करने की नीयत रखते हैं। इसी प्रकृति के कारण आपका क्षात्रत्व चला गया और कायरता आ घुसी है !

दो कुत्ते आपस में लड़ते हैं। उनमें जो छोटा और निर्बल होता है वह हार कर बड़े का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता; इसलिए छोटे-छोटे पिल्लों पर ही अपना क्रोध निकालने लगता है। यही स्थिति आज मनुष्य-संसार में दिखाई देती है। जो बड़ों का का कुछ बिगाड़ नहीं सकते, उनसे जो हार मान जाते हैं, वे गरीबों पर या स्त्री-बच्चों पर टूट पड़ते हैं। मगर यह लक्षण वीरता का नहीं, कायरता का है। मैं आशा करता हूँ कि यह बात कभी न कभी आप लोगों के हृदय में आएगी और आपको कल्याण का मार्ग सूझेगा। मैं अपनी इसी आशा के सहारे अपने हृदय के उद्‌गार आपके पास तक पहुँचा रहा हूँ। मित्रो ! अपने मन को उच्च कोटि पर लाओ तो कल्याण जल्दी होगा।

वेदव्यास कहते हैं—

नित्यानुभूतिनिजलाभनिवृत्ततृष्ण,
श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य य करुणयाऽभयमात्मलोक—
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै॥

बहुत दिनों से सोये हुए लोगों को जगा दिया। जिस धर्म का अठारह कोड़ाकोड़ी वर्षों से लोप हो गया था, उस धर्म को भगवान् ऋषभदेव ने फिर प्रकट किया।

[२]

करूँ मैं सेव ऋषभदेव प्रथम जिनन्दा,
मरुदेवी मात तात नाभि के नन्दा ॥ करूँ० ॥

भगवान् ऋषभदेव की इस प्रार्थना में अपूर्व बात मिलती है। इस पर यहाँ विचार करना है। इस भजन के द्वारा आत्मा को शिक्षा दी गई है कि :—

करूँ मैं सेव ऋषभदेव प्रथम जिनन्दा।

हे आत्मन्! मैं भगवान् ऋषभदेव की सेवा करने का निश्चय करता हूँ। वे ऋषभदेव कौन हैं?

मरुदेवी मात तात नाभि के नन्दा।

वे महारानी मरु देवी की आँखों के तारे और महाराज नाभि के कुल के चन्द्रमा हैं।

इनकी सेवा करने से क्या लाभ है? इस प्रश्न पर जरा विचार कीजिए। सेवक और सेव्य में भेद है। जो सेवा करता है वह सेवक कहलाता है और जिसकी सेवा की जाती है वह सेव्य कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि सेवा तो प्रत्येक की करनी चाहिए। जो सेवक है वह सेव्य और असेव्य का भेद क्यों करे? फिर जो सेवा-आराधना करने के योग्य हो, उसी की सेवा की जाय अन्य की नहीं, इस प्रकार का भेदभाव करना तो उचित नहीं है। हाँ, जिसको सेवा की आवश्यकता है उसकी सेवा पहले करनी चाहिए। उदाहरणार्थ--एक आदमी सशक्त है और

दूसरा अशक्त है, तो सेवाधर्मी मनुष्य पहले अशक्त की सेवा करेगा, क्योंकि उसे सेवा की आवश्यकता है।

मान लीजिए, किसी माता के पाँच पुत्र हैं। उनमें एक छोटा है जो पड़ा रहता है और उसमें खाने की शक्ति नहीं है, दूसरा रोगी होने से अशक्त है, तीसरा अपंग या अंधा है, चौथा शक्तिमान् है किन्तु उसकी शक्ति का अभी विकास नहीं हुआ है, पाँचवाँ शक्तिमान् भी है और उसकी शक्ति का विकास भी हो चुका है। माता की भावना सभी पुत्रों पर समान है। वह पाँचों की सेवा करेगी, किन्तु जो अशक्त हैं—असमर्थ हैं, उनकी सेवा पहले करेगी।

सेवा के मुख्य दो प्रयोजन हैं—अशक्त की सेवा अशक्त को शक्ति देने के लिए की जाती है, दूसरे प्रकार की सेवा का प्रयोजन यह होता है कि मैं स्वयं अशक्त हूँ, इसलिए मुझे शक्ति मिले। भगवान् की सेवा उन्हें अशक्त समझकर नहीं की जाती वरन् अपने को अशक्त मानकर शक्ति को प्राप्त करने के लिए की जाती हैं।

जैसे सूर्य को देखने वालों की गरज नहीं है, बल्कि देखने वालों को ही सूर्य की गरज है, सरोवर को प्यासे की जरूरत नहीं है, बल्कि प्यासे को सरोवर की जरूरत है, कपड़े को पहनने वाले की परवाह नहीं वरन् पहनने वाले को ही कपड़े की आवश्यकता है, इसी प्रकार भगवान् को भक्त की—सेवक की गरज नहीं किन्तु भक्त को ही भगवान् की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि जब जगत् के इन छोटे-छोटे पदार्थों को ही तुम्हारी गरज़ नहीं है तो जगत् के नाथ, जगदीश्वर भगवान् को तुम्हारी क्या गरज हो सकती है ?

प्यासे को सरोवर की आवश्यकता तो है. किन्तु जिस सरोवर में जल हो उसी की आवश्यकता रहती है, निर्जल सरोवर से प्यासे का प्रयोजन पूरा नहीं होता। इसी प्रकार जो कपड़ा, कपडा पहनने का प्रयोजन पूरा करता है, उसी की अपेक्षा की जाती है। सारांश यह है कि साधारणतया जीवनोपयोगी पदार्थों के व्यवहार मे भी इस बात की अपेक्षा रखी जाती है कि वे हमारे प्रयोजन को पूरा करें। इस प्रकार जब इन पदार्थों की भी छानवीन की जाती है तो क्या इस बात की छानवीन नही करनी चहिए कि अनादि काल से अशक्त और दुःखों का पात्र बने हुए इस आत्मा को किसकी सेवा से लाभ होगा ? इसीलिए कहा है।

हे प्रभो ! अनादि काल से मेरे गले मे यम की फाँसी पड़ी हुई है। काल चौरासी के चक्कर में घुमा रहा है। अब आप अपनी भक्ति मुझे दीजिए। जिससे मैं—

करूँ मैं सेव ऋषभदेव प्रथम जिनन्दा।
मरुदेवी मात तात नाभि के नन्दा॥

जिस कंठ मे आदिनाथ की भक्ति है उस कंठ मे यम की फाँसी नहीं लग सकती। अब तक के जन्म-मरण का कारण यही था कि जिसकी भक्ति करनी चाहिए थी, उसकी भक्ति नहीं की और जिनकी भक्ति की वे स्वयं जन्म-मरण के चक्कर मे पडे हुए थे।

प्रभो ! मेरी अपनी शक्ति से बन्धन नहीं टूटे हैं ! इसलिए मैं आपकी भक्ति चाहता हूँ।

मित्रो ! वेदव्यास ने भी जिनकी प्रार्थना की है वही भगवान् ऋषभदेव तुम्हारे फन्दे को काटने में समर्थ हैं। तुमने भगवान् ऋषभदेव की भक्ति की होती तो अवश्य यम के फन्दे से मुक्त हो गये होते। मगर तुम तो उनकी भक्ति मे लगे रहे जो स्वयं जन्म-मरण से नहीं छूटे हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हारा छुटकारा कैसे होता ?

सूर्य तो नित्य उदित होता है। उसका प्रकाश पाकर जिन्हे काम करना हो, कर लें। इसी प्रकार परमात्मा की लोकोत्तर शक्ति के सहारे आत्मा का कल्याण करना हो तो कर लो। जो अवसर मिल गया है, संभव है फिर कभी न मिले।

अवसर वेर वेर नहिं आवे !



२-भगवान् अजितनाथ

प्रार्थना ।

[कुविसन मारग माथे रे धिग-धिग वह-देशी]

श्री जिन अजित नमूं जयकारी, तू देवन को देवजी ।
जितशत्रु राजा ने विजया राणी को,आतमजात तुमेवजी ॥
श्री जिन अजित नमूं जयकारी ॥ १ ॥

दूजा देव अनेरा जग में, ते मुझ दाय न आवेजी ।
तह मन तह चित्त अमने, तू हिज अधिक सुहावेजी ॥ २ ॥

सेव्या देव घणा भव-भव में, तो पिण गर्ज न सारीजी ।
अब के श्री जिनराज मिल्यो तू, पूरण पर-उपकारीजी ॥ ३ ॥

त्रिभुवन में जस उज्ज्वल तेरो, फैल रह्यो जग जानेजी ।
वन्दनीक पूजनीक सकल को, आगम एक बखानेजी ॥ ४ ॥

तू जग जीवन अन्तरजामी, प्राण आधार पियारोजी ।
सब विधि सायक संत सहायक, भक्त वत्सल व्रत थारोजी ॥ ५ ॥

अष्टसिद्धि नवनिधि को दाता, तो सम और न कोईजी ।
बधे तेज सेवक को दिन-दिन, जेथतेथ जय होईजी ॥ ६ ॥

अनन्त-ज्ञान-दर्शन सम्पत्ति ले, ईश भयो अविकारीजी ।
अविचलभक्ति 'विनयचन्द' को दो, जाणुं रीझ तुम्हारीजी ॥ ७ ॥

—— × ——

परमात्मा के एक-एक नाम में एक-एक अपूर्व गुण भरा हुआ है। उस नाम को स्मरण करने से उस गुण का स्मरण हो आता है और प्रार्थना करने में विशेष सुविधा होती है। भगवान् का 'अजीतनाथ' नाम भी एक अपूर्व गुण-शक्ति का स्मरण कराने वाला है। उनके नाम मे क्या यथार्थता है, यह बात समझ लेने से कीर्तन-भजन करने वाले को उस नाम के बहुत-से गुण आसानी से समझ में आ सकते हैं।

'अजित' का अर्थ है—जयकारी। जो किसी के द्वारा जीता न गया हो और जिसने सबको जीत लिया हो, जिसकी विजय चरम और परम विजय हो, वह 'अजीत' कहलाता है।

कोई मनुष्य लड़ाई करके किसी को जीत लेता है तो वह एक को जीतने वाला कहा जाता है, संसार को जीतने वाला नहीं। इसके अतिरिक्त विजेता ने जिस एक को हराया है, उस हारे हुए व्यक्ति के हृदय मे विजेता के प्रति विद्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता है। वह दिन-रात संताप किया ही करता है। अतएव एक को जीतना भी वास्तविक जीतना नहीं है। विजेता की सच्ची विजय वह है जिसमे पराजित व्यक्ति विजेता के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा वैरभाव न रक्खे। अर्थात् पराजित, विजयी का चेरा बनकर उसका गुण-गान करने लगे। यही जीतना सच्चा जीतना है। 'अजित' ऐसे ही विजेता हैं। पर 'अजित' की व्याख्या इतने ही में पूर्ण नहीं हो जाती। उसकी व्याख्या के लिए काफी समय की आवश्यकता है।

मैंने जिनकी प्रार्थना 'जिन अजित' कह कर की है उन्होंने राग-द्वेष को पूरी तरह जीत लिया है और राग-द्वेष को जीतने के कारण ही उनका नाम 'अजित' है।

अर्जुनमाली, सुदर्शन सेठ का शत्रु था, परन्तु सुदर्शन सेठ ने उसे जीत लिया। उनके जीतने की पद्धति निराली ही थी और वह यह थी कि सुदर्शन अपने हृदय में अर्जुनमाली के प्रति किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं लाये। यही नहीं, बल्कि पहले दो करण तीन योग से द्वेष का त्याग था, पर मुकाबिले के समय तीन करण और तीन योग से द्वेष का त्याग कर दिया। अर्जुन, सुदर्शन को मारने चला था, परन्तु उसी का क्रोध मारा गया।

इसे कहते है विजय! अहिंसा की प्रबल भावना के द्वारा जो विजय प्राप्त की जाती है, वह विजय अन्तिम और परिपूर्ण होती है तथा विजेता और विजित दोनो के कल्याण का द्वार खोल देती है। उस विजय में विजेता तो विजयी होता ही है, पराजित होने वाला भी विजयी होता है। वहाँ संघर्ष का उपशम ही नहीं, विनाश हो जाता है और विजेता तथा विजित—दोनो मे से मंगलमय मैत्री की स्थायी स्थापना होती है।

सुदर्शन को भली-भांति ज्ञात था कि एक आत्मा दूसरे आत्मा का शत्रु नहीं हो सकता। शत्रुता करना आत्मा का विभाव है—विकार है। वस्तुत' आत्मा के दुर्गुण ही शत्रु हैं। आत्मा तो स्वभावतः प्रत्येक दशा मे निर्मल है।

क्रोध रूपी शत्रु का यदि क्रोध से ही बदला लिया जायगा तो शत्रुता बढ़ेगी, घटेगी नहीं। कीचड़ से भरा हुआ पैर कीचड़ से साफ नहीं होता, इसी प्रकार क्रोध मे क्रोध की उपशान्ति नहीं होती। शास्त्र में कहा है—

उवसमेण हणे कोहं।

अर्थात् उपशान्त होकर क्रोध को जीतना चाहिए।

जब तुम अपने क्रोध को जीत लोगे तो तुम्हारे विरोधी का क्रोध आप ही समाप्त हो जायगा। जैसे अग्नि को ईंधन न मिलने पर वह आप ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार क्रोध को, क्रोध का ईंधन न मिले तो वह भी नष्ट हो जाता है।

यह विजय का निष्कंटक और सरल मार्ग है। धर्मनिष्ठ बनना है तो इसी मार्ग पर चलो। जब तक इस राजमार्ग पर नहीं चलते, समझ लो कि धर्म की परिभाषा से अनभिज्ञ हो।

जो अपने ऊपर मुद्गर लेकर आवे उसे अपनी आत्मा के तुल्य समझना और मित्र बना लेना कोई सहज काम नहीं है। सुदर्शन में ऐसी मति थी। इसी कारण अर्जुन उनके अधीन हो गया। अब जरा विचार कीजिए कि जिसके भक्त में—लघु भक्त में—इतना जोश है कि उसने वैरी को भी अपनी मैत्री-भावना के द्वारा अपने वश में कर लिया, उस परमात्मा में कितनी क्षमता न होगी? अर्थात् उसने सारे संसार को इसी प्रकार जीत लिया है; तभी तो उसका नाम परमात्मा है!

त्रिभुवन में जस उज्ज्वल तेरो,
फैल रह्यो जग जाणे जी।

जिसके लिए त्रिभुवन के प्राणी एक भावना से मित्र रूप हो गये हैं, उस त्रिभुवनपति को त्रिभुवन वन्दना करता है।

अगर आपको विजयशाली बनना है तो विजय के महान् सदेश-वाहक, विजय का अमोघ मंत्र देने वाले, विजय के

मंगल-मार्ग पर प्रयाण करके उस पथ को पुनीत करने वाले, विजयमूर्त्ति श्री अजितनाथ भगवान् को अपने हृदय-मन्दिर मे स्थापित करो। क्रोध को जीतो। द्वेष को नष्ट करो। मैत्री भावना का प्रदीप प्रज्वलित करो। चित्त मे किसी प्रकार का विकार न रहने दो। अगर आपने इतना कर लिया तो आप विजयशाली हैं। विश्व की कोई प्रचण्ड से प्रचण्ड शक्ति भी आपको पराजित नहीं कर सकती। आप आत्मविजयी अर्थात् विश्वविजयी बन जाएँगे। उस अवस्था मे आप मे और भगवान् अजितनाथ में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।

[ख]

अजित जिनन्दजी सों लगन लगावे,।
सुख-सम्पति वञ्छित फल पावे ॥

अजितनाथ भगवान् की यह स्तुति है। परमात्मा अजितनाथ के साथ अपनी लगन लगा देने पर प्राणी सुख-सम्पत्ति के लिए सौभाग्यशाली बनता है। मगर प्रश्न यह है कि लगन लगे कैसे ?

यों तो सभी प्राणियो की इच्छा रहती है कि परमात्मा के प्रति प्रेम रहे तो अच्छा ही है। मगर परमात्म-प्रेम का मार्ग कौन-सा है, इस बात को समझना आवश्यक है। किस रास्ते से भगवान् से गाढ़ा प्रेम होकर प्रीति बनी रहे, यह बतलाने के लिए ही उपदेश देने की आवश्यकता होती है।

प्राणी प्रत्येक वस्तु से प्रीति करता है। यह उसकी एक वृत्ति है। मगर यह नहीं भूलना चाहिए कि जैसी वस्तु से

प्रीति की जाती है, उसे वैसा ही फल मिलता है। सांसारिक पदार्थों से जो प्रीति होती है वह भोग-विलास के लिए होती है और उसका फल मोह की वृद्धि होता है। मोह संसार-परिभ्रमण का मुख्य कारण है। अतएव जो लोग संसार-भ्रमण से बचना चाहते हैं उन्हे भोग-सामग्री संबन्धी प्रीति का त्याग करना ही उचित है। मगर वह प्रीति निरालम्बन नहीं रह सकती। उसका आलम्बन परमात्मा को बनाना चाहिए। परमात्मा को आलम्बन बनाकर जगाई हुई प्रीति परमानन्द का कारण है, असीम शान्ति और अक्षय सुख का स्रोत है, शाश्वत कल्याण का हेतु है और ससारभ्रमण का अन्त करने वाली है। इसलिए विवेकशील पुरुष अपनी प्रीति रूप शक्ति का मुँह भोगसामग्री की ओर से हटाकर परमात्मा की ओर फेर देते हैं। ऐसा करके वे जिस निराकुलता का अनुभव करते हैं, वह भोगलोलुप, विषयो के दास, इन्द्रियों के गुलाम लोगो को कभी नसीब नहीं होती। वह निराकुलता कहने की वस्तु नहीं है, अनुभव से ही उसका मज़ा लिया जा सकता है।

प्रीति अनन्ती पर थकी,
जे तोड़े हो ते जोड़े एह के।
परम पुरुष थी रागता,
एकता हो दाखे गुण-गेह के।

इस विषय मे यह सूचना दी गई है कि पुद्गलों से जितना प्रेम है, सांसारिक पदार्थों से जितनी प्रीति है, उसे तोड़कर परमात्मा में प्रेम लगा दे तो आत्मा, परमात्मा के साथ एकता प्राप्त कर सकता है।

सांसारिक पदार्थों से प्रीति का नाता तोड़कर परमात्मा के साथ जोड़ने के लिए ज्ञान की आवश्यता है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है। भूल कर उलटे मार्ग पर चला जाता है। अतः वस्तुस्थिति को समझना चाहिए। आत्मा से पूछना चाहिए कि प्रीति समान से की जाती है या हीन और तुच्छ से? राजा अगर किसी नीच पुरुष के साथ प्रीति करे तो उसका राजपद शोभा नहीं देता। इस बात को दूर रख कर सांसारिक दृष्टि से देखो तो भी मालूम हो जाता है कि जैसे की प्रीति तैसे के साथ ही शोभा देती है। कहा भी है—'समाने शोभते प्रीतिः' अर्थात् समान शील वाले और समान आदतों वालों में ही मित्रता होती है। विषम—असमान के साथ की हुई प्रीति न सुखदाई होती है, न शोभा देती है और न स्थायी ही होती है। लहसुन और कस्तूरी को मिलाया जाय तो कस्तूरी की दुर्दशा ही होगी। इसी प्रकार असमान के संसर्ग से उत्तम वस्तु का भी मान घट जाता है।

इतना समझ लेने के पश्चात् अब देखना चाहिए कि आत्मा के समान शील-गुण वाला कौन है, जिसके साथ उसे प्रीति करनी चाहिए? आत्मा चिदानन्द-स्वरूप है। पुद्गलों में न चित् है और न आनन्द है। अतएव पुद्गल आत्मा के समान गुण वाले नहीं हैं। पुद्गल रूपी हैं, आत्मा अरूपी है। पुद्गल सड़ते-गलते और नष्ट होते हैं, आत्मा अजर-अमर अविनाशी है। पुद्गल स्थूल हैं, आत्मा सूक्ष्म है। दोनों एक दूसरे से विपरीत धर्म वाले हैं। दोनों में कोई समानता नहीं है। ऐसी स्थिति में पुद्गलों के प्रति आत्मा की प्रीति कल्याणकारिणी नहीं हो सकती।

जो पुद्गल बड़े-बड़े चक्रवर्त्तियों के अधिकार में नहीं चले वह तेरे अधिकार में कैसे चलेंगे ? जब तू यह जानता है तो पुद्गलों को समेटने मे, उन्हें अपने अधिकार मे करने में क्यों लगा है ?

दूसरी ओर देखें तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि परमात्मा के साथ आत्मा की पूरी समानता है। जो गुण, जो स्वभाव और जो शील आत्मा का है, वही परमात्मा का है। परमात्मा का स्वभाव प्रकट हो गया है। परमात्मा ने अपने समस्त आवरणों को हटा दिया है और आत्मा अभी तक हटा नहीं पाया है। यही दोनों में अन्तर है। मगर यह अन्तर स्वाभाविक नहीं है, मौलिक नहीं है। वस्तुस्वभाव से दोनों एक हैं। अतएव आत्मा की प्रीति परमात्मा के साथ होना ही उचित है।

यह सब समझ कर भी, अरे आत्मा ! तू किस चक्कर में पड़ा है ? तू परमात्मा को भूलकर पुद्गलों के साथ प्रीति का नाता जोड़ता है ! क्या तेरे लिए यही उचित है ?

कल्पना करो, तुम्हारे घर किसी का विवाह है। जिस दिन विवाह होने वाला है, उसी दिन कोई मेहमान जाना चाहता है और तुम्हारे रोकने पर भी नहीं रुकता है, तो तुम्हारे मन में क्या विचार उत्पन्न होगा ? यही न कि यह समय जाने का नहीं, आने का है। अगर जाते हैं तो भविष्य में इनके साथ सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे। मेहमान आपका कोई अपमान या अमंगल करके नहीं जा रहा है, फिर भी आप आगे उससे सरोकार न रखने का विचार कर लेते हैं। किन्तु ऐसे अवसर पर जब यह पुद्गल छूटते हैं तब साक्षात् अमंगल

दीखता है। पुत्र के विवाह के समय पिता मर जाय तो अमंगल दीखता है या नहीं ? फिर उस मेहमान के विषय में आप जो विचार करते हैं, वही विचार इन पुद्गलों के विषय में क्यों नहीं करते ? क्यों नहीं सोचते कि इनके साथ भविष्य में प्रीति नहीं रक्खेंगे ?

बुद्धिमान् पुरुष पुद्गलों के स्वभाव का विचार करके परमात्मा के साथ प्रीति-सबंध स्थापित करते हैं, और जो ऐसा करते हैं वही वास्तव में बुद्धिमान हैं।

परमात्मा का आदेश है कि पुद्गलों से प्रीति हटाने पर ही मुझ से प्रीति हो सकती है। अगर पुद्गलों से प्रीति करोगे तो मुझसे प्रीति नहीं हो सकेगी।

आत्मा चाहे सुख में हो चाहे दुःख में हो, साधु हो या गृहस्थ हो, कुछ भी हो और कहीं पर हो, हृदय में शान्ति रखकर विकारों को निकाल दो, तो परमात्मा के साथ आप ही आप प्रीति जुड़ जाएगी। किसी भी क्षेत्र और किसी भी काल में यह प्रीति जोड़ी जा सकती है, चाहिए सिर्फ निर्मल अन्तःकरण।

कई लोग परमात्मा के आगे लड्डू और ऊपर जेवर चढ़ा कर परमात्मा से प्रीति जोडने का प्रयास करते है, और कोई दूसरी दिखावटी क्रियाएँ करके प्रीति जोड़ना चाहते हैं, मगर यह मार्ग सही नहीं है। गीता में भी कहा है:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार, समदुःखसुखः क्षमी।

—अ० १२

अर्थात् जो किसी भी प्राणी से द्वेष न रख, उनसे मैत्री-भाव रखता है, करुणाशील होता है, ममता और अहंकार से रहित होता है, वही परमात्मा से प्रीति करता है। आत्मा जैसे ही इस स्थिति में पहुँची कि परमात्मा के साथ प्रीति जुड़ी।

आत्मा का परमात्मा के साथ ज्यो-ज्यों प्रेम बढ़ता चला जाएगा त्यों-त्यो आत्मिक और सांसारिक सुख भी बढ़ता जायगा।

कहा जा सकता है कि अभी हमें सांसारिक पदार्थों की चाह है। जब तक यह चाह नहीं छूटती तब तक परमात्मा के साथ प्रीति कैसे जुड़ सकती है? इसका उत्तर कठिन नहीं है। थोड़ा-सा सूक्ष्म विचार करने से इस प्रश्न का स्वयं ही समाधान किया जा सकता है। बात यह है कि आप इन सांसारिक वस्तुओ मे जितनी आसक्ति रक्खोगे, उतनी ही यह आपसे दूर भागेंगी, और अगर आसक्ति त्याग दोगे तो वे स्वतः प्राप्त होने लगेंगी। आसक्ति रखने से कोई वस्तु मिल भी जाती है तो वह दुःख का कारण बनती है। उदाहरणार्थ—उदार पुरुष के पास धन होता है तो वह उस धन से सुख पाता है, इसके विपरीत कृपण पुरुष उसी धन से दुःख पाता है और मरते समय तक हाय-हाय करता है। इसका कारण यही है कि उदार पुरुष धन के प्रति उतनी आसक्ति नहीं रखता, जितनी कृपण रखता है। इससे स्पष्ट है कि आसक्ति दुःख का कारण है।

सारांश यह है कि बाह्य वस्तुओ मे जितनी-जितनी आसक्ति कम होती जायगी, वस्तुएँ वैसे ही वैसे विना बुलाये

आएँगीं और जैसे जैसे अधिक आसक्ति रक्खोगे, तैसे-तैसे वह दूर भागेंगी।

परमात्मा के भजन से दो लाभ है—आत्मिक सुख और सांसारिक सुख। सुबाहुकुमार को आप ही आप सब पदार्थों की प्राप्ति हुई। वह पदार्थों मे आसक्त नहीं थे, इस कारण पदार्थ भी मिलते गये और उनकी आत्मा भी ऊँची चढ़ती गई।

जो वस्तु राजा से मिल सकती है, उसके लिए किसी नीच के पास जाने की क्या आवश्यकता? अमृत के मिलते हुए जो रोग उससे मिट सकता है, उसके लिए विष, जो धोखे की चीज है, क्यों पिया जाय? परमात्मा की प्रीति में किसी प्रकार का धोखा नहीं है और उससे संसार के समस्त दुःख मिट जाते हैं। ऐसी स्थिति मे दुःखों को दूर करने के लिए सांसारिक पदार्थों का सेवन करना उचित नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा अकल्याण होने का खतरा है।

[ग]

श्री जिन अजित नमूँ जयकारी,
तू देवन को देवजी ॥

भगवान् अजितनाथ की इस प्रार्थना मे अनेक ऐसी बातें हैं, जिन पर विशेष रूप से ध्यान खींचने की आवश्यकता है। उन सब पर अगर संक्षेप में भी प्रकाश डाला जाय तो पर्याप्त समय लगेगा। अतः आज एक ही बात पर आपका ध्यान आकर्षित करना है। इस प्रार्थना मे भगवान् अजितनाथ के विषय में कहा गया है—

तू देवन को देवजी !

अर्थात्—अजितनाथ भगवान् देवों के भी देव हैं।

देव प्रायः स्वर्ग मे रहते हैं और उनकी गति मनुष्य गति से अलग गिनी गई है। मनुष्य की अपेक्षा देवों का सुख असंख्यात गुणा है। उनकी ऋद्धि और सम्पदा के आगे मानवीय ऋद्धि और सम्पदा की कोई गिनती ही नहीं है। साधारणतया मनुष्य देव होने की आकांक्षा करते हैं। फिर भगवान् अजितनाथ को देवों का भी देव क्यों कहा गया है? अजितनाथ तो मनुष्य गति में उत्पन्न हुए थे। वे देवों के देव कैसे हुए ? इस प्रश्न पर यहाँ विचार करना है।

साधारण मनुष्यो के मस्तिष्क में भोगोपभोगों और सांसारिक सुखों के प्रति जो विशिष्ट आकर्षण देखा जाता है उसी के कारण यह प्रश्न उठता है। अगर आत्मिक दृष्टि से देखा जाय तो स्वर्गलोक की अपेक्षा मर्त्यलोक में और देवभव की अपेक्षा मनुष्यभव मे अधिक विशिष्टता है। त्रिभुवननाथ का जन्म स्वर्ग मे नहीं होता, मर्त्यलोक में ही होता है। स्वर्ग मे इन्द्र है पर भगवान वहाँ नहीं जनमते। श्रीस्थानांगसूत्र में कहा है कि देवता तीन बातो की कामना करते हैं।

देवता प्रथम तो मनुष्य-जन्म चाहते हैं। अब विचार करना चाहिए कि मनुष्य-जन्म में क्या विशेषता है? क्या मनुष्य के शरीर में हीरे-पन्ने जड़े हैं? कदाचित् हीरे-पन्ने भी

जड़े हों तब भी क्या मर्त्यलोक स्वर्ग की बराबरी कर सकता है ? फिर देवता क्यों मनुष्यजन्म चाहते हैं ?

दूसरी कामना देवों को यह है कि मनुष्यजन्म मे भी हम आर्यकुल मे उत्पन्न हों। अनार्यकुल में हमारा जन्म न हो।

तीसरी कामना देवों की यह है कि हमारा जन्म आर्यक्षेत्र में ही हो, जहाँ साक्षात् भगवान् के दर्शन होते हैं।

देवता आर्यकुल मे जन्म चाहते हैं, अनार्यकुल में नहीं। लेकिन आर्य कौन है और अनार्य किसे कहना चाहिए ? जो बुरे कामों से बचें, जिनकी नैसर्गिक भावना ही बुरे कामो से बचने की हो वे आर्य कहलाते हैं और जिन्हे बुरे काम प्रिय हों, जो बुरे कामों से घृणा नहीं करते हों वे अनार्य हैं।

मित्रो ! जरा सावचेत होकर खयाल करो कि देवगण भी आर्यकुल और आर्यक्षेत्र की कामना करते हैं। आज लोग फ्रांस और अमेरिका आदि देशो की बड़ाई करते हैं और पेरिस पर तो लट्टू हैं, किन्तु सच पूछो तो वे भारतवर्ष की एक झौंपड़ी की भी बराबरी नहीं कर सकते। भारत के झौंपड़ियो मे रहने वालों में भी अभी बहुत से ऐसे निकलेंगे जो अपना सिर भले ही दे दें किन्तु किसी जीव की हत्या नहीं करेंगे। स्त्रियाँ अपने प्राण भले दे दें मगर शील हर्गिज़ न देंगी। और फ्रांस में ? वहाँ शील का कोई महत्त्व ही नहीं गिना जाता। बडे से वडे घर की स्त्रियाँ भी शील खोने मे घृणा नहीं करतीं। अब दोनो की तुलना करके देखो कि भारत अच्छा देश है या फ्रांस आदि अन्य देश अच्छे है ?

एक सुन्दर महल है। संगमरमर का उसका फर्श है। दीवालें चिकनी और मनोहर चित्रों से सुशोभित हैं। उन पर सोने आदि से मीनाकारी की गई है। एक ओर ऐसा सुन्दर महल है और दूसरी ओर काली मिट्टी का खेत है। इन दोनों में से आप किसे बड़ा समझते हैं ?

'खेत को !'

क्यो ? महल तो बड़ा सुन्दर है। उसमें सुगन्ध भी आती है। खेत न सुन्दर है और न उसमें से सुगन्ध ही आती है। फिर वह खेती के लिए महल को पसन्द करेगा या खेत को ?

'खेत को !'

क्योंकि खेती खेत मे ही हो सकती है। महल सुन्दरता में भले ही बड़ा प्रतीत हो, पर गहराई से विचार करो तो मालूम होगा कि उसकी सुन्दरता खेत के ही प्रताप से है। खेत में अन्न न पके तो महल कब तक टिकेगा ?

उस सुन्दर महल में किसी आदमी को रखकर उसे खेत की कोई चीज न दो और उससे कहो—तुम महल के सौन्दर्य का उपभोग करो। महल में मौज करो। तो उसे आनन्द मिल सकेगा ?

'नहीं !'

इस प्रकार और तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम होने लगेगा कि खेती ही महल से बढ़कर है। खेत से मनुष्य को जीवन मिलता है, महल से नहीं।

इस मर्त्यलोक में सब औदारिक शरीर के धारक प्राणी हैं। यहाँ के मनुष्यों का शरीर हाड़-मांस आदि सात धातुओं से बना है। यहाँ रोग-शोक आदि भी लगे हुए हैं। इसके विपरीत देवगण वैक्रियशरीरी हैं—इच्छानुसार रूप बना सकते हैं। न उनको रोग है, न शोक है। इस दृष्टि से देव महल के समान सुन्दर हैं। इस सुन्दरता की तराजू पर अगर देव और मनुष्य को तोला जाय तो देव, मनुष्यो से घृणा करे। इसके अतिरिक्त देव विमानो मे जो स्वच्छता है, वैसी स्वच्छता भी यहाँ कहाँ ! यहाँ तो अशुचि दुर्गन्ध आदि सभी कुछ है। फिर देवलोक छोटा और मनुष्य लोक बड़ा कैसे ?

यहीं विचार करने की आवश्यकता है। विचार करने से जान पड़ेगा कि पुण्य की खेती करने का स्थान मर्त्यलोक ही है। मर्त्यलोक की कमाई से देवलोक मिलता है। देवलोक की कमाई से देवलोक नहीं मिलता।

अगर मर्त्यलोक की कमाई देवलोक में न हो तो देवलोक भयकर हो जाय। वहां यहीं का पुण्य है। इसी कारण देवगण मनुष्य होने की कामना करते हैं। देव, मनुष्यजन्म के लिए उसी प्रकार लालायित रहते है जैसे किसान आषाढ़ के लिए लालायित रहता है। किसान चाहता है, कब आषाढ़ आवे और कब हमारी खेती हो ! देव लालायित रहते हैं कि कब हम मनुष्य जन्म धारण करें और पुण्य की खेती उपजाएँ !

मित्रो ! इसी मर्त्यलोक में सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होकर संवर तथा निर्जरा आदि का धर्म होता है देवलोक मे नहीं।

मनुष्य-जन्म ही साक्षात् परमात्मपद की प्राप्ति का कारण है—कोई भी देव देवभव से परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता। आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा मनुष्यभव में ही प्राप्त होती है। देवगण मोक्षमहल की पहली सीढ़ी तक ही चढ़ सकते हैं। आगे जाने का सामर्थ्य उनमे नहीं है, जब कि मनुष्यभव से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

आपको मनुष्यजन्म, आर्यकुल और आर्यक्षेत्र आदि की वह सब सामग्री मिली है, जिसके लिए देवराज इन्द्र भी तरसता है। फिर भी अगर आप अपना कल्याण न करें तो कितने परिताप की बात है! आप लोगो को कल्याणमार्ग से विमुख देखकर ज्ञानियो को चिन्ता होती है। वे सोचते हैं—यह अपना मनुष्यजन्म वृथा गँवा रहे हैं, कौवे को रत्न फैंक कर उड़ाने की मूर्खता कर रहे हैं। इसीलिए कहता हूँ—भाइयो! कुछ कल्याण के कार्य करो। बोलो—

श्रीजिन अजित नमूँ जयकारी,
तू देवन को देवजी।

प्रभो! मैं तुझे नमन करता हूँ। कामी, क्रोधी, दंभी, लोभी देव मुझे नहीं सुहाते। मुझे तू ही रुचता है। तू देवों का भी देव है। प्रभो! मेरा भी नाथ बन। मुझे तार दे। मेरा कल्याण कर। मैं अपने को तेरे शरण में अर्पित करता हूँ।



३-श्री सम्भवनाथ

प्रार्थना।

[आज म्हारा पारसजी ने चालो वन्दन जइए-यह देशी]

आज म्हारा सम्भव जिन का, हित चित सुँ गुण गास्यां।
मधुर-मधुर स्वर राग अलापी, गहरे शब्द गुंजास्यां राज॥
आज म्हारा सम्भव जिन का, हित चित सुँ गुण गास्यां॥ १॥

नृप "जीतारथ" "सेना" राणी, ता सुत सेवक थास्या।
नवधा भक्तिभाव सों करने, प्रेम मगन हुइ जास्या राज॥ २॥

मन वच काय लाय प्रभु सेती, निसदिन सांस उसास्या।
सम्भव जिन की मोहनी मूरति, हिये निरन्तर ध्यास्यां राज॥ ३॥

दीन दयाल दीन बन्धु के, खानाजाद कहास्यां।
तन धन प्राण समरपी प्रभु को, इन पर वेग रिझास्यां राज॥ ४॥

अष्ट कर्म दल अति जोरावर, ते जीत्या सुख पास्या।
जालम मोह मार को जामें, साहस करी भगास्या राज॥ ५॥

ऊपट पंथ तजी दुर्गति को, शुभगति पंथ समास्या।
आगम अरथ तणे अनुसारे, अनुभव दशा जगास्या राज॥ ६॥

काम क्रोध मद लोभ कपट तजि, निज गुणसुँ लव लास्या।
'विनयचन्द' सम्भव जि तूटयां, आवागमन मिटास्या राज॥ ७॥

—×—

आज म्हारा संभव जिनजी का; हित चित से गुण गास्यां,
मधुर-मधुर सुर राग अलापी, गेहरे शब्द गुँजास्यां राज ॥आज०॥

परमात्मा से प्रेम का साधन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उत्कृष्ट से प्रेम करने के लिए उत्कृष्ट भाव होना चाहिए। गंदी बातें गंदे चलाव-यह सब मोह के प्रभाव से प्रिय हो रहे है। इन गंदी बातों से और गंदे चलाव से जब तक मोह न उतरे, परमात्मा से आत्मा का पूरा प्रेम नहीं जुड़ता।

महात्माओं ने और ज्ञानियों ने परमात्मा से प्रेम करने के उपाय बताये हैं। उन उपायों को भक्तो ने बालभाषा में अपने साथियों को समझाया है जैसे—

आज म्हारा संभव जिनजी रा,
हित चित से गुण गास्या राज।

अर्थात्-आज मै अपने प्रभु का स्वच्छ हृदय से गुण-गान करूँगा। यहाँ 'आज'-शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इस 'आज' का मतलब क्या है?

दुनिया के लोग कहते हैं कि फलां काम आज करूंगा। अमुक काम को आज ही कर डालें, कल की कौन जाने? आज तो अपनी स्थिति, शरीर और बुद्धि आदि अनुकूल है; इसलिए जो आज न कर पाये तो कल क्या कर सकोगे? इस लिए जो सोचा है सो आज ही कर लो।

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करोगे कब।

इस प्रकार का अवसर साध कर दुनिया वाले बोध देते हैं कि किसी काम के लिए वृथा समय गँवाना उचित नहीं है।

दुनियादारी के काम जो आज नहीं हुए, वह कल नहीं हो पाते, ऐसा जब दुनियादार सोचते हैं तो ज्ञानियों के हृदय में भी यही बात उत्पन्न होती है कि—

आज म्हारा संभव जिनजी रा,
हित चित से गुण गास्या राज।

अर्थात्—आज मैं भगवान् का भजन करूंगा। अगर आज, जब कि शरीर आदि की स्थिति अनुकूल है, उसका भजन न कर सका तो फिर कब भजूंगा ?

जोधपुर में बच्छराजजी सिंघी धनी और कुलवान् आदमी थे। पूज्य रघुनाथजी महाराज ने, जो फक्कड़ और ज्ञानी महात्मा थे, सिंघीजी से कहा-आपने मनुष्यजन्म पाया है। इस जन्म को पाकर कुछ कल्याण का भी काम करते हो ?

बच्छराजजी बोले—महाराज ! कल्याण का काम करके करना क्या है ? रहने को अच्छी हवेली है, सिंघी परिवार में जन्म लिया है, जागीर है, स्त्री है, नौकर-चाकर आदि सभी कुछ है पहले बहुत कर आये हैं। अब क्या करना है ?

रघुनाथजी महाराज ने कहा—पहले कर आये सो तो ठीक है। उसका फल मिला ही है। परन्तु अब मर कर अगर कुत्ते हुए तो इस हवेली में कोई आने देगा ?

वच्छराजजी—नहीं महाराज, फिर तो कोई नहीं आने देगा।

रघुनाथजी महा०—इसीलिए कहता हूँ कि कुछ कल्याण का कार्य करो। अभी नहीं करोगे तो फिर कब करोगे?

मित्रो! बुद्धिमान् मनुष्य विचार करेगा कि पहले किया सो अब पाया। अगर अब न करेंगे तो क्या मिलेगा? पहले कितने-कितने दुःख उठाये हैं, कौन-कौन-सी योनियाँ भुगती हैं, उन्हें देखते हुए आज जिस स्थिति में हो, उस स्थिति में भजन न करोगे तो कल क्या करोगे? कल की किसने देखी है। कल मर कर कहीं गधे, कुत्ते आदि हुए तो फिर क्या कर सकोगे? इसीलिए ज्ञानी कहते हैं—

आज म्हारा संभव जिनजी रा,
हित चित से गुण गास्यां।
मधुर मधुर राग अलापी, स्वर०
गेहरे शब्द गुंजास्या राज॥

अर्थात्—हम कल पर भरोसा न करके आज ही परमात्मा का भजन करेंगे और उसके भजन के मीठे-मीठे स्वर गुञ्जा देंगे। इस काम को भविष्य के लिए नहीं छोड़ेंगे। हम चाहे पढ़े-लिखे न हों, हममें चाहे बुद्धि न हो, केवल हमारी निष्ठा भगवान् के स्मरण में लग जाय तो फिर हमें भव-सागर की चिन्ता नहीं।

भाइयो! कल की कौन जानता है कि कल क्या होगा? हाथ की माला हाथ में ही रह जाती है और प्राण-पखेरू उड़

जाते हैं। भजन करने के विचार को भी पूरा कर पाने का समय तक नहीं मिलता।

आज कल माला भी कैसी फेरी जाती है ? :—

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माय।
मनड़ा तो चहुं दिसि फिरे, सुमिरन यह न कहाय।

माला कहीं फिर रही है, जीभ कहीं फिर रही है और मन कहीं और ही जगह फिर रहा है। ऐसा भजन भी कोई भजन है ?

माला फेरने की यह पद्धति गलत है, इतना ही नहीं, बल्कि माला फेरने का उद्देश्य भी अकसर गलत होता है। कोई किसी मतलब से माला घुमाता है और कोई प्रयोजन से फेरता है ! अधिकांश लोग तो रुपयों के लिए माला फेरते हैं। माला फेरते समय वे रुपयों का ही ध्यान करते हैं। ऐसे लोगों का तप, व्रत आदि भी प्रायः इसीलिए होता है। कल्दार की प्राप्ति ही उनके लिए भगवान् की प्राप्ति है। भला, ऐसे लोगों को परमात्मा के प्रति प्रीति कैसे हो ? मित्रो ! प्रेम का मार्ग बड़ा दुर्गम है। बिना कष्ट उठाये प्रेम का मज़ा नहीं मिलता। निःस्वार्थ होकर, बिना किसी कामना के भगवान् का भजन करना ही सच्चा भजन है। ऐसा भजन करने वाले विरले ही मिलते हैं और वही भजन के असली फल को प्राप्त करते हैं।

दीनदयालु दीनबन्धु के,
खाना जाद कहास्यां।
तन धन प्राण समर्पी प्रभु को,
इन पर वेग रिझास्यां राज ॥

परमात्मा का सेवक बनने के लिए क्या होना चाहिए? परमात्मा को आप दीनदयाल कहते हैं। आप दीनदयाल के खानाजाद नौकर हैं। दीनदयाल वह कहलाता है जो गरीबों पर दया करे। परमात्मा के, जो गरीब पर दया करता है, आप खानाजाद नौकर हैं तो आपमें क्या लक्षण होना चाहिए? परमात्मा को दीन प्यारे लगते हैं और आपको कौन प्यारे लगते हैं? दीन या ढोंग? दीन प्यारे लगते हों तब तो वह दीनदयाल तुम्हारा और तुम उसके सेवक, अगर ढोंग प्यारे लगें तो क्या तुम उसके सेवक-नौकर कहला सकते हो? नहीं।

माया से माया मिली, कर कर लम्बे हात।
तुलसीदास गरीब की, कोइ न पूछे बात।

मित्रो! परमात्मा को प्रसन्न करना हो, उसके प्रेम जगाना हो तो वह तुम्हारे सामने मूर्त्तिमान् खड़ा है। उसे अपना लो। दीन से प्रेम लगा कि समझ लो परमात्मा से प्रेम लग गया। और जो दीनो का गला काटने में हिचकता न हो, उन पर दया करना पाप समझो तो उस परमात्मा को दीन-दयाल कहने का तुम्हें अधिकार नहीं है। ईश्वर से प्रेम बाँधने का उपाय दीनो के प्रति हृदय में दयाभाव रखना ही है। उन पर दया का भाव रक्खो और उनके दुःख को अपना ही दुःख समझो। ऐसा करने पर तुम परमात्मा के खानाजाद सेवक कहला सकते हो।

संभव है, आप मेरे कथन के अभिप्राय को न समझे हों। इसलिए मैं एक दृष्टान्त द्वारा आपको समझा देता हूँ।

किसी हाकिम के सामने मुक़दमा पेश हुआ। हाकिम न्याय करने बैठा। वादी कहने लगा—गरीबपरवर, दीनदयाल,

मेहरबान, दया करके न्याय कीजिए। मेरी इस पर इतनी रकम बाकी है। यह देता नहीं है। दया करके दिलवा दीजिए।

प्रतिवादी कहता है—दीनानाथ, मेरा उलटा इस पर इतना लेना बाकी है। कृपा करके दिला दीजिए।

अब बतलाइए, हाकिम किस पर दया करे ?

इतने में पहला कहता है—मेरा लेना इससे दिला दीजिए। इसकी मत सुनिये। यह मुझ मे जो रकम माँगता है, उस पर आप विचार मत कीजिए। आप तो मेरा लेना मुझे दिला दीजिए।

हाकिम अगर इसी के कथनानुसार दूसरे की न सुनकर उससे रुपया दिलवा दे तो क्या यह न्याय होगा ?

'नहीं।'

यदि वह हाकिम, हाकिम है तो यही कहेगा कि उसका देना उसे चुकाओ और अपना लेना तुम ले लो। ऐसा कहने वाला हाकिम ही न्यायी कहा जायगा, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार आप परमात्मा को दीनदयाल कहते हैं तो दीन लोग आपसे अपना देना माँगते हैं, अपना हक चाहते हैं। तुम उन पर करुणा करो। तभी तुम परमात्मा की करुणा चाह सकते हो। तुम किसी पर करुणा न करो और फिर भी परमात्मा की करुणा चाहो तो, अगर वह न्यायी है तो, आप पर दया कैसे करेगा ?

भक्त कहते हैं—मैं उस परमात्मा का खानाजाद तभी होऊँगा जब तन, मन, धन उसको समर्पित करके उसकी भक्ति

करूँगा। जब सर्वस्व समर्पण करके कहा जाय—प्रभो ! मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो केवल तेरा प्रेम चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—भगवान् तो वीतराग हैं। उन्हें तन, मन और धन की आवश्यकता नहीं है। फिर यह सब उन्हें किस प्रकार समर्पित करना चाहिए ? कैसे उसका खानाजाद बनना चाहिए ? इसका समाधान इस प्रकार है:—

भगवान् की भक्ति और तन दोनों हैं तो भक्त कहेगा कि भक्ति भी रहे और तन भी रहे, मगर यदि कोई ऐसा समय आ जाय कि जब या तो भक्ति ही रहे या प्राण ही रहें, तो उस समय किसकी रक्षा की जाय ? भक्ति और प्राण में से किसे बचाया जाय ?

जो प्राणों की परवाह न करके भक्ति की रक्षा करे उसी को सच्चा भक्त समझना चाहिए। यही भक्त की पहिचान होती है। साधारण लोग कहेंगे—हम भक्ति लेकर क्या करें ? हमें धन चाहिए। धन के लिए ही तो भक्ति करते हैं। धन त्यागना पड़ा तो भक्ति किस काम की ? और तन के लिए भी यही बात है। भक्ति जाय तो भले जाय पर तन नहीं जाना चाहिए।

देव तलवार लेकर कामदेव श्रावक के सामने खड़ा था। वह कह रहा था—'महावीर के धर्म का त्याग कर दे, अन्यथा तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा।' ऐसे समय में क्या करना चाहिए ?

'अरणक ने जो किया वही करना चाहिए।'

'अरणक ने क्या किया ?'

'तन-धन त्याग दिया।'

तन के टुकडे-टुकडे हो जाने पर भी आत्मा को हाथ लगाने की किसी में शक्ति नहीं है। आत्मा कदापि नहीं मर सकता। तन जाता है तो जाय, तन के बदले धर्म है, ऐसी दृढ़ता धारण करने पर ही परमात्मा के प्रति सच्चा प्रेम होगा।

अर्जुन माली प्रतिदिन छह पुरुषों की और एक नारी की हत्या करता था। उसके डर के कारण कोई भी पुरुष भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए जाने का साहस नहीं कर सका। दर्शन और वन्दना करने जाएँ तो कैसे जाएँ! रास्ते में अर्जुन मुद्गर लिये, प्राण लेने को बैठा है। मगर सुदर्शन सेठ सच्चा श्रावक था। वह ऐसे विकट संकट के समय भी, अर्जुन माली के मुद्गर की परवाह न करके भगवान् की वन्दना करने के लिए चल दिया। लोगों ने समझाया, वह नहीं माना। अगर उसे प्राणों का मोह होता तो और लोगों की तरह वह भी क्या घर से निकलता?

'नहीं!'

इसी को कहते हैं समर्पण। भगवान् के आगे तन, मन, धन के ममत्व को त्याग देना ही समर्पण करना कहलाता है। भक्त के हृदय में ईश्वर का प्रेम है तो वह तन, मन, धन की चिन्ता नहीं करता। वह परमात्म-प्रेम के लिए तन, मन, धन समर्पित करने से तनिक भी नहीं हिचकता।

सुदर्शन ने भगवान् की भक्ति के लिए, परमात्म-प्रेम के लिए अर्जुन माली का भय नहीं किया तो अर्जुन उसका बाल भी बांका कर सका?

'नहीं!'

यह तो केवल भक्ति की कसौटी की। यदि आपको परमात्मा से प्रीति है, तो उसकी भक्ति प्रिय है, तन, मन, धन का मोह त्यागना पड़ेगा। या तो ईश्वर से प्रेम कर लो या इन चीजों से प्रेम कर लो। एक साथ दोनों से प्रेम नहीं हो सकता। मन, वचन और तन को एकत्र करके, उस दीनदयाल के प्रेम की मूर्ति हृदय में धारण करके जो पुरुष उसकी भक्ति के रंग में रँगा रहता है, वह भक्त शीघ्र ही अपना कल्याण करेगा।

आप सुबह से शाम तक कितने कीड़े देखते हैं? उन कीड़ों-मकोड़ों में भगवान् का गुणगान करने की शक्ति है?

'नहीं!'

उनमें परमात्मा को समझने की योग्यता है?

'नहीं!'

तो इन कीड़ों-मकोड़ों को देखकर यह विचार करना चाहिए कि इन योनियों में मैं कई बार जन्मा हूँ और मरा हूँ। अनादि काल-अबतक का सम्पूर्ण समय मैं ने इन्हीं योनियों में व्यतीत किया है। मुझे परमात्मा के गुणगान का अवसर नहीं मिला। आज मैं मनुष्य की अवस्था में हूँ और मेरे लिए भजन करने के सब साधन प्रस्तुत है। अगर आज भजन न करूँगा तो फिर कब करूँगा? कीड़ों-मकोड़ों और अपनी स्थिति का मिलान करके सोचना चाहिए कि आज यदि भगवान् के भजन का अवसर न साधूँगा तो कब साधूँगा? मेरी और कीड़ों की स्थिति में क्या अन्तर है? अगर आप यह मानें कि मैं कीड़ो से बड़ा हूँ, मुझमें कीड़ो को मसल डालने की शक्ति विद्यमान है, तो क्या आपकी शक्ति इसी लिए है?

छोटे प्राणियों को नष्ट करने में ही आपकी शक्ति की सार्थकता है ? वास्तव में नाश करने वाला बड़ा नहीं कहलाता।

संतों और सतियो को भी विचार करना चाहिए कि हम ससार में सब से बड़े दर्जे पर है। यह बड़प्पन हमें ईश्वर की आराधना करने—आत्मकल्याण करने की प्रतिज्ञा के कारण प्राप्त हुआ है। अतएव हमें ईश्वरभजन करने का यह अवसर नहीं चूकना चाहिए।

मित्रो ! कीड़ों-मकोड़ो में और आपमें जो विशेपता है उस विशेपता से आपने लाभ न उठाया तो आपमें और उनमें अन्तर ही क्या रहा ? विषयो का आनन्द तो कीड़े भी लूटते हैं। मिष्ट पदार्थ वे भी खाते हैं। बल्कि एक दिन मैंने कहा था कि मनुष्य, कीड़ो-मकोड़ो का जूठा खाते हैं। भ्रमर का सूंघा हुआ फूल सब सूंघते हैं। मक्खियो का जूठा शहद सब खाते हैं। अधिक क्या कहूँ, आप जो रेशम पहनते हैं वह कीड़ों का ही कलेवर है। कीड़ों के सुन्दर शरीर को नष्ट करके तुम सजे हो। इसे पहन कर गर्व मे मत फूलो, बल्कि लज्जित होओ। अपने घर का भी गर्व मत करो। कीड़े ऐसा घर बनाते हैं जो उनकी शक्ति के अनुसार बहुत बड़ा गिना जा सकता है। कीड़ियों को देखो, कैसे बिल बनाती हैं। उनका शरीर देखते हुए उनका घर बड़ा है या तुम्हारे शरीर को देखते हुए तुम्हारी हवेली ? यह भी तुमने दूसरे पुरुषों की सहायता लेकर बनाई है। कीड़ियाँ किसी मनुष्य की सहायता न लेकर पृथ्वी के भीतर से मिट्टी निकालकर चढ़ती और अपना घर बनाती हैं। ऐसी अवस्था मे 'तुम कीड़ों से बड़े कैसे रहे ? जरा विचार

करो कि यह शरीर सांसारिक भोगों में लगाने के लिए है अथवा परमात्मा का भजन करने के लिए है ?

मनुष्य-शरीर की सामग्री अगर उन भोगों में लगाई, जिन्हें कीड़े भी भोगते हैं तो मनुष्य एक बड़े कीड़े के समान ही है। यही सोचकर ज्ञानी कहते हैं कि आज मैं परमात्मा के गुण गाऊँगा। इसके अतिरिक्त मनुष्य-देह का दूसरा कोई फल नहीं है। जो ज्ञानी हैं वे इस मनुष्यशरीर द्वारा बड़ी सिद्धि प्राप्त करने से कभी नहीं चूकते। कौन ऐसा समझदार मनुष्य है जो रत्न को दमड़ी के मोल बेचकर रत्न का अपमान करे ? और जहाँ पर्याप्त लाभ होता हो वहाँ सच्चा जौहरी रत्न खर्च करने से भी कभी नहीं चूकेगा।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज एक दृष्टान्त दिया करते थे। वही दृष्टान्त मैं आपको सुनाता हूँ :—

किसी नगर से तीन जौहरी व्यापार के उद्देश्य से बाहर निकले। पहले के जौहरी आदि व्यापारी देहात आदि में भ्रमण करने निकल जाया करते थे। तदनुसार यह जौहरी भी पृथक्-पृथक् बाहर निकले। एक को दूसरे के निकलने का हाल मालूम नहीं था।

एक ग्राम में किसी कृषक को कृषि-कार्य करते समय एक हीरा मिला। कृषक हीरे को पहिचानता तो था नहीं, उसने एक सुन्दर पत्थर समझ कर उठा लिया। सोचा—अगर पैसे-दो पैसे मे बिक जायगा तो अच्छा ही है। उसी ग्राम मे एक वणिक् रहता था और नमक-तमाखू आदि का व्यापार करता था। कृषक हीरा लेकर उसके पास पहुँचा। वह भी हीरे का

परीक्षक नहीं था। फिर भी उसे वह अच्छा लगा। उसकी तराजू में पासंग था। हीरा पासंग के बराबर हो गया। इस कारण उसने अपनी तराजू में बांध कर पासंग मिटा लिया और कृषक को दो पैसे का सौदा उसके बदले दे दिया।

एक जौहरी घूमता-फिरता उसी ग्राम में आया। उसे भूख लगी थी। वह खाने का सामान लेने उस वणिक् की दुकान पर आया। खाने के सामान में वणिक् की दुकान पर भुने चने थे। वणिक् ने जब चने तौलने के लिए तराजू उठाई तो जौहरी को वह हीरा दिखाई दिया। देखते ही वह हीरे की उत्तमता को समझ गया। उसने सोचा—हीरा मूल्यवान् तो है, मगर इसका भेद खोल दिया तो बनिया देगा नहीं, या बहुत मूल्य माँगेगा। अतएव जौहरी ने कहा—तराजू में यह कंकर क्यों बाँध रक्खा है सेठजी ?

वणिक्—आ गया, इससे बाँध दिया है।

जौहरी—इसे बेचते हो ?

वणिक्—हम व्यापारी हैं। पैसे मिलें तो थाली की रोटी भी बेच दें। फिर इसकी तो बात ही क्या है!

जौहरी—क्या लोगे ?

वणिक् जानता था कि यह जौहरी है। बिना मतलब कंकर क्यों खरीदने लगा ? उसने फिर भी डरते-डरते कहा—सौ रुपये लूँगा।

जौहरी ने सोचा—चीज़ तो बहुत मूल्यवान है और माँगता है सौ रुपया। मगर सौ में से भी बचें उतना ही लाभ है। यह सोचकर उसने कहा—पचहत्तर रुपये ले लो।

वणिक् ने जौहरी की बात सुनकर सोचा—मैं इसे दो चार पैसों का समझता था, पर जौहरी की बात से ७५) रु० का पक्का ठहरा ! संभव है और भी ज्यादा कीमत का हो उसने जौहरी से कहा—एक कौड़ी भी कम न लूंगा।

जौहरी ने सोचा—सौ रुपया तो माँगता ही है। यह दूसरा कोई इसका ग्राहक नही। जल्दी क्यों करूँ ? मान जायगा तो ठीक, नहीं तो दस-बीस ज्यादा देकर ले लूँगा। यह सोच कर उसने कहा—ठीक है, आटा-सामान दे दो रोटी बनाकर खा लें। फिर जैसा होगा, देखा जायगा।

जौहरी बहुत खुश था कि आज बाहर निकलना सार्थक हो गया। १००) रु० में लाख रुपयों की चीज़ मिल रही है। अब वह अपनी ही है। दूसरा कौन लेगा ? यह सोचकर वह भोजन बनाने-खाने में लग गया।

संयोगवश दूसरा जौहरी भी उस वणिक् की दुकान पर पहुँचा। उसने भी खाने-पीने के सामान के विषय में पूछ-ताछ करते समय उस हीरे को देखा और उसकी कीमत पूछी। वणिक् ने सोचा—उससे १००) रु० माँगे थे, इससे हजार क्यों न कह दूं ? और उसने एक हजार रुपया कीमत कह दी। पहले जौहरी की तरह इसने भी लोभ में पड़कर आठ सौ कहे। वणिक् ने देने से इन्कार कर दिया। इस जौहरी ने भी पहले के समान ही सोच कर रत्न लेने में ढील की। यह भी भोजन बनाने-खाने में लग गया। वणिक् ने सोचा—चलो, १००) रु० के बदले ८००) रु० का माल तो पक्का हुआ।

दोनों जौहरी अलग-अलग भोजन बनाने में लग गये। दोनों अपने-अपने मन में प्रसन्न थे। अतः दोनो माल-मसाला उड़ाने में मस्त हो गये।

इसी बीच तीसरा जौहरी भी वणिक् की दुकान पर जा पहुँचा। उसने भी भोजन-सामग्री के विषय में प्रश्न करके आटा-दाल आदि तुलवाना चाहा। वणिक् ने तराजू उठाई। जौहरी की नजर हीरे पर पड़ी। उसने भी पूछा—इसे बेचते हो?

वणिक्—बेच भी देंगे।

जौहरी—क्या लोगे ?

वणिक् ने सोचा—दूसरे से एक हजार माँगे थे। इससे एक बिन्दु और बढ़ाकर क्यों न माँगूं ? और उसने दस हजार मोल बता दिया।

जौहरी ने सोचा—इस पर किसी का हाथ पड़ गया है, अन्यथा दस हजार माँगने की इसकी हिम्मत नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त वणिक् अगर इसकी इतनी कीमत समझता तो इसे तराजू में न बाँध रखता। लेकिन अब इन बातों पर विचार करना वृथा है। जब हमें ९० हजार का लाभ हो रहा है तो यह दस हजार क्यों न पावे ?

जौहरी ने कहा—अच्छा, दस हजार लो और यह कंकर मुझे दे दो।

वणिक् ने सोचा—चीज तो कोई बहुत कीमती है, पर मुंह से कह दिया है। अगर बहुत कीमती है तो इसका भाग्य। मुझे तो दो पैसे की तमाखू में मिली है।

वणिक् ने हीरा तराजू से खोल कर जौहरी को दे दिया और जौहरी ने दस हजार की हुंडी दे दी। इसके पश्चात् जौहरी ने पूछा—इसे खरीदने के लिए और भी कोई आया था ? वणिक् ने कहा—दो जौहरी पहले आये थे। वे रोटी बनाने-खाने में लगे हैं।

जौहरी ने सोचा—अब यहाँ ठहरना झगड़े में पड़ना है। और उसने चने खरीद कर, जेबों में डाले और अपने घर की ओर रवाना हो गया।

पहला जौहरी भोजन और विश्राम करके तीसरे पहर वणिक् के पास आया। उसने कहा—सौ रुपये तो बहुत होते हैं। जरा विचार कर कहो।

वणिक्—किस चीज़ का सौ रुपया बहुत है ?

जौहरी—उस कंकर का।

वणिक्—वह कंकर नहीं था। वह तो एक बड़ी चीज़ थी।

जौहरी—(आश्चर्य से) थी, तो क्या अब नहीं है ?

वणिक्—नहीं, वह तो बिक चुकी।

जौहरी—कितने में ?

वणिक्—दस हजार में।

जौहरी—सेठ, तुम डूब गये !

वणिक्—क्यों ?

जौहरी—वह तो एक लाख की चीज़ थी !

वणिक्--तो मैं कैसे डूबा ? डूबे तो तुम डूबे ! वह लाख रुपये की है, यह तुम जानते थे, मैं तो नहीं जानता था ! मेरे यहाँ वह दो पैसे में आई और दस हजार में बिकी !

इतने में दूसरा जौहरी चिल्लाता हुआ आया—खबरदार ! चीज़ पहले मैंने देखी है, मैं लूँगा। जौहरी ने कहा--अब क्या लोगे, वह तो पहले ही ले ली गई !

जौहरी बोला--सेठ, तुमको बहुत घाटा हुआ है। अब तुम मानो और उसे मुझे बेच दो। हम उस जौहरी पर दावा करके उससे चीज़ ले लेंगे।

वणिक् ने कहा—ऐसे झूठे काम तुम करो, मैं नहीं करता। तुम आठ सौ में ले जाते, उसका तो दावा नहीं, और वह दस हजार में ले गया सो उस पर दावा ! मुझसे यह नहीं होगा।

अन्त में दोनों जौहरी पश्चात्ताप करने लगे कि थोड़े-से लोभ में बड़ा लाभ गँवा दिया !

तीसरा जौहरी नीतिमान् था। उसने उस वणिक् के साथ भाईचारा जोड़ा। उसने कहा—तुम मेरे सेठ हो और मैं तुम्हारा ग्राहक हूँ। मेरे साथ परायापन न रख कर सदा मिलते रहा करो।

धीरे-धीरे उसने वणिक् को शहर के व्यापार से परिचित करके उसे अच्छा व्यापार करा दिया।

मित्रो ! इन जौहरियों में कौन प्रवीण है ?

'तीसरा।'

इस कथा का प्रमाण शास्त्र में भी मिलता है। शास्त्र में पाठ आता है—

जहा य तिन्नि वाणिआ, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोत्थ लहइ लाहं, एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलं पि हारित्ता आगया तत्थ वाणिया।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह॥

श्री उ० ७वा अ० १५-१६ गा०

अर्थात् तीन वणिक् व्यापार के लिए निकले। उनमें से दो तो गफलत में रह गये और एक बाजी मार गया।

लेकिन हमें इन व्यापारियों की बात सुन कर अपने विषय में विचार करना चाहिए। हम किस जौहरी का अनुकरण करें?

भाइयो! धर्म हीरा के समान है। हीरे का तो मूल्य हो भी सकता है पर धर्म सर्वथा अमूल्य है। इस अनमोल धर्म-रत्न को खाने-पीने और गुलछर्रे उड़ाने में मस्त रहकर खो देने से अन्त में पश्चात्ताप का ही भागी होना पड़ता है। पश्चात्ताप करने पर भी बिगड़ी बाज़ी का सुधरना कठिन है। इसलिए विवेक का उपयोग करो। ऐशो-आराम में जीवन की यह अनमोल घड़ियाँ मत खोओ। धर्म के लिए समय मिलने पर भी धर्म-ध्यान न करके समय खोना कितना अनुचित है? भजन में कल्याण जान करके भी भजन न करना और दूसरी गप्पों में पड़ना अदूरदर्शिता है। लोग समझते हैं कि भजन करने का समय वही है जब माला हाथ में लेकर बैठें। उस

समय भी उन्हें नींद आती है और माला हाथ में पड़ी रह जाती है। भजन करने का यह तरीका नहीं है। भजन ऐसे होता है—

आज म्हारा संभव जिनजीरा,
हित चित से गुण गास्या राज।

आज मैंने मनुष्य-अवस्था पाई है। मुझे भजन करने का अवसर मिला है। इसलिए मैं सभवनाथ भगवान् का भजन करूँगा। और—

मन वच काय लाय प्रभु सेती,
निश दिन श्वास उश्वासा।
संभव जिनजी की मोहनी मूरत,
हिये निरन्तर ध्यासा राज॥ आज०॥

संभवनाथ भगवान् की मोहिनी मूर्ति हृदय में बैठते ही अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होगी।

मित्रो! जो आयु गई सो गई, परन्तु जो रही है उसे तो रक्खो! मेरा यह सन्देश है कि ईश्वर भजन के आनन्द को छोड़ कर गन्दी बातों में मत पड़ना। यह सही है कि आप गृहस्थी में रहते हैं, मगर गृहस्थी में रहकर भी विकथा छोड़ो और भगवद् भजन मे समय लगाओ। इतना करने से भी दुःख से बचोगे।

[ख]

भगवान् संभवनाथ की यह स्तुति है। भगवान् संभव-नाथ के नाम या परमात्मा के और नामों से प्रीति होने में

क्या गुण है ? तथा परमात्मा का हित-चित्त से गुणगान किस प्रकार करना चाहिए ? इस विषय पर मैं थोड़ा-सा प्रकाश डालना चाहता हूँ।

कई भाइयों का कहना है कि परमात्मा को हमने देखा नहीं है, तब उसके गुणों से या उसके गुणगान से हमें अनुराग किस प्रकार हो सकता है ? उनके इस कथन में परमात्मा के प्रति संदेह मौजूद है। इस संदेह के कारण वे परमात्मा का गुणगान करने से उदासीन रहते हैं। किन्तु जिन्हें इस प्रकार का सन्देह नहीं है उन्हें भी गुणगान में वैसा तल्लीन नहीं देखते जैसे कि वे लक्ष्मी के गुणगान और आराधन में रहते हैं। वे लोग—

भज कल्दारं भज कल्दारं, कल्दारं भज मूढमते।

इस मन्त्र में जितना चित्त लगाते हैं उतना परमात्मा के भजन में नहीं लगाते। वे कल्दार में अपना हित देखते हैं, इसीलिए उसमे उनका चित्त ज्यादा लगता है। परमात्मा तो दिखाई नहीं देता और रुपया गोल-गोल चमकता हुआ नजर आता है। अतः उसमें विशेष प्रीति होती है। किसी ने कहा है:—

मात कहे मेरा पूत सपूता,
बहिन कहे मेरा भैया।
घर की जोरू यों कहे,
सब से बड़ा रुपैया॥

मतलब यह है कि रुपया आँखों से दिखाई देता है और उससे होने वाला हित भी प्रत्यक्ष है, इस कारण लोग उससे

प्रीति करते हैं। और परमात्मा दीखता नहीं है, इसीलिए उसके विषय मे संदेह करते हैं या उसकी उपेक्षा करते हैं।

यद्यपि इस विषय को सरलता से समझाना और समझना कठिन है, तथापि ध्यान देने से जल्दी समझा भी जा सकता है।

किसी वस्तु को जानने और समझने के लिए अकेला प्रत्यक्ष ही साधन नहीं है। हम लोगो के प्रत्यक्ष प्रमाण से तो बहुत कम, स्थूल, समीपवर्त्ती पदार्थ ही जाने जाते हैं। इनके अतिरिक्त बहुत बड़ी वस्तुराशि ऐसी है जो प्रत्यक्ष से हमे नहीं जान पड़ती। उसकी भी सत्ता है और वह भी प्रमाणसंगत है। उसका दर्शन हमें या तो कारणसंबंध से होता है या कार्य-संबध से अथवा आगम से। किसी वस्तु का दर्शन कारण-संबंध से होता है और किसी का कार्यसंबंध से। इस विषय को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—

आप यमुना के किनारे खड़े हैं। आप जिस जगह खड़े हैं उस जगह से यद्यपि यह नहीं दिखाई देता कि यमुना कहाँ से निकली है और कहाँ तक गई है। आप उसका आदि अन्त नहीं देख पाते। फिर भी उस बीच के भाग को देखकर यह अवश्य विश्वास करते हैं कि जब यमुना का बीच है तो उसका आदि और अन्त भी कहीं न कहीं होगा ही। अब विचारना चाहिए कि आपने यमुना के आदि और अन्त को, प्रत्यक्ष न देखने पर भी कैसे समझ लिया ? इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य के पास ऐसा भी कोई ज्ञान है जो प्रत्यक्ष से भिन्न है और उस ज्ञान का उपयोग वह सदा किया

करता है। अगर वह ज्ञान, जिसे न्याय शास्त्र में अनुमान और तर्क आदि नामों से कहा गया है, न हो तो लोकव्यवहार एक दिन भी चलना कठिन हो जायगा। फिर क्या कारण है कि लौकिक बातों में लोग जिस ज्ञान का उपयोग करते हैं, उसका धार्मिक बातों में नहीं करते? ईश्वर के विषय में क्यों कहा जाता है कि वह प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता, इसलिए उसका अस्तित्व ही नहीं !

अगर परमात्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष से दिखाई नहीं देता तब भी वह अनुमान प्रमाण से और आगम प्रमाण से सिद्ध है। प्रत्यक्ष भी सिर्फ इन्द्रियों से नहीं होता। उसका दायरा भी बहुत विशाल है। इन्द्रियों से होने वाला प्रत्यक्ष तो सिर्फ लौकिक-व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष कहलाता है। असली प्रत्यक्ष वह नहीं है। असली प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रिय या मन के द्वारा न होकर सीधा आत्मा से ही होता है। ऐसा प्रत्यक्ष योगियो को होता है, इसलिए वह योगिप्रत्यक्ष भी कहलाता है। योगिप्रत्यक्ष परमात्मा के स्वरूप को साक्षात् जानता है। अतएव यह कहना कि प्रत्यक्ष से परमात्मा नहीं दिखाई देता, ठीक नहीं है। उस प्रत्यक्ष को पाने के लिए साधना और तपश्चर्या की आवश्यकता है। जो लोग सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ साधना में निरत रहते हैं उनमें अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। उनके आत्मा के बन्धन कट जाते हैं। वे परमात्मा के स्वरूप को देखते ही नहीं, स्वयं भी क्रमशः परमात्मा बन जाते हैं। यह अन्तिम सिद्धि है। इसका आरम्भ परमात्मा के प्रति श्रद्धा और प्रीति से होता है। श्रद्धा और प्रीति को उत्पन्न करने के लिए भगवान् का नाम-स्मरण सर्व प्रथम उपयोगी होता है।

मित्रो ! परमात्मा के नाम-स्मरण मे और ध्यान में अपूर्व शक्ति है। उसकी महिमा का बखान करना मेरे लिए संभव नहीं है। बड़े-बड़े महात्मा, संत और पण्डित भी हार मानते हैं। परमात्मा के ध्यान और स्मरण से अत्यन्त कठोर कर्मों का भी विनाश हो जाता है। आपके कल्याण का सरल से सरल कोई मार्ग अगर है तो यही है। अगर आपके चित्त में अपना कल्याण करने की इच्छा जागी हो तो आप इस उपाय का सहारा लीजिए। निस्सँदेह आपका कल्याण होगा।



४-श्री अभिनन्दन स्वामी



प्रार्थना ।

श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन, वन्दन पूजन योगजी ।
आशा पूरो चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोगजी ॥१॥

'संवर' राय 'सिधारथ' राणी, तेहनो आतमजातजी ।
प्राण पियारो साहब सांचो, तू ही मात ने तातजी ॥२॥

कइएक सेव करें शंकर की, कइएक भजें मुरारजी ।
गणपति सूर्य उमा कइ सुमरें, हूं सुमरु अविकारजी ॥३॥

देव कृपा सूं पामें लक्ष्मी, सो इण भव को सुखजी ।
तो तूठां इन भव परभव में, कदी न व्यापे दुःखजी ॥४॥

यद्यपि इन्द्र नरेन्द्र निवाजे, तदपि करत निहालजी ।
तू पूजनीक नरेन्द्र इन्द्र को, दीनदयाल कृपालजी ॥५॥

जब लग आवागमन न छूटे, तब लग ए अरदासजी ।
सम्पत्ति सहित ज्ञान समकित गुण, पाऊँ दृढ़ विश्वासजी ॥६॥

अधम उधारण विरुद तिहारो, जोवो इण संसारजी ।
लाज 'विनयचन्द' की अब तो ते, भवनिधि पार उतारजी ॥७॥



[क]

श्री अभिनन्दन दुःख निकंदन,
वंदन पूजन जोग जी ॥

प्राणी का स्वभाव है कि वह अपने लिए सब कुछ करता है। लोक कहते हैं, अमुक आदमी अमुक का काम करता है, पर जरा गहराई से सोचें तो प्रकट होगा कि सब अपने-अपने काम में लगे हैं। कोई किसी दूसरे के काम मे नहीं लगा है। जिस पदार्थ का जो स्वभाव या गुण है, उसके अनुसार वह वर्त्त रहा है और दूसरे लोग उससे भले लाभ उठा लें। उसी वर्त्तना के द्वारा हम बहुत-से पदार्थों को जानते है।

प्रकाश और उष्णता देने के कारण हम सूर्य को सूर्य मानते हैं। जल अगर प्यास न बुझावे तो उसे जल कौन कहे? पवन श्वास न दे तो वह पवन ही क्या! तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अपने-अपने काम में लगा है। जिस परमात्मा के हम गीत गाते हैं उसमें यदि दूसरे के दुःख को हरण करने की अलौकिक शक्ति न होती तो उसे भी कोई परमात्मा न कहता। इस गुण का जिसमें अभाव है वह परमात्मा नहीं कहलाता।

हम अपनी आत्मा को सुखी बनाने के लिए परमात्मा को मानते-पूजते हैं। अपनी आत्मा के सुख के लिए उसे मानना पड़ता है। प्यासा पुरुष पानी से रूठ कर बैठ जाय, भूखा आदमी भोजन पर कुपित होकर बैठ जाय, जो अँधेरे में है वह अगर प्रकाश से रूठ जाय तो इसमें हानि किसकी? रूठने वाला हानि उठाएगा या जिनसे रूठा है वे पदार्थ हानि उठावेंगे?

'रूठने वाला !'

इसी तरह हम परमात्मा से रूठ कर बैठ रहें, उससे प्रीति न करें तो इसमें परमात्मा की कुछ हानि नहीं है, बल्कि हमारी ही हानि है। आधि व्याधि रोग दुःख आदि से घिरा हुआ मनुष्य अगर उस दुःख हरने वाले को याद न करे, परमात्मा उसे न सुहावे तो समझना चाहिए कि उसका दुर्भाग्य है।

लोग अपने भाग्य को इसी में अच्छा समझते हैं कि उन्हें भोजन, पानी, प्रकाश और वैद्य आदि यथासमय मिल जाते हैं। वे इन छोटी-छोटी बातों से अपना सद्भाग्य समझ लेते हैं। इसी तरह भक्त लोग ईश्वरभक्ति में सुख मानते हैं। उसके मिल जाने पर अपने भाग्य को सद्भाग्य समझते हैं। वे कहते हैं—

श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन, वंदन पूजन जोग जी,
आसा पूरो चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोग जी।

हे अभिनन्दन, तू दुःख का नाश करने वाला है, इसी लिए तू वंदनीय और पूजनीय है।

लोग आज सब तरह से दुःखी हैं परन्तु भगवान् से, जिनमें दुःखों के नाश करने का गुण है, विमुख रहते हैं। ऐसा तो कहीं नहीं देखा जाता कि प्यास लगने पर मनुष्य पानी के पास न जाते हों और उसकी इच्छा न करते हों, बल्कि पानी के पास जाते हैं और पानी की इच्छा करते हैं, परन्तु दुःख में पड़े हुए भी भगवान् की इच्छा करने वाले बहुत कम हैं।

लोग दुःख में पड़े हुए हैं, फिर भी भगवान् से विमुख हैं। इसका कारण क्या है ? इस कारण पर विचार करोगे तो परमात्मा से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित होगा। परमात्मा का सच्चा स्वरूप क्या है ? और दुःख कैसे पैदा होते तथा कैसे नष्ट होते हैं ? यह जान लेते तो परमात्मा से विमुख न होते। किन्तु दुःख क्या है, दुःख का रूप क्या है, यह नहीं जानते और इसी कारण परमात्मा से विमुख हो रहे हैं।

दाद रोग वाले दाद को खुजलाते हैं। क्या उससे आराम मिलता है ?

'नहीं !'

फिर भी क्या लोग खाज को खुजलाते नहीं हैं ? ऐसे ही अज्ञानी सुख और दुःख की अज्ञानता के कारण परमात्मा से भेंट नहीं करता और उससे विमुख रहता है। जो सुख और दुःख को समझ लेगा, वह परमात्मा से भेंट किये बिना कदापि न रुकेगा।

सुख और दुःख वास्तव में क्या चीज़ है ? लोग मानते हैं कि इच्छित वस्तु का मिलना सुख और न मिलना दुःख है। परन्तु मनमानी चीज़ मिल जाना सुख कैसे है ? उसी चीज़ से एक सुख मानता है और दूसरा दुःख मानता है, फिर वह चीज़ सुखदायक कैसे हुई ? सोने के आभूषण पहनने वाली को पीतल के आभूषण दो तो वह प्रसन्न होगी ?

'नहीं !'

और जिसे पीतल के भी आभूषण न मिलते हों, उसे पीतल के आभूषण दो तो वह प्रसन्न होकर पहनेगी और सुख

मानेगी। वास्तव में संसार की इन सामान्य वस्तुओं में सुख और दुःख अज्ञान से पैदा होते हैं। इनका मिलना सच्चा सुख नहीं है।

कुत्ता सूखी हड्डी चबाते समय, अपनी दाढ़ से निकलने वाले खून को चाट कर खुश होता है। वह समझता है कि संसार में इससे बढ़ कर कोई चीज ही नहीं है। पर आप सूखी हड्डी चबाते देखकर उसे धिक्कारेंगे। इसका कारण क्या है? कुत्ता उसमें अपूर्व आनन्द मान रहा है और आप उसे धिक्कारते क्यों हैं? इसका कारण यही है कि उस कुत्ते को ज्ञान नहीं है और आपको ज्ञान है। ऐसा ही अन्तर आपमें और ज्ञानियों में है। आप संसार की वस्तुओं में सुख मानते हैं और ज्ञानी इन्हें नीरस, अनित्य और दुःख का कारण समझ कर छोड़ देते हैं। तुम्हारा सुख ज्ञानियों की दृष्टि में दुःख है। आप जब तक इन सांसारिक दुःखों को—जिन्हें आप सुख समझते हैं—सुख मानते रहेंगे तब तक असली सुख को न पा सकेंगे।

किसी ने मीरां बाई से कहा—तुम्हें राणा सरीखे पति, राज्य का सुख, वैभव आदि मिला है, फिर भी तुम उदासीन होकर साध्वी जैसी फिरती हो और संसार की कीमत नहीं समझतीं। इससे तुम्हें क्या आनन्द मिलता है?

मीरां ने उत्तर दिया—

सांसारीनो सुख काचो, परणी ने रंडापो पाछो,
तेहने घेर सिद जैये रे मोहन प्यारा।
मुखड़ानी माया लागी रे मोहन प्यारा।

मैंने संसार के सुखों की जाँच करली। वह सच्चे नहीं निकले! इन सुखों में मुझे सत्यता नजर ही नहीं आई। यह सुख झूठे हैं। मैं इन झूठे सुखों से प्रीति कैसे करूँ? इसीलिए मैंने परमात्मा से प्रीति की। विवाह का सुख सच्चा सुख नहीं है। मैं स्वामी की दासी बनूं, उनकी सेवा करूँ और ब्याह कर रंडापा भुगतूं! ऐसे कच्चे सुख में क्यों पड़ूं!

मित्रो! मीरां की इस बात पर आप यदि व्यापक दृष्टि से विचार करें तो आपको मालूम होगा कि संसार के सब सुख, सुख नहीं, अपितु दुःख हैं। जिन वस्तुओं से आप प्रेम करते हैं वे वस्तुएँ आपसे तो प्रेम करती ही नहीं, फिर आपके प्रेम करने से क्या लाभ? आपने सोने के कड़े से प्रेम किया। उसे पहन कर गर्व अनुभव किया, परन्तु वह कड़ा भी आप से प्रेम करता है?

'नहीं!'

फिर तुम कैसे कच्चे आदमी हो कि उस कडे से प्रेम करते हो और उस पर अभिमान भी करते हो?

उस कड़े को आपके सिर पर ही कोई दे मारे ता क्या वह सुख देगा? चोर चुरा ले जाय तो क्या वह जाने से इंकार कर देगा? आपको रोना पड़ेगा? फिर पहले ही क्यों नहीं विचार किया कि जिससे मैं प्रेम करता हूँ, वह मुझसे प्रेम ही नहीं करता। अगर प्रेम करता तो क्यों मेरा साथ छोड़ता! भाइयो, यह प्रेम मोह है, अज्ञान है।

इसी प्रकार संसार की और-और वस्तुओं की परीक्षा कर देखो। सब में ऐसी ही बात मिलेगी।

आप अपने शरीर से प्रेम करते हैं। जरा इसी की जाँच कर देखो कि यह आपको स्वीकार करता है या नहीं! कोई भी मनुष्य अपने बाल सफेद हुए देखना चाहता है?

'नहीं!'

सभी यह चाहते हैं कि मेरे बाल काले ही रहें। पर वे काले नहीं रहते, सफेद हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे यह शरीर किसका रहा—आपका या पुद्गलों का?

'पुद्गलों का!'

यह अपना कहना नहीं मानता और अपन इसका कहना मानें, यह कितना अज्ञान है! इस अज्ञान में लिप्त होकर लोग दुःखों को सुख समझते हैं। इस अज्ञान के मिट जाने पर ही समझ में आ सकता है कि दुःख क्या है और सुख क्या है!

मित्रो! यह संसारी सुख कच्चा है। इसके धोखे में पड़ना उचित नहीं है। इस सुख के प्रेम में पड़ना सच्चा प्रेम नहीं है। सच्चा प्रेम तो परमात्मप्रेम ही है जो कल्याणकारी है। परमात्मा से प्रेम करना ही सच्चा सुख है। परमात्मा के प्रति साधु होकर ही प्रेम किया जा सकता है और गृहस्थावस्था में नहीं किया जा सकता, ऐसा समझना भूल है। गृहस्थ भी अगर इतना समझ ले कि यह वस्तु, जो हम से प्रेम नहीं करती, वास्तव में हमारी नहीं है, तो वह दुःख से बच सकेगा।

सोने का कड़ा अगर चोर चुरा लेगया तो उसमें दुःख क्यों माना जाय? वह हमारा नहीं था। हमारे न होने का प्रमाण यही है कि चोर उसे ले गया। जो वास्तव में हमारा

है उसे चोर या और कोई ले ही कैसे सकता है ? कड़ा सुख के लिए पहना था, फिर उसके निमित्त से दुःख क्यो मनाया जाय ?

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के संबंध में अगर अनित्यता और अन्यता का विचार किया जाय तो दुःख नहीं होगा। ऐसा समझने वाले मौत को भी मंगलरूप समझते हैं। वे मौत से किंचित् भी भय नहीं करते।

जिस वस्तु से सुख लिया है, उस वस्तु के लिए अन्तरात्मा में क्लेश होने से कर्म-बन्धन होता है। ज्ञानी पुरुष उस वस्तु की अनित्यता समझ लेते हैं, अतः उन्हे न तो दुःख होता है और न कर्मबन्धन ही होता है।

दुःख किस प्रकार जीता जा सकता है ? यह बात समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए:—

किसी पेड़ की एक डाल पर एक पक्षी और एक बन्दर बैठा है। यह दोनों एक ही झाड़ के वासी लगते हैं, परन्तु बारीक नज़र से देखो तो दोनों के बैठने में अन्तर है। बन्दर पेड़ के बल पर बैठा है और पक्षी अपने पँखो के बल पर बैठा है। अगर पेड़ या उसकी वह डाल टूट कर गिर पड़े तो कष्ट बन्दर को ही होगा। चोट बन्दर को ही लगेगी। पक्षी तो उड़ जायगा।

हम अगर पक्षी की तरह रहें तो हमारा कल्याण है— अकल्याण नहीं। संसार-डाल यदि टूट कर गिर जाय तो हम नीचे न गिरें ऐसा प्रबन्ध कर लेना चाहिए। ज्ञानियों की यही

तो विशेषता है कि वे इस प्रकार का प्रबन्ध पहले ही कर लेते हैं। जो ऐसा नहीं करते, संसार सदैव उनके लिए दुःखदायी रहता है।

संसार की वस्तुएँ दुःखदायी न हों तो, इसके लिए क्या करना चाहिए ?

श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन, वन्दन पूजन जोगजी।
आशा पूरो चिन्ता चूरो, आपो सुख आरोगजी॥

भगवान अभिनन्दन की शरण में जाने से—उनकी भक्ति मे तल्लीन रहने से आत्मा दुःख में नहीं पड़ेगा। आप लोग आज मौज-मजे में डूब कर इस बात को भूल रहे हैं, परन्तु जिस दिन ससार की डाल टूटेगी उस दिन सैकड़ों पश्चात्ताप करने पर भी आप कुछ न कर सकेंगे।

आप मेरी बातों को भलीभांति समझ जाएँ, इसीलिए यह उदाहरण दिये हैं। महापुरुषों के चरित भी इसी के लिए हैं।

[ख]

प्राणी मात्र सुख की ही अभिलाषा करता है। दुःख कोई नहीं चाहता। सुख की प्राप्ति के लिए सब प्राणी न्यारे-न्यारे प्रयत्न करते हैं, परन्तु उन सबको यह ज्ञान नहीं है कि सच्चे सुख की कुञ्जी क्या है ? अर्थात् सच्चा सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है, जिसके मिलने पर दुःख न हो। इसी अज्ञान के कारण अधिकांश प्राणी सुख के इच्छुक होते हुए भी दुःख के भागी हो रहे हैं।

ठंडी बरसाती हवा चलने पर कीड़े-मकोड़े अपने-अपने स्थानों से बाहर निकल कर ऐसी जगह घूमने लगते हैं, जहाँ गाड़ी, तांगे आदि का आवागमन होता रहता है। यह कीड़े-मकोड़ बाहर तो सुख के लिए निकले थे, परन्तु ज्ञान न होने से सुख की वह चाह घोर दुःख का कारण बन जाती है और उन्हें प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञानहीन मनुष्य सुख के लिए उद्योग करता है, पर वह उद्योग दुःख का हेतु सिद्ध होता है। जिस वस्तु में सुख समझ कर उससे मोह करते हैं, वही दुखदायी हो जाती है। इसका कारण मनुष्य का अज्ञान ही है। अज्ञान के ही प्रताप से सुख चाहने और सुख के लिए प्रयत्न करने पर भी दुःख ही पल्ले पड़ता है।

कीड़े-मकोड़े तो अज्ञान हैं ही, परन्तु जो समझदार कहलाते हैं उनमें भी अज्ञान मौजूद है। यह समझ लीजिए। जिसको सादा अन्न भी नहीं पचता, वह मिष्टान्न क्यों खाता है?

'अज्ञान से।'

मिष्टान्न खाया जाता है सुख के लिए, मगर अज्ञान के कारण ही मिष्टान्न दुःखदायी हो जाता है। मनुष्य कहता है—क्या करूँ, पचता नहीं। वह पहले क्यों नहीं सोचता कि जब पचता नहीं तो खाऊँ क्यों?

आपके जीवन मे रात-दिन यह खेल होते हैं, पर अज्ञान के वश आप लोग इन पर विचार नहीं करते। अगर खाने और खेलने में ध्यान रक्खा जाय तो दुःख पास फटकने भी न पाय!

दस प्रकार की तरकारी, चटनी, आचार, पापड़ आदि किस लिए बनवाये जाते हैं ? इसीलिए तो कि बिना भूख भी इनके सहारे भोजन खाया जाय ! जिसे भूख लगने पर ही खाना है उसे इन चीज़ों की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं होती। भूख में तो रूखी-सूखी रोटी भी आनन्द ही देगी।

खाने में ही नहीं, पहनने-ओढ़ने तथा गहने आदि में भी देखते हो कि कितना दुःख है, परन्तु सुख की अभिलाषा से मोह के वश होकर उन्हीं को अपनाते जाते हो !

जो पुरुष विवेक को विस्मृत करके किसी काम को किये जाता है वह चाहे साधु हो या गृहस्थ, वह अज्ञानी ही कहलाएगा। यह अज्ञान पाप से पैदा होता है और उस पाप को काटने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की जाती है—

श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन,
वन्दन पूजन जोग जी।

इसके पश्चात् चाहा जाता है—

आसा पूरो चिन्ता चूरो,
आपो सुख आरोग जी।

जब हमारे हृदय में यह है कि हमारा दुःख नष्ट होना ही चाहिए, तब हमको भगवान् अभिनन्दन की शरण लेना उचित है। उनकी शरण में जाने से सब चिन्ताओं का नाश होकर आशाएँ पूरी होंगी और कभी नष्ट न होने वाला सुख प्राप्त होगा। इन भगवान् को दुःखनिकन्दन कहा है—अर्थात्

दुःखों का नाश करने वाले हैं। भगवान् दूसरों का दुःख नष्ट करते हैं, इसी से वह वन्दनीय हैं और पूजनीय हैं।

लोग सूर्य को वन्दनीय और पूजनीय इसलिए मानते हैं कि वह अंधकार का नाश करके आँखों को ज्योति देता है। मगर सूर्य के उपकार की व्याख्या इतनी ही नहीं है, बल्कि संसार के संचालन के लिए प्रकाश वही देता है। उसी के प्रताप से अन्न पकता है, जल बरसता है और फल-फूल उत्पन्न होते हैं। अपने शरीर में जो रक्त दौड़ रहा है वह सूर्य की ही गर्मी से। अपन जो शब्द सुनते हैं सो सूर्य के ही प्रताप से। यदि सूर्य वायु को गर्म न करे तो शब्द वहीं जाड़े में ठिठुर जाय—दूर तक पहुँचे ही नहीं। मतलब यह है कि जड़ पदार्थों का खेल सूर्य पर निर्भर है। ऐसी अवस्था मे अगर कोई सूर्य को वन्दनीय मानता है तो क्या वह सूर्य पर ऐहसान करता है?

'नहीं!'

इस चिदानन्द ने अनन्त सूर्यों का प्रकाश पाया है परन्तु इसके आन्तरिक कर्म नहीं कटे। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य के प्रताप से व्यावहारिक कार्य हुए, आन्तरिक कार्य नहीं हुए। यह चिदानन्द सूर्य-विमान में भी उत्पन्न हो आया, फिर भी इसका निस्तार नहीं हुआ। इसलिए अब भावसूर्य भगवान् अरिहन्त को देख। यह भगवान् अरिहन्त सूर्य की भांति, किन्तु आन्तरिक दुःख का नाश करने वाला है। इसलिए मेरा वन्दनीय और पूजनीय वही है।

प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान् आकर दुःखों का नाश तो करते नहीं, फिर उनकी प्रार्थना करने से क्या लाभ

है ? वह तो वीतराग हैं। उन्हें दूसरे के दुःख दूर करने और न करने से क्या मतलब ? इस प्रश्न का भी समाधान करना उचित है।

सूर्य अपने तेज से प्रकाशमान होता है। वह किसी को काम में लगाता है ? अर्थात् क्या वह यह कहता है कि तू यह काम कर ?

'नहीं !'

सूर्य सब को काम मे लगावे तो कोई गरीब रहे ?

'नहीं !'

यद्यपि सूर्य के निमित्त से वस्त्र-भोजन-सामग्री आदि की उत्पत्ति होती है, फिर भी अगर कोई कहने लगे कि जब सूर्य सब काम करता है तो मैं क्यों करूँ ? तो समझना कि ऐसा कहने वाला मूर्ख है। उसने सूर्य की असलियत ही नहीं समझी। सूर्य तो तटस्थ रहकर प्रकाश कर देता है और उसका प्रकाश होने पर सब अपने-अपने काम में लग जाते हैं।

इस प्रकार काम तो सब अपने ही करते हैं, परन्तु करते तो सूर्य के प्रकाश से ही हैं न ?

'हाँ !'

तो यह तात्पर्य निकला कि सूर्य निमित्त है और उपादान कारण दूसरे-दूसरे हैं। सूर्य रूप निमित्त के बिना वे काम नहीं हो सकते। संभव है, इतना कहने पर भी आप न समझे हों। इसलिए और सरल करके समझाता हूँ।

आप कलम से लिखते हैं। बताइए कर्त्ता आप हैं या कलम ? आप कहेंगे, कि कर्त्ता हम है और निमित्त कलम है। परन्तु दीपावली के दिन कलम की पूजा क्यों करते हैं? कलम बनाई है तुमने, और लिखते भी हो तुम्हीं, फिर पूजा करते हो कलम की। इसका क्या कारण है ?

'वह सहायता देती है !'

इसी तरह परमात्मा काम नहीं कराता। वह तो तटस्थ है, मगर उसी की बताई हुई क्रिया से ही काम होता है। इससे सूर्य की महिमा सूर्यभक्तों ने गाई है और परमात्मा की महिमा परमात्मा के भक्तों ने गाई है!

जिस तरह अक्षर लिखने में कलम सहायक होती है, उसी तरह यदि परमात्मा मोहादि का नाश करने में सहायक न हो तो कभी काम नहीं हो सकता अर्थात् सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

आप जो अक्षर लिखते हैं, वह दूसरों के देख कर ही लिखते हैं। किसी शिक्षक ने आपको सिखाने के लिए अक्षर पट्टी पर लिख कर बतलाये होंगे। उन्हीं को देखकर आपने दूसरे अक्षर लिखे होंगे। यह सत्य है न ?

'जी हाँ !'

उन अक्षरों ने आपसे कहा था कि आप हमको देख कर लिखें ?

'नहीं !'

फिर भी उनका उपकार मानते हो ?

'हाँ !'

ऐसे ही यदि पूर्वकालीन महात्मा, अरिहन्त पद पर न पहुँचते तो उनके साथ वाले किस आदर्श को देखते ? आज हम लोग जो कुछ धर्मकार्य करते हैं, वह पूर्वकाल के महात्माओं के ही प्रकाश से कर रहे हैं, इसलिए उनका उपकार मानना चाहिए। यह उपकार मानकर ही भक्त लोगों ने कहा है:—

श्री अभिनन्दन दुःखनिकन्दन,
वंदन पूजन जोग जी।

हे भगवन् अभिनन्दन ! तू दुःखों का नाश करने वाला है। इस कारण वन्दनीय और पूजनीय है। इसके बाद—

आसा पूरो चिन्ता चूरो,
आपो सुख आरोग जी।

मैं आपकी शरण आया हूँ। दूसरों की शरण में गया था तो उन्होंने उलटा संसार में डाल दिया। शुभ सहायक के बिना आत्मा नहीं चढ़ती और मुझको जो सहायक मिले थे वे अशुभ थे। उनसे सहायता लेने पर पापानुबंधी पुण्य मिलता है जो थोड़ा सुख और फिर दुःख देता है। आपकी सहायता से पुण्यानुबंधी पुण्य की प्राप्ति होती है, जिससे आत्मा चढ़ कर फिर गिरती नहीं है।

सुबाहुकुमार को तेरी सहायता मिल जाने से कोई कष्ट न उठाना पड़ा और धीरे-धीरे मोक्ष भी मिल गया। इसलिए

मैं सब जंजाल छोड़कर तेरी शरण में आया हूँ। तुझ मे राग-द्वेष नहीं है। रागी से राग करने पर आत्मा मोह में डूबकर कर्मबन्ध करता है और विरागी अर्थात् तुझ परमात्मा से राग करने पर आत्मा कल्याण करके परमात्मदशा को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए मैं तेरी शरण में आया हूँ।

मित्रो ! नाम तो परमात्मा का लिया है, परन्तु परमात्मा से प्रेम करो या परमात्मा के आदेशानुसार प्राणी मात्र से प्रेम करो, बराबर है। जैसे राजा की सहायता करना राज्य की सहायता करना है और राज्य की सहायता करना राजा की सहायता है। इसे समझने के लिए उदाहरण लीजिए :—

एक सेठ का लड़का कूँए में डूब रहा है। किसी दयालु ने उस डूबते हुए लड़के को बचा लिया। ऐसी दशा में सेठ उस बचाने वाले पर खुश होगा या नहीं ?

'होगा।'

इसी प्रकार परमात्मा सब का माता-पिता है। तुम परमात्मा की सेवा करना चाहते हो तो उसकी सन्तान पर कृपा रक्खो, उनपर दया करो। चाहे राग से ही सेवा करो, परन्तु वही पुण्य बंधेगा जो अरिहन्त की सेवा करने पर बंधता है।

कई लोग कहते हैं—परमात्मा कहाँ है ? उनको समझाना चाहिए कि संसार के सब जीव स्वभावतः परमात्मा ही हैं। सुधर्मा स्वामी कहते हैं—

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,
सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।
तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं,
लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥

ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने मुझे समझाया है कि प्राणियों को अभयदान का पात्र समझो, तो सुख तुम्हारे समीप ही है। और भयभीत प्राणियों को अभयदान देने वाले के समीप ही परमात्मा है।

मित्रो ! दवाई का पात्र कौन है—रोगी या निरोगी ?

'रोगी !'

चिकित्सक किसे दवाई देता है ?

'रोगी को !'

अगर कोई चिकित्सक रोगी को दवा न दे तो उसे आप क्या कहेंगे ?

'मूर्ख !'

इसी आधार पर समझो कि भगवान् ने सब दानों में अभयदान को उत्तम बतलाया है, परन्तु अभयदान का पात्र कौन है ? अभयदान उसी को दिया जा सकता है जो भय पाया हुआ हो, भय के दुःख से पीड़ित हो। जिसे भय ही नहीं है उसे अभयदान लेने की क्या आवश्यकता है ?

लेकिन आपको तो यह समझाया जाता है कि किसी का दुःख दूर कर दोगे तो कर्मबन्ध हो जायगा। कहाँ तो भगवान् का उपदेश और कहाँ तेरापंथियों का कथन ! तेरापंथियों का कहना है कि भय न उपजाना, बस यही अभयदान है।

इनसे पूछना चाहिए कि भय न उपजाना अभयदान है तो जिसको भय हुआ है, उसका भय मिटा देना क्या भय-दान हुआ ? मित्रो ! जो अभयदान का पात्र हो उसको अभय-दो। अभयदान का पात्र भयग्रस्त जीव ही है।

भयभीत प्राणी को अभयदान देने की आज्ञा जैनशास्त्र मे तो है ही, पुराणो ने भी अभयदान की महिमा गाई है। महा-भारत में कहा है:—

एकत काञ्चनो मेरु:, कृत्स्ना चैव वसुन्धरा ।
एकस्य जीवितं दद्या-न्न च तुल्यं कदाचन ॥

अर्थात्—हे युधिष्ठिर ! एक ओर कञ्चन का मेरु और रत्नमय पृथ्वी का दान करो और दूसरी ओर भयभीत को अभयदान दो। इन दोनो मे अभयदान ही श्रेष्ठ दान है।

[ग]

मैं प्रतिदिन प्रार्थना के विषय मे कुछ कहता हूँ। प्रार्थना करना और प्रार्थना के विषय मे अपने भावों को प्रकट करना मेरे लिए यह बहुत प्रिय कार्य है। इसलिए आज भी कुछ कहता हूँ।

संसार मे जितने भी आस्तिक धर्म के अनुयायी हैं, किसी न किसी रूप मे वे परमात्मा की प्रार्थना अवश्य करते हैं। परन्तु सच्ची प्रार्थना का रूप कैसा है, इस संबंध मे कहने की इच्छा है।

शास्त्र मे कहा है कि संसार मे चार प्रकार के प्रार्थना करने वाले हैं—(१) आर्त्त (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी और (४) ज्ञानी।

आर्त्त लोग केवल दुःख मिटाने के लिए प्रार्थना करते हैं। सिर दुःख रहा है तो, हे परमात्मा, सिर का दर्द मिटा दे! पेट दुखता है तो, हे भगवन्! पेट अच्छा कर दे! अर्थात् ऐसे लोग चिन्ता और दुःख के समय परमात्मा का नाम लेते हैं। इस संबंध में एक परम्परा-सी पड़ गई है:—

तू ही तू याद आवे रे दरद में।

अर्थात्—प्रभो! दुःख आ पड़ने पर तू याद आता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्त्त लोग दुःख से पीड़ित होने पर दुःख को दूर करने के लिए परमात्मा का स्मरण करते हैं।

दुःख की सीमा भी निराली-निराली है। बड़े को बड़ा और छोटे को छोटा दुःख होता है। बालकपन में भूख का दुःख होता है जो माँ के स्तन देने पर मिट जाता है। वही बालक जब बड़ा होता है और लाखों की सम्पत्ति का स्वामी बनता है, उस समय आहार की भूख के दुःख के बदले उसका दुःख और ही प्रकार का होता है। तब उसे मान-बड़ाई आदि की नवीन भूख लगती है। उस समय वह मान-बड़ाई का इच्छुक होकर पुत्र, स्त्री आदि की अभिलाषा से परमात्मा की प्रार्थना करता है। यह अर्थार्थी है, ज्ञानी नहीं। इसने परमात्मा की सत्ता को नहीं पहचाना।

मुमुक्षु लोग आर्त्ति (पीड़ा) को नष्ट करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना नहीं करते वरन् वे आर्त्ति के कारण का नाश करने के लिए परमात्मा का भजन करते हैं। वे यह देखते हैं कि दुःख का बीज कहाँ है? वे दुःख से डरते नहीं, दुःख चाहे जितना हो, परन्तु वे दुःख का अंकुर नष्ट करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

जैसे एक चोर चाहता है कि मैं जेल न भेजा जाऊँ। दूसरा चोर कहता है कि मैंने चोरी की है, इसलिए जेल जाने मे हर्ज नहीं। मगर मै चाहता हूँ कि जेल जाने का कारण—चोरी करने की टेव-नष्ट हो जाय। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष पाप से छूटने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करते हैं, दुःख से छुटने के लिए नहीं। उनका कहना है कि दुःख तो अनेक वार मिटा और उससे तात्कालिक लाभ भी मिला, परन्तु दुःख के कारण नष्ट न होने से वह लाभ स्थायी नहीं हुआ। अब अगर तात्कालिक लाभ ही चाहिए तो उसके लिए परमात्मा से याचना करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा लाभ तो औरों से भी मिल सकता है। ईश्वर से तो मैं यही चाहता हूँ कि मेरे दुःख के कारणों का ही समूल नाश हो जाय।

अर्थार्थी, परमात्मा को किसी मतलब से याद करते हैं, परमात्मा को अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने वाला मानकर उसकी भक्ति करते है। मतलब न हो तो उसे याद न करें। इस लिए उन्हें संकट के समय ही परमात्मा की याद आती है। उनका यह परमात्म-स्मरण भी श्रेष्ठ नहीं है।

हाँ, ज्ञानी जो प्रार्थना करता है वह अकथनीय है। उसका वर्णन करने की शक्ति किसी मे नहीं है। आगम कहता है—

तक्का तत्थ न विज्जइ,

तथा—

जओ वाओ नियट्टन्ते।

जिस स्थान पर जाकर वाणी सहित मन लौट पड़ा, उसका दिग्दर्शन तो कराया जा सकता है परन्तु उस स्थान पर पहुँचने वाला ही उस वस्तु को भली भाँति जानता है। गूंगा गुड़ के स्वाद को क्या बतलाएगा ? गुड़ मीठा तो उसे लगता है परन्तु उस मिठास का वर्णन करने की शक्ति उसमें नहीं है। फिर भी जैसे गूंगा गुड़ खाकर उसका स्वाद प्रकट करने के लिए मुंह मटकाता है, उसी प्रकार मैं भी इस विषय में कुछ कहने की चेष्टा करता हूँ।

ज्ञानी कहते हैं—आत्मा और परमात्मा में भेद ही नहीं है। मैं किससे क्या माँगू ?

तू सो प्रभु, प्रभु सो तू है,
द्वैत—कल्पना मेटो।
सुध चेतन आनन्द विनयचन्द,
परमारथ पद भेटो।

रे सुज्ञानी जीवा ! भज ले रे जिन इक्वीसवों !

जिसकी दृष्टि में आत्मा और परमात्मा के बीच भेद ही नहीं रह गया है वह परमात्मा से क्या याचना करेगा !

एक पतिव्रता स्त्री पूर्ण रूप से पति की हो गई। उसकी अर्धांगिनी बन गई। क्या वह कहेगी कि यह मकान मेरा है और यह गहने मेरे हैं, सो मुझे दे दो ?

'नहीं !'

मगर जो लोग सोने-चांदी के पति-पत्नी हैं वे इन बातों को कैसे समझेंगे ? आज तो दोनो की चाबियाँ अलग-अलग

होती हैं। एक की वस्तु को हाथ लगाने का दूसरे को अधिकार भी नहीं होता। मगर जो सच्ची पतिव्रता है, अपने पति को प्राणों से भी अधिक चाहती है, वह क्या यह माँग करेगी कि अमुक चीज हमें दे दो!

पिता और पुत्र का सम्बन्ध होने पर कौन-सी वस्तु किसकी? भेद रहने की बात निराली है, परन्तु पूर्ण विश्वास होने पर यह चीज़ मेरी और यह चीज़ तेरी, इस तरह का भेदभाव रहता है?

'नहीं!'

इसी प्रकार ज्ञानी परमात्मा के साथ अभेद-संबन्ध स्थापित कर लेते हैं। उनमें कोई भेद नहीं रहता। फिर माँग के लिए अवकाश ही कहाँ है?

जिस दिन आत्मा उस कोटि पर पहुँच जाता है, सब सांसारिक सुख तुच्छ लगते हैं। आप सोचते होंगे, बिना सिर मुंड़ाये अर्थात् साधु हुए बिना यह सुख नहीं मिल सकता, परन्तु यह बात नहीं है। जिसकी भी आत्मा वहाँ पहुँच जाएगी वही इस सुख को पा सकता है। वास्तव में आत्मज्ञान का अनुभव करके परमात्मा का साक्षात् करने का सुख अवर्णनीय है।

ज्ञानियों की यह भावना है। इस वास्ते जो ज्ञानी होकर परमात्मा की प्रार्थना करता है उसकी आत्मिक रचना निराली है। जब आत्मा और परमात्मा की एकता हो जाती है तभी यह निराली रचना बनती है।

'हंस' को उलट दीजिए—'सहं' बन जायगा। 'सहं' का संस्कृत रूप 'सोऽहं' है। ज्ञानियों की भावना यह रहती है कि

'हं-स' अर्थात् जो मैं हूँ वही वह है और जो वह है, वही मैं हूँ। मुझमे और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।

य. परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्तत· ।
अहमेव मयाऽऽराध्य , नान्य कश्चिदिति स्थिति· ।

अर्थात्—जो परमात्मा है वही मैं हूँ। जो मैं हूँ वही परमात्मा है। अतएव मैं स्वयं ही अपना आराध्य हूँ। मेरा आराध्य और कोई नहीं है। यह असली-पारमार्थिक स्थिति है।

मगर ऐसा विचार कर अभिमान नहीं उत्पन्न हो जाना चाहिए। इस कोटि पर पहुँचने के लिए सम्पूर्ण अभिमान को गला देना होता है। फिर जैसे मिश्री की पुतली जल में गल जाती है, ऐसे ही आत्मा, परमात्मा के साथ एकाकार हो जाता है। अगर मिश्री की पुतली पानी मे न गली तो समझ लीजिये कि या तो, वह मिश्री नहीं है, या जल से मिली नहीं है। इसी प्रकार जिस आत्मा मे मेरे-तेरे की भेद-कल्पना बनी हुई है, समझ लो कि वह 'सोऽहं' नहीं बना है।

जिसकी जैसी इच्छा हो, परमात्मा का नाम भजे। वह—

श्री अभिनन्दन दु.खनिकन्दन,
वंदन पूजन जोग जी।

श्री अभिनन्दन भगवान् दुःख का नाश करने वाले हैं। उनकी प्रार्थना चाहे अर्थार्थी करे या ज्ञानी, प्रार्थना से दुःखों का नाश होगा ही।



५-श्री सुमतिनाथ स्वामी



प्रार्थना।

सुमति जिणेसर साहिबाजी 'मेघरथ' नृप नो नन्द ।
'सुमंगला' माता तणो जी, तनय सदा सुखकन्द ॥
प्रभु त्रिभुवन तिलोजी ॥ १ ॥

सुमति सुमति दातार, महा महिमा निलोजी ।
प्रणमूँ वार हजार, प्रभु त्रिभुवन तिलोजी ॥ २ ॥

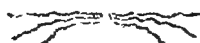
मधुरकर नो मन मोहियोजी, मालती कुसुम सुवास ।
त्यूँ मुज मन मोह्यो सही, जिन महिमा सुविमास ॥ ३ ॥

ज्यूँ पङ्कज सूरजमुखीजी, विकसे सूर्य-प्रकाश ।
त्यूं मुज मनड़ो गह्योजी, सुनि जिन चरित हुलास ॥ ४ ॥

पपईयो पीउ-पीउ करेजी, जान वर्षाऋतु मेह ।
त्यूँ मो मन निसदिन रहे, जिन सुमरन सूँ नेह ॥ ५ ॥

काम भोगनी लालसाजी, थिरता न धरे मन्न ।
पिण तुम भजन प्रतापथी, दाझै दुरमति वन्न ॥ ६ ॥

भवनिधि पार उतारियेजी, भक्त वच्छल भगवान् ।
'विनयचन्द' नी वीनती, थें मानो कृपानिधान ॥ ७ ॥



श्री सुमति जिनेश्वर सायवा रे।

संसार की माया के बन्धन से आत्मा का छुटकारा कैसे हो ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। संसार के बन्धनों ने आत्मा को ऐसा जकड़ रक्खा है कि इससे आत्मा का निस्तार होना कठिन जान पड़ता है। मगर शास्त्रकार कहते हैं—'हिम्मत मत हारो। पुरुपार्थ मत त्यागो। हिम्मत करने से सभी कुछ हो सकता है। आत्मा के लिए और कुछ न बने तो भगवान् से प्रीति करना सीखो। भगवान् से प्रीति करने पर आत्मा ससार के बंधनों से मुक्त हो सकता है।'

तब प्रश्न खड़ा होता है कि परमात्मा से प्रीति करना सीखें किससे ? इसे सीखने के लिए किसके पास जाएँ ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए शास्त्रकारों का कथन है कि तुमको परमात्मा से प्रीति करना सीखने के लिए और कहीं नहीं जाना पड़ेगा, प्रकृति के नियम और संसार के पदार्थ ही प्रेम करना सिखा देंगे।

भौंरा जब मकरन्द की सुगन्ध में मग्न हो जाता है तो वह संसार के किसी दूसरे पदार्थ की गरज नहीं करता। बस, इसी तरह अपने मन को उस परमात्मा से लगा दो, जिससे विपय-वासना पैदा न हो।

शास्त्र में प्रेम का प्रत्यक्ष उदाहरण अरिष्टनेमि और राजीमती का दिया है। प्रेम की साक्षात् मूर्त्ति देखना हो तो राजीमती का उदाहरण मिलेगा, जिसमें भगवत्प्रेम ओतप्रोत है। तोरण से नेमिनाथ लौट गये विवाह किये विना ही, उसकी तो कोई बात

ही नहीं, पर राजीमती ने भगवान् से जो सम्बन्ध जोड़ा, उसके लिए उसने कैसे मर्मस्पर्शी उद्गार प्रकट किये !

सखियों ने राजीमती को एक-एक ऋतु का पृथक्-पृथक् वर्णन और उसमें होने वाली कामवेदना को अच्छी तरह सुना कर दूसरा लग्न करने के लिए समझाया। पर राजीमती ने उनके कथन का एक ही उत्तर दिया—

प्रीति में मैंने वचन हारा है उनके वास्ते,
प्रेम का जो भाव है सारा है उनके वास्ते।
सुख से बढ़कर दुख मुझे प्यारा है उनके वास्ते,
यह शरीर इस जीव ने धारा है उनके वास्ते।
छोड़कर यह देह जब परलोक में भी जायगा,
फिर भी उनके प्रेम में डूबा हुआ ही जायगा।

राजीमती कहती है—सखियो, किसे संकटों का भय दिखलाती हो ? संकट तो मुझसे परे हो चुके हैं। तुम कहती हो कि मैं कुँवारी हूँ, पर मैं ने अपना हृदय उनके चरणों में समर्पित कर दिया है। तुम मुझे सांसारिक सुखों का प्रलोभन देती हो, पर संसार के सुख मुझे अग्नि के समान संताप-जनक दिखाई देते हैं और जो दुःख तुम्हें घोर से घोर प्रतीत होते हैं वे मेरे लिए आनन्ददायक हैं।

मित्रो ! राजीमती की बात समझ में आई ? आप लोगों ने कभी प्रेम किया है ? प्रेम की गति ऐसी ही है। प्रेम में दुःख भी सुखद हो जाता है और सुख भी दुःखप्रद बन जाता है। आप लोग प्रेम की नहीं, मोह की हालत में हैं। मोह में फँस कर, पैसा

के लिए भूख-प्यास के संकट ऐसे सहे होंगे जैसे साधु भी नहीं सहते हैं। पर निष्काम प्रेम किया तो केवल भक्तों ने ही। दूसरे उस प्रेम के मिठास को क्या समझें !

राजीमती के दृष्टान्त से आपको कौन-सा तत्त्व ग्रहण करना चाहिए ? वह तत्त्व यही है कि जिससे प्रेम किया जाय उससे सच्चा ही प्रेम किया जाय। बिना सच्चे प्रेम के आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। सामायिक और संवर आदि के प्रति सच्चा प्रेम होगा तो वे आनन्ददायक ही प्रतीत होंगे, नहीं तो उतनी देर भी दुःखदायी हो जायगी।

जो राजीमती जैसा प्रेम एक घड़ी को भी कर लेगा, संसार के सुखो में मग्न न होकर उसी प्रेम मे आनन्द मानेगा, उसे उसी अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होगी जो राजीमती को प्राप्त हुआ था।

जो प्रेम राजीमती मे पैदा हुआ, संसार मे अत्यन्त दुर्लभ है। फूल का तो नाश हो सकता है पर राजीमती के प्रेम का नाश नहीं हो सकता। फूल जल से गल सकता है, अग्नि से जल सकता है, जाड़े से सूख भी सकता है, पर राजीमती के प्रेम का किसी भी प्रकार नाश नही हो सकता। पवन, पानी और आग-सब मिला कर भी राजीमती का नाश नहीं कर सकते। शरीर का अर्थ न करो, प्रेम का अर्थ करो अर्थात् जिससे प्रेम है उसका नाश नहीं है।

सीताजी अग्नि के कुंड मे कूद पड़ीं। अग्नि उन्हें जला सकी ?

'नहीं !'

क्यों ?

'राम के प्रति प्रेम के प्रभाव से !'

भक्तों ने भगवान् से निवेदन किया है—

> कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
> दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगं ।
> विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
> दृष्ट्वा भय भवति नो भवदाश्रितानाम् ।
>
> —भक्तामरस्तोत्र ।

प्रलयकाल की हवा से प्रेरित प्रचण्ड दावानल जल रही हो। उसकी लपटें उठ रही हों। उसकी भयंकरता को देखकर संसार भले ही डरें, मगर जिसके हृदय में तेरे प्रीति प्रेम होगा उसे वह भीषण आग भी भयभीत नहीं कर सकती। भक्त के सामने ऐसी आग भी ठंडी पड़ जाती है।

भक्त प्रह्लाद के विषय में भी यही बात कही जाती है। आग उसका क्या बिगाड़ कर सकी ? वह उल्टे जलाने वाले को ही जलाने लगी। यह प्रताप परमात्मप्रेम का ही था। ईश्वर से प्रेम करो तो कोई अग्नि जला नहीं सकती।

जिसके हृदय मे परमात्मा का प्रेम है, उस पर हलाहल जहर का भी कोई प्रभाव नहीं होता। भगवान् महावीर को चण्ड-कौशिक सर्प ने डँसा। मगर क्या उन पर विष का असर हुआ ?

'नहीं !'

मीरा को जहर पिलाया गया। क्या वह मरी ?

'नहीं !'

बल्कि मीरां ने क्या उद्गार प्रकट किये—

राणा भेजा विष का प्याला पी के मगन होई।
अन्त में से तन्त काढ पाछे रही सोई।

यह सब ईश्वर-प्रेम का ही प्रताप था। जिसके हृदय में ईश्वरप्रेम का अमृत लबालब भरा होता है, उस पर जहर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता। वह जहर भी अमृत बन जाता है।

मित्रो ! प्रेम में आओ। प्रेम बड़ी चीज है। प्रेम में आने पर आपको कोई भी दुःख नहीं सता सकता।

चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को उड़द के बाकले (घूघरी) बहराये। किन्तु हृदय मे प्रेम था तो वे कितने फलीभूत हुए ? आज सुवर्णमय उड़द के बाकले दो तो भी क्या ? ढोंग से काम नहीं चलता, प्रेम होना चाहिए। दान और तप आदि में भाव मुख्य है। सच्चे अन्तःकरण से थोड़ा भी करो तो वह कल्याणकारी है।

बाइबिल में लिखा है कि राई जितना भी प्रेम हो तो वह पर्वत जितना काम करेगा। जिसके हृदय मे प्रेम है वह माँगना नहीं जानता, देना जानता है।

आपके यहाँ कोई गुमाश्ता कुछ न लेकर काम करे तो उसके प्रेम की कितनी कीमत होगी ?

एक आदमी तुम्हें स्त्री भी देता है और धन भी देता है इसके बदले तुम क्या देते हो ?

सारे घर की मालकिन बना देते हैं !

क्यों ? प्रेम से। और अगर खरीद कर लाये होते तो ऐसा न होता।

सब कार्य शुद्ध अन्तःकरण से करो तो शान्ति मिलेगी। अगर कोई समझता है कि वह सब काम शुद्ध अन्तःकरण से करता है फिर भी शान्ति नहीं मिलती, तो उसे समझना चाहिए कि कहीं न कहीं त्रुटि अवश्य है। उसे वह त्रुटि दूर कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। जो प्रेम करके अपना तन, मन, धन परमात्मा को अर्पित कर देता है, उसे शान्ति मिले बिना रह ही नहीं सकती।

[ख]

परमात्मा के प्रति प्रेम-संबंध स्थापित करने के लिए उनके चरित्र को सुन-समझ लेना उपयोगी होता है। जो महापुरुष होते हैं उनका चरित दिव्य होता है। उस दिव्य चरित में श्रद्धा होने से परम पद की प्राप्ति होती है।

गीता में कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।

श्रीकृष्ण कहते हैं—अर्जुन ! जो हमारे जन्म-कर्म को साधारण दृष्टि से देखता है, उसे वह साधारण ही दीखता है, और जो दिव्य दृष्टि से देखता है अर्थात् जो हृदय से समझता है वह देह छोड़ने पर पुनर्जन्म धारण नहीं करता।

सारांश यह है कि परमात्मा का जीवनचरित सुनने से परम पद की प्राप्ति होती है। किस भाव से परमात्मा का चरित्र सुनना चाहिए, यह समझने के लिए प्रकृति के नियम पर ध्यान देने की आवश्यकता है। मैंने अभी जो स्तुति गाई थी उसमें भी कहा है—

मधुकर नो मन मोहियोजी,
मालती कुसुम सुवास।

भ्रमर का मन पुष्प पर मोहित हो गया। उसकी प्रीति सुगन्ध से लग गई। फिर वह दुर्गंध पर नहीं बैठ सकता। लाख प्रयत्न करने पर भी वह दुर्गन्ध के पास नहीं जाता। अतएव भगवान् से एकनिष्ठा प्रीति करने के लिए भ्रमर के उदाहरण को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

भ्रमर को पुष्पों से ऐसी प्रीति करना किसने सिखलाया? वह किस पाठशाला में यह सीखा है? किसी इतिहास से पता लगता है?

'नहीं!'

अगर सृष्टि की आदि का पता लगे तो इस बात का पता लगे कि भ्रमर ने पुष्प से प्रीति करना कहाँ, किससे और कब सीखा? जैसे सृष्टि अनादि है, उसी प्रकार भ्रमर की यह प्रीति भी अनादिकालीन है।

भँवर की प्रीति पुष्प-सुगन्ध पर ऐसी है कि चाहे वह मर जाय परन्तु दुर्गन्ध के पास नहीं जा सकता। जाना तो दूर, उसका चित्त भी उस ओर नहीं जा सकता। अब हमें देखना

चाहिए कि अपना मन भी भँवर की तरह किसी से अनन्य प्रीति करता है या नहीं ?

मित्रो ! भँवर की यह प्रीति आप लोगों की जानी हुई है। उक्त भजन को भी आप गाते हैं, परन्तु कभी आपने अपने मन से यह भी पूछा है कि वह परमात्मा से प्रीति करने में इसका पालन करता है या नहीं ?

संसार में सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनो हैं और रहेंगे। यह संभव नहीं कि केवल सुगन्ध ही रहे। दोनो न हो और सिर्फ सुगन्ध ही हो तो यह नहीं मालूम हो सकता कि किसकी प्रीति किस पर और कैसी है ?

भँवर की प्रीति सुगन्ध से है, परन्तु मक्खी, जो भँवर की ही तरह का छोटा जीव है, कभी सुगन्ध के पास जाती है ? आप जब चन्दन घिसते हैं तो मक्खी पास मे आती है ?

'नहीं !'

और बालक की अशुचि पर बहुत आती है। मक्खी को अशुचि से प्रेम करना किसने सिखलाया है, कि हटाने पर भी नहीं हटती। वह अशुचि के कीटाणुओं को सब जगह फैलाती है। भले आदमियों के मस्तिष्क में भी भर देती है. दूसरी चीजों पर बैठ कर उन्हें बिगाड़ देती है। मतलब यह है कि वह खुद तो दुर्गन्ध से प्रेम करती ही है, संसार को भी अपनी ही भांति दुर्गन्ध-प्रिय बनाना चाहती है। अब आप विचार कर लें कि आप अपने मन को कैसा बनाना चाहते हैं !

मित्रो ! अगर परमात्मा से, भँवर की तरह, एक निष्ठा प्रीति रखना हो तो मैं यह सुझाव देता हूँ कि अपने हृदय के भाव अच्छे रक्खो। जो काम विद्वान् नहीं कर सकता वह काम सद्भाव से हो जाता है। इसीलिए भक्त जनों ने कहा है—

मधुकरनो मन मोहियो रे,
मालिति कुसुम सुवास।
तूं मुझ मन मोहियो रे,
जिन महिमा सु पियास।

अर्थात्—मेरा मन परमात्मा के चरित्र में ऐसा मोहित है जैसे भँवर का मन सुगन्ध पर मोहित होता है।

आप लोग भी परमात्मा से इतना ही माँगो, ज्यादा न माँगो। ज्यादा माँगने से इसमें भी गड़बड़ हो जाती है। परमात्मा से प्रार्थना करो कि, प्रभो ! मुझे इतना ही मिल जाय मैं राज्य, देश आदि संसार के सुख नहीं चाहता, मुझे तो केवल तेरी प्रीति चाहिए। किसी कवि ने कहा है :—

चाहूं न सुगति सुमति सम्पति कछु,
रिधि सिधि मान बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद,
रहो उदित अधिकाई॥

प्रभो ! मुझे न सुगति चाहिए, न सम्पत्ति चाहिए। मुझे ऋद्धि-सिद्धि, मान-बड़ाई भी नहीं चाहिए। मुझे सिर्फ यही चाहिए कि किसी प्रकार का बदला चाहे बिना तेरे चरणों में मेरी प्रीति बनी रहे। इसके सिवाय और कुछ भी मैं नहीं चाहता।

परमात्मा से प्रीति कैसी होनी चाहिए, इसके लिए एक उपमा और देता हूँ—

ज्यों पंकज सूरजमुखी विकसे सूर्य-प्रकाश।
त्यों मुझ मनड़ो गहगहे, सुन जिन चरित हुलास।

सूरजमुखी कमल अपना मुँह सदा सूर्य की ओर रखते हैं। सूर्य जिधर-जिधर फिरता है, उनका मुँह भी उधर ही उधर फिरता जाता है। शाम को जब सूरज पश्चिम दिशा में पहुँच जाता है तब उनका मुँह भी पश्चिम में ही हो जाता है। प्रातःकाल जब सूर्य पूर्व दिशा में उगता है तो उनका मुँह भी पूर्व की ओर हो जाता है।

अब विचार कीजिए कि इन्हें सूर्य से ऐसी प्रीति करना किसने सिखलाया ? बन्धुओ ! प्रकृति क्या-क्या दिखलाती है, क्या-क्या सिखलाती है, यह देखो और फिर ग्रंथों को देखो तो पता चलेगा कि उनमें कैसी अपूर्व शिक्षा भरी पड़ी है।

भक्त कहते हैं—प्रभो ! जैसे कमल और सूर्यमुखी का प्रेम सूर्य पर रहता है इसी प्रकार मेरे हृदय का प्रेम तेरे चरित्र पर रहे। भजन, स्तवन, चरित, जो भी गाऊं, तेरे ही गाऊं। सूरजमुखी कमल का मुंह जैसे सूरज की ओर ही रहता है, मेरे नेत्र तेरे चरित्र पर ही रहें।

हृदय में इस तरह की दृढ़ता आप लोग भी धारण करें। यह मत सोचो कि परमात्मा साक्षात नहीं दीखता तो उससे कैसे प्रेम करें ? जो प्रेम विरह में होता है वह साक्षात मिलने पर नहीं रहता। यह बात चरित्र द्वारा मैं आपको समझाता हूँ।

मैं जो चरित सुनाया करता हूँ वह उपदेश से खाली नहीं है। चरित में जो शिक्षा भरी होती है, उसी को बताने के लिए मैं चरित बाँचता हूँ।

रुक्मिणी ने जब तक कृष्ण का रथ नहीं देखा तब तक उसे ऐसी व्याकुलता रही कि कृष्ण के नाम की ही रट लगी रही। रुक्मिणी को इतनी व्याकुलता थी तो उसे कृष्ण मिले ही। आपके हृदय में परमात्मा के लिए ऐसी व्याकुलता है? अगर आपको परमात्मा से भेंट करनी है तो हृदय में ऐसा विरहभाव उत्पन्न करो। फिर परमात्मा से भेंट अवश्य होगी।

जिसके हृदय में विरह की व्याकुलता होती है उसे अपने प्रेमी के सिवाय और कोई सुहाता ही नहीं। भँवर को जब तक कमल नहीं मिलता, वह भनभनाता ही रहता है। सूर्य के बिना सूरजमुखी मुँह फेरता है?

'नहीं!'

बस, ऐसी ही दृढ़ता धारण कर लो कि संसार के पदार्थों मे न लुभा कर परमात्मा के स्वरूप में ही तल्लीन रहूँगा। शरीर कहीं भी रहे, अन्तःकरण बराबर उसी मे लगा रहे।

मैं आपको थोड़ी ही देर में यह समझा रहा हूँ। परन्तु दो मिनिट में दी हुई चावी से घडी कई दिन चलती है। यह उपदेश भी हृदय में परमात्मा से प्रेम करने की चावी है। हृदय को परमात्मा से बराबर लगाओ तो हृदय परमात्मा को बहुत शीघ्र पकड़ लेगा। आत्मा स्वयं सच्चिदानन्द है, इसलिए उसका प्रेम परमात्मा से लगना कोई कठिन काम नहीं है, केवल हृदय में विश्वास और दृढ़ता की चाबी भरने की आवश्यकता है।

[ग]

सुमति जिनेश्वर साहबाजी।

परमात्मा सुमतिनाथ की स्तुति करके आत्मा को किस भाव पर जागृत करना चाहिए? सुमतिनाथ भगवान् सुमति के दातार हैं।

आत्मा में दो प्रकार की मति है—एक सुमति और दूसरी कुमति। एक के उदय से दूसरी मति का नाश हो जाता है। अर्थात् दोनों न रहकर एक ही रहने की आत्मा की परम्परा है। किन्तु कुमति को नष्ट करके सुमति को उदित करने के लिए किसी तीसरे की आवश्यकता होती है। जैसे हम लोग देखते तो आँख से हैं, फिर भी आँख की सहायता के लिए सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता होती है। आँखें तो हमारी रात्रि में भी रहती हैं मगर प्रकाश न होने से वे देख नहीं सकतीं। इससे सिद्ध है कि आँखें यद्यपि देखती स्वयं हैं किन्तु उनके लिए सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार यद्यपि आत्मा में ज्ञान-चक्षु हैं फिर भी परमात्मा रूपी सूर्य के प्रकाश के बिना वे समीचीन रूप से देख नहीं सकतीं। इसीलिए प्रार्थना की है—

सुमति जिनेश्वर साहबा जी,
मेघरथ नृपनो नन्द।
सुमंगला माता तणो,
तनय सदा सुखकन्द।
प्रभु त्रिभुवन तिलोजी,
सुमति सुमति दातार महा महिमा निलोजी।

हे सुमतिनाथ ! आप सुमति के दातार हैं। आप महा-महिमा के धारक हैं। सूर्य से आँख को प्रकाश मिलता है और तुझसे हृदय को प्रकाश मिलता है। इसलिए तुझसे बढ़कर कोई नहीं है।

सूर्य से आँख को प्रकाश मिलता है इसलिए उसका उपकार माना जाता है, फिर परमात्मा, जो हमें सुमति प्रदान करता है, हमारे हृदय को प्रकाश देकर ज्ञान-चक्षु को प्रकाशित करता है, उसका उपकार न मानना, उसकी स्तुति न करना क्या कृतघ्नता नहीं है ?



६-श्री पद्मप्रभु स्वामी



प्रार्थना।

पदम प्रभु पावन नाम तिहारो, पतित उद्धारन हारो ॥ टेर ॥

जदपि धीवर भील कसाई, अति पापिष्ट जमारो ।
तदपि जीव हिंसा तज प्रभु भज, पावे भवनिधि पारो ॥ १ ॥

गौ ब्राह्मण प्रमदा बालक की, मोटी हत्याचारो ।
तेहनो करणहार प्रभु भजने, होत हत्यासूँ न्यारो ॥ २ ॥

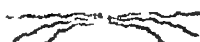
वेश्या चुगल छिनार जुवारी, चोर महा बटमारो ।
जो इत्यादि भजे प्रभु तोने, तो निवृते संसारो ॥ ३ ॥

पाप पराल को पुंज बन्यो, अति मानो मेरु आकारो ।
ते तुम नाम हुताशन सेती, सहजे प्रज्ज्वलत सारो ॥ ४ ॥

परम धर्म को मरम महारस, सो तुम नाम उचारो ।
या सम मन्त्र नहीं कोई दूजो, त्रिभुवन मोहनगारो ॥ ५ ॥

तो सुमरण बिन इण कलयुग में, अवर न कोई आधारो ।
मैं वारी जाऊ तो सुमरन पर, दिन-दिन प्रीत बधारो ॥ ६ ॥

'सुषमा राणी' को अंगजात तू, 'श्रीधर' राय कुमारो ।
'विनयचन्द' कहे नाथ निरंजन, जीवन प्राण हमारो ॥ ७ ॥



पदमप्रभु पावन नाम तिहारो ।

आत्मा को किसी शक्ति की आवश्यकता है । शक्ति अशक्त चाहते हैं । जैसे रोगी को दवाई की, भयभीत को किसी वीर के आश्रय की, भूखे को भोजन की और प्यासे को पानी की आवश्यकता होती है, ऐसे ही अनन्त काल से सांसारिक क्लेशों में तप कर अशक्त हुए आत्मा को भी एक शक्ति की आवश्यकता है। यह शक्ति ऐसी होनी चाहिए जो इस तपन को शान्त कर दे।

कहने को संसार के सभी प्राणी रात-दिन इसी उद्योग में लगे हैं। खाना कमाना आदि सभी क्रियाएँ इसी प्रयोजन से करते हैं । किन्तु इस ढंग से आत्मा का उद्धार नहीं होता । इसलिए हे आत्मा ! तू सत्संगति करके यह निर्णय कर कि तेरे उद्धार के लिए किस शक्ति की आवश्यकता है ?

यह तो निश्चित है कि आत्मा को जो शक्ति चाहिए वह शक्ति संसार के जड़ पदार्थों में नहीं है। वह निराली और अलौकिक ही है । क्योंकि सांसारिक पदार्थों की शक्ति लेते हुए अनन्तकाल बीत जाने पर भी आत्मा अब तक दुर्बल है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का कल्याण करने वाली शक्ति दूसरी ही है । इसलिए जो शक्ति आत्मा का कल्याण करने वाली है उसको पहचान कर उसी से प्रीति करना चाहिए ।

अगर आपने अपनी आत्मा का कल्याण करने का निश्चय कर लिया है तो आत्म कल्याण का एक सादा उपाय परमात्मा से प्रीति करना है । आत्मा को परमात्मा की प्रीति में लगा देने से सहज ही आत्मकल्याण हो जाता है ।

आपने रेल तो देखी है न ?

'जी हाँ !'

रेल में एक डिब्बा दूसरे डिब्बे से जुड़ा रहता है और फिर सब डिब्बे एंजिन के साथ जुड़े रहते हैं। सब डिब्बों में एक-से आँकुड़े लगे रहते हैं, फिर चाहे वह प्रथम श्रेणी First Class) का हो या तृतीय श्रेणी (Third Class) का हो। आँकुड़ों में कोई भेद नहीं रहता। एक डिब्बे के आँकुड़े को दूसरे डिब्बे के आँकुड़े में फँसा देने से और फिर एंजिन के साथ उन्हें जोड़ देने से एंजिन सब को लेकर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। एंजिन कुछ भी भेद नहीं करता कि यह डिब्बा प्रथम दर्जे का है या तीसरे दर्जे का है। यदि वे डिब्बे, एंजिन को छोड़ दें तो फिर वहीं पड़े रहें। वे आगे नहीं जा सकते। क्योंकि सबको ले जाने की शक्ति एंजिन में ही है। डिब्बों मे वह शक्ति नहीं है।

इसी प्रकार जिस परमात्मा में अनन्त गुणों का पॉवर (शक्ति) है, उससे इसी तरह का संबंध स्थापित कर लेना उचित है, जैसे रेल के डिब्बे एंजिन के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। तो जो गति डिब्बों की है वही तुम्हारी है। अर्थात् परमात्मा एंजिन है। उसके साथ अन्तःकरण मिला लेने से फिर कोई जोखिम नहीं रहता। जैसे रेलगाड़ी का एंजिन पहले और तीसरे दर्जे का भेद नहीं करता, इसी प्रकार परमात्मा के साथ प्रेम करने पर ऊँच, नीच, गरीब, धनवान् आदि सभी का उद्धार हो जाता है।

अब प्रश्न होता है कि परमात्मा रूपी एंजिन के साथ आंकुड़ा कैसे मिलाया जाय ? उससे किस प्रकार प्रेम किया जाय ?

मित्रो ! इसमें कोई कठिनाई नहीं है। परमात्मा से प्रेम लगाना कठिन नहीं है। आपके हृदय मे इस समय क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि-आदि दुर्गुण भरे हैं। इन दुर्गुणों को निकाल देने पर परमात्मा के साथ प्रीति हो जायगी। इन दुर्गुणों को निकाल कर परमात्मा से प्रीति कर लेने पर फिर कोई डर नहीं रहता। ऐसा करने के लिए वेश्या, चुगल, चोर आदि किसी को भी बाधा नहीं है। अपने दुर्गुणों को दूर कर देने पर फिर चाहे वह महापापी ही क्यो न रहा हो, अपने पापों का पश्चात्ताप करके परमात्मा की शरण मे आ जाय तो उसका उद्धार अवश्य हो जायगा। पतित से पतित भी परमात्मप्रेम हो जानेपर परमात्मा का शरण पाता है। इसलिए तो परमात्मा का नाम पतित-पावन है।

परमात्मा के साथ प्रेम करने, आँकुड़े से आँकुड़ा मिलाने से ही काम चलेगा। अगर कोई कहता है कि मै बुरे काम नहीं करता तो परमात्मा से प्रेम क्यो करूँ ? तो उसका कहना भ्रम-पूर्ण है। डिब्बा भले पहले दर्जे का हो, उसे एंजिन के साथ जुड़ना ही पड़ेगा। एंजिन के साथ जुड़े बिना वह भी एंजिन के जाने के स्थान पर नहीं पहुँच सकता। अतएव अभिमान छोड़कर परमात्मा का शरण ग्रहण करना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि दुर्गुणों को किस प्रकार दूर किया जाय ? कैसे उन पर विजय प्राप्त की जाय ?

इसका उत्तर यह है कि हम लोग एक भ्रम में पड़े हैं। अगर हम उस भ्रम को हटा दें तो दुर्गुणो पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

वह भ्रम क्या है ? वह यही कि हम दुर्गुण पर तो विश्वास करते हैं किन्तु सद्‌गुण पर विश्वास नहीं करते। अर्थात् लोगों को यह विश्वास है कि किसी ने थप्पड़ मारी तो हम भी उसे थप्पड़ मारें तो बदला चुक जायगा! लोग यह मानते हैं—विश्वास करते हैं कि झूठ बोलने से, झूठा व्यवहार करने से, दूसरे की हत्या करने से या इसी प्रकार के अन्य कार्य करने से लाभ होगा। पर क्षमा, दया, शील, परोपकार आदि कार्यों पर जितना चाहिए उतना विश्वास नहीं है। इस भूल के कारण आत्मा सद्‌गुणों को छोड़कर दुर्गुणो का संग्रह कर लेता है। अगर आत्मा को सद्‌गुणों पर विश्वास हो जाय तो दुर्गुण छूट जाएँगे और परमात्मा से प्रीति होते देर नहीं लगेगी।

क्षमा में क्या गुण हैं, यह बहुत कम लोग जानते हैं। झूठ में क्या दुर्गुण हैं, इस बात को न समझ कर लोग उस पर इतना विश्वास करते हैं कि संसार में बिना झूठ के काम नहीं चल सकता। लेकिन क्या झूठ के बदले सत्य से काम लेने पर संसार के काम रुक जाएँगे ?

एक वकील बहुत होशियार था। प्रायः जो वकील सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बनाना जानते हैं वे बहुत निपुण माने जाते हैं। यह वकील ऐसा ही कायदेबाज और निपुण था। इस वकील की स्त्री धर्मवती थी।

संसार के लोग बड़े भ्रम में हैं कि पाप के बिना हमारी आजीविका नहीं चल सकती। सचाई यह है कि धर्म से आजीविका मजे में चल सकती है। धर्म और पाप की आजीविका में कार्य-कारण और भाव की तुलना है। धोखा और भ्रम जीवों

की विशेष हिंसा आदि करके, इस तरह के बुरे धंधे करके आजीविका प्राप्त करने वाले को पापी कहते हैं। जो दगाबाजी नहीं करे, सत्य बोले और त्रस जीव की हिंसा न करे और इन सब से बच कर-आजीविका प्राप्त करे वह धार्मिक कहलाता है।

एक दिन वकील भोजन करने बैठा। उसकी स्त्री सामने बैठकर उसे परोस रही थी। इतने में एक बड़ा सेठ आया और उसने पचास हजार के नोट वकील के सामने रख दिये। वकील ने पूछा—यह क्या है?

सेठ—आपका मिहनताना।

वकील—कैसा मिहनताना? मैंने आपके मुकदमे में जो वकालत की थी, उसका मिहनताना तो मुझे मिल चुका। फिर यह किस बात का मिहनताना है?

सेठ—वकील साहब, मेरा मुकदमा पाँच लाख का था। वास्तव में मुझे वादी का पाँच लाख रुपया देना था। अगर आपने इतनी कुशलता न दिखलाई होती और वादी को झूठा न साबित कर दिया होता तो मुझे पाँच लाख देने पड़ते। पर आपकी बदौलत मैं मुकदमा जीत गया। मैंने सोचा—पाँच लाख बचे हैं तो ५० हजार वकील साहब को भी दे दूं। इसलिए आया हूँ।

सेठ यह कह कर चला गया। वकील पचास हजार रुपये पाकर फूला न समाया। उसने अपनी पत्नी की ओर गर्वभरी दृष्टि से देखा और सोचा—मैं कितना चतुर हूँ! सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बनाना मेरे बाएँ हाथ का खेल है!

मगर यह क्या ? पत्नी तो अनमनी हो गई है ! वकील ने पूछा—'अरे, तुम उदास क्यों हो गई ?' और यह पूछते ही पत्नी की आँखों से आँसू बहने लगे।

पत्नी ने रोते-रोते कहा—इन पचास हजार को देखकर ही मुझे रोना आ रहा है।

वकील—आश्चर्य है ! एकदम पचास हजार रुपये आगये तो खुश होने की बात है या रोने की ?

पत्नी—मुझे ऐसा रुपया नहीं चाहिए। मैं पीस-कूट कर पेट भरना अच्छा समझती हूँ, मगर पाप के पैसे से ऐश्वर्य भोगना अच्छा नहीं समझती। इस प्रकार पाप का पैसा इकट्ठा करके आप क्या स्वर्ग पा लेंगे ? सभी को आगे जाकर जवाब देना होगा। कृपा कर आप इस धन को अलग ही रक्खें। इसमें मुझे और मेरे बाल-बच्चों को शामिल न करें।

स्त्री की बात सुनकर वकील हैरान हो गया। सोचने लगा—जिसके लिए यह सब करता हूँ उसका तो यह हाल है ! वकील ने साहस करके कहा—

'तुम भोली हो। सच्चे को झूठे और झूठे को सच्चा किये बिना पैसा आये कहाँ से ?'

पत्नी--दुःख की बात है कि आपको झूठ पर इतना विश्वास है और सत्य पर विश्वास ही नहीं है ! क्या झूठ का सहारा लिये बिना आपका पेट नहीं भर सकता ? अगर आपने सत्य का पक्ष लिया होता तो क्या मिहनताना न मिलता ? आपको पचास हजार मिले हैं, पर दूसरे के पाँच लाख पर पानी

जो फिर गया ! फिर इससे झूठ की प्रतिष्ठा बढ़ी, सत्य की प्रतिष्ठा घटी। झूठे को झूठा आचरण करने का उत्साह मिला और शायद सच्चे की सत्य के प्रति आस्था उठ गई हो !

कैसी धर्मनिष्ठ स्त्री थी ! कोई मामूली स्त्री होती तो कहती-चाहे पाप करो, चाहे धर्म करो, मुझे तो दो के बदले चार बंगड़ियाँ गढ़वा दो ! अच्छा-अच्छा खिलाओ, अच्छा-अच्छा पहिनाओ ! तब तो आप पति, नहीं तो पति कैसे ?

मित्रो ! आत्मा अजर-अमर है। इसने अनेक भव धारण किये हैं और अनेक भव धारण करेगा। जिसे इस सचाई पर विश्वास होता है वह अपने आपको ईश्वर के साथ जोड़ने के लिए खोटे कामों पर से विश्वास उठाकर सत्य पर विश्वास जमाता है। मनुष्य-जन्म का समय अपूर्व समय है। जो क्षण चला जा रहा है वह अनमोल है, अप्राप्य है इसलिए सत्य पर विश्वास लाओ। जीवन को सार्थक बनाओ।

ज्यों अंजलि मांहे नीर समो ओ,
तो छिन-छिन खेरु जावे जी।

घड़ी रे घड़ी घड़ियाला बाजे,
तो खिण लाखीणी जावे जी।

यो भव रतन चिन्तामणि सरिखो,
वारंवार न मिलसी जी।

चेत सके तो चेत, रे जीवड़ा,
ऐसो जोग न मिलसी जी ॥

किस निश्चित विचार मे बैठकर व्यवस्था सोच रहे हो ? सद्गुण पर विश्वास करो। अविश्वास मत करो। शास्त्र मे कहा है—

सच्चं भगवओ ।

यह गणधर का वचन है कि सत्य भगवान् है। सत्य की शरण लेना भगवान् की शरण लेना है। सत्य के प्रभाव से चमकती हुई तलवार फूल के सदृश नरम और विष, अमृत के समान गुणदायक हो जाते हैं। जिस सत्य की इतनी शक्ति है, उस पर असत्य के बराबर भी विश्वास नहीं करते ? कितने दुःख की बात है !

बड़ों की देखा-देखी बच्चे भी झूठ बोलते हैं। वे अकसर अपने माँ-बाप से ही यह सबक सीखते हैं। पहले बच्चों को झूठी बातों में आनन्द आता है और फिर वे स्वयं झूठ बोलने में कुशल हो जाते हैं। इस प्रकार झूठ की परम्परा चल रही है।

वकील की स्त्री ने कहा—सत्य पर विश्वास रखना चाहिए। यदि सत्य से खाने को मिलेगा तो खाएँगे, अन्यथा भूखे रह लेंगे। आप आज से झूठ का आसरा न लेने की प्रतिज्ञा कर लीजिए। हम लोग भूखे नहीं रहेंगे, सत्य का प्रताप बड़ा है।

वकील पर पत्नी का प्रभाव पड़ा और उसने झूठे मुकदमे लेना त्याग दिया।

अगर बहिनें मेरी बात मान कर अपने-अपने पति को उपदेश दें तो वे आप लोगों को कुछ ही समय में सुधार कर

सन्मार्ग पर ला सकती हैं। मगर कठिनाई तो यह है कि बहिनें भी सोने में ही स्वर्ग समझती हैं, सोने मे ही सुख मान बैठी हैं। वे पति को उपदेश दें तो कैसे ?

एक कवि ने कहा है—

वरु दरिद्रता होउ करत सज्जन कला ।
अनाचार सु राज्य मिलें तो नहिं भला ।

सज्जनता पूर्वक व्यवहार करते और रखते हुए यदि हम दरिद्र बन जाएँ, तो वह दरिद्रता नहीं, स्वर्ग का निवास है। पर अत्याचार, झूठ-कपट, दगा आदि से राज्य मिलता हो तो वह किसी काम का नहीं।

इस प्रकार का विश्वास और प्रेम चाहिए। तभी हृदय में सन्तोष उत्पन्न होता है।

आगे चलकर कवि ने कहा है—जो शरीर तप के कारण दुर्बल है वह दबी हुई अग्नि के समान देदीप्यमान है। तपधारी मुनि का दुर्बल शरीर भी देवों के शरीर को लजाने वाला है।

तप की महिमा अद्भुत है। तप करने से न रोग होता है न दुःख होता है। यद्यपि तप से शरीर निर्बल दिखाई देता है परन्तु आत्मा निर्बल होने के बदले बलिष्ठ होता है।

जिस मनुष्य के शरीर पर सूजन चढ़ जाती है, जिसके हाथ, पाँव और सारा शरीर मोटा और चिकना हो जाता है, उसके लिए लोग कहते हैं—यह तो मरा ! ऐसे आदमी का मोटे होने के कारण कोई सत्कार करता है ?

'नहीं !'

इसी प्रकार जो अन्याय करके मोटे—ताजे बने हैं, उनके प्रति ज्ञानियों के हृदय में कोई आदरभाव नहीं होता। अगर कोई सत्य के सेवन से दुबले भी हुए तो ज्ञानी उस दुबले का सत्कार करेंगे।

राम का राज्य छूटा। वे वनवासी होकर घूमते-फिरे। परन्तु किसी ने उन्हें बुरा कहा ? इससे उनकी प्रतिष्ठा कम हुई ?

'नहीं।'

हरिश्चन्द्र ने अपना राजपाट दान देकर चाण्डाल की नौकरी की। उनकी रानी तारा को ब्राह्मण के घर वर्त्तन मांजने और पानी भरने की सेवा करनी पड़ी। यह सब किसके लिए ?

'सत्य के लिए ही !'

अब तो कुछ लोग कहते हैं कि हरिश्चन्द्र को दान देने से दुःख भोगना पड़ा। कुपात्र को दान देने से भटकना पड़ा और चाण्डाल का सेवक बनना पड़ा। ऐसा कहने वालो से क्या कहा जाय ? इस पर विस्तृत चर्चा करने का यहाँ अवकाश नहीं है। सिर्फ इतना कह देना पर्याप्त है कि कष्ट पड़ने के कारण ही कोई बुरा या पापी नहीं हो जाता। अजना को क्या कष्ट सहन नहीं करने पड़े थे ? फिर क्या उसका शील भी पाप में गिना जायगा ?

कमलावती का हाथ शील के लिए काटा गया, पर उसने शील का त्याग नहीं किया। शील की रक्षा के लिए चन्द्र-नबाला विकी। उसने शील नहीं त्यागा। तो क्या पाप किया था ?

सीता, अजना, कमलावती, चन्दनबाला आदि महान सतियों ने अपने शील की रक्षा के लिए कष्ट सहन किये थे। कष्ट

सहने के कारण शील पालने को अगर कोई पाप कहता है तो अन्याय करता है। इसी प्रकार दान देने वालों को अगर कोई पाप करने वाला कहता है, उनका तिरस्कार करता है तो ऐसा करना ही महापाप है।

मित्रो ! आप लोगों से कुछ और न बन पड़े तो कम से कम इस पाप से तो बचो। जिस दान का अनुमोदन असंख्य लोग करते हैं, उसको अगर मुट्ठी भर लोग पाप बतलाते हैं तो वह उनका दुर्भाग्य है। कामना करो कि उन्हें भी सुबुद्धि प्राप्त हो।

दान में पाप बताने वाले, दया करने में भी पाप कहते हैं। पर नेमिनाथ भगवान् के चरित्र को देखो। उन्हे विवाह नहीं करना था, फिर भी बरात सजाई। आरंभ-समारंभ किया और प्रत्यक्ष रूप से, मारे जाने वाले जीवों की रक्षा का बोध दिया। अन्त में दान देकर दान की महिमा भी प्रकट की।

तात्पर्य यह है कि दुर्गुणों का त्याग करने पर ही परमात्मा के प्रति आपका प्रेम होगा और परमात्मप्रेम से आपका परमकल्याण होगा।

[ख]

परमात्मा की स्तुति करने वालों को परमात्मा के नाम-स्मरण की महिमा पूरी तरह समझ लेनी चाहिए। नाम में क्या गुण है और क्या शक्ति है, इस बात को समझ कर परमात्मा का भजन किया जाय तो आत्मा में निराली ही जागृति हो जाती है।

नाम लेने का अधिकारी कौन है ? अर्थात् नाम कौन ले सकता है ? इस सम्बन्ध में पद्मप्रभ की प्रार्थना में कहा है कि धीवर, भील, कसाई, गोघातक, स्त्रीघातक, बाल-घातक, वेश्या, चुगल, छिनार, जुआरी, चोर, डाकू आदि कोई कैसा भी कुकर्मी क्यों न हो, सभी को भगवान् का भजन करने का अधिकार है। परन्तु वह पापों को बढ़ाने के लिए नहीं किन्तु घटाने के लिए है। जिसे रोग न हो वह दवा क्यों ले ? इसी प्रकार जिसमें पाप न हो उसे भजन करने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु जैसे दवा रोग बढ़ाने के लिए नहीं वरन् घटाने के लिए ली जाती है, इसी प्रकार भजन पाप बढ़ाने के लिए नहीं करना चाहिए—घटाने के लिए करना चाहिए। इस दृष्टि से जो परमात्मा का भजन करता है वह कैसा भी पापी क्यों न हो, उसकी आत्मा पवित्र बन जाती है। आजकल प्रायः पाप बढ़ाने के लिए परमात्मा का भजन किया जाता है, अर्थात् ऊपर से अपने आपको धर्मात्मा प्रकट करने के लिए लोग भजन करते हैं और भीतर कुछ और ही रचना होती है। ऐसा भजन करने वाले का उद्धार नहीं हो सकता।

परमात्मा का भजन करना, उसके नाम को स्मरण करना, अपनी आत्मा को परमात्मा के सामने उसी तरह खड़ा करना है, जैसे ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मा को परमात्मा के समक्ष खड़ी कर देते हैं। जिस प्रकार राजा के सामने अपने अपराध को स्वीकार करने से प्रायश्चित्त हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के समक्ष अपने अपराधों को शुद्ध अन्तःकरण से प्रकट कर देने पर प्रायश्चित्त हो जाता है।

इस प्रकार अपराध स्वीकार करने वाले के साहस पर जरा विचार करो। जो वीर होगा वही राजा के सामने अपना

अपराध स्वीकार करेगा। अब विचार कीजिए कि परमात्मा राजा से छोटा है या बड़ा ? अगर बड़ा है तो निष्कपट भाव से उससे प्रार्थना करो कि—प्रभो ! ऐसी कृपा कर, जिससे मैं पापों से छुटकारा पा लूँ। ऐसा निश्चय करके परमात्मा को भजो तो अवश्य पापों से छुटकारा मिल जायगा।

पाप से छूटने के लिए सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से क्या कहा ? उन्होंने जम्बू स्वामी से कहा—'भगवान महावीर का बतलाया हुआ ज्ञान मैं तुझे सुनाता हूँ।' और उन्होंने भगवान् का उपदेश जम्बूस्वामी को बतलाया। उस उपदेश का सार यह है—

पढमं होइ अहिंसा, बितियं सच्चवयणंति पन्नत्तं।
दत्तमणुन्नायसंवरो य, बंभचेरयमपरिग्गहत्तं च।
तत्थ पढमं अहिंसा, तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी।
तीसे सभावणाओ किंचि वोच्छं गुणद्दोसं॥

अर्थात् अहिंसा, सत्यभाषा, अदत्तादान परित्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यह पाँच व्रत भगवान् के उपदेश का सार है। इनमें अहिंसा का स्थान पहला है। अहिंसा त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का क्षेम करने वाली है।

यहाँ अहिंसा पहले बतलाई गई है। अहिंसा का अर्थ है-हिंसा न करना अर्थात् जिसमें किसी भी प्राणी की हानि न हो।

प्रश्न किया जा सकता है—प्राणी किसे कहना चाहिए ? उत्तर यह है। भगवान् ने शास्त्र में दस प्राण कहे हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण (२) चक्षुरिन्द्रियबलप्राण (३) घ्राणेन्द्रियबलप्राण

(४) रसनेन्द्रियबलप्राण (५) स्पर्शनेन्द्रियबलप्राण (६) मनोबल-प्राण (७) वचनबलप्राण (८) कायबलप्राण (६) श्वासोच्छ्वासबल-प्राण और (१०) आयुष्यबलप्राण। यह आयुष्य-प्राण शेष सब प्राणों का आधारभूत है। जिसमें यह प्राण हों वह प्राणी कह-लाता है। किसी में पूरे और किसी में अधूरे प्राण होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय के दसों प्राण होते हैं, असंज्ञी पचेन्द्रिय के नौ प्राण होते हैं, चौ-इन्द्रिय जीवों के आठ, त्रीन्द्रियो के सात, द्वीन्द्रिय के छह और एकेन्द्रिय के चार प्राण होते हैं। इन प्राणो का जिससे नाश हो वह हिंसा और जिससे नाश न हो वह अहिंसा है।

शास्त्र में सभी कुछ स्पष्ट कर दिया गया है परन्तु आज-कल कुछ लोगों ने एक नया तर्क खोज निकाला है। वे यह तो कहते हैं कि प्राणों का नाश करना हिंसा और नाश न करना अहिंसा है, मगर रक्षा क्या है? रक्षा हिंसा है या अहिंसा?

कल्पना कीजिए, एक आदमी तलवार लेकर बकरा मारता है। दूसरा चुपचाप खड़ा है–न मारता है और न रक्षा करता है। तीसरा आदमी कहता है—मत मारो, अर्थात् वह बकरे की रक्षा करता है। अब इस तीसरे रक्षा करने वाले को क्या कहा जाय? हिंसक या अहिंसक? पहला आदमी हिंसक है और दूसरा अहिंसक, क्योंकि वह मारता नहीं है, लेकिन यह तीसरा मनुष्य किस गिनती में गिना जाय?

ज्ञानीजन कहते हैं कि अहिंसा का अर्थ है—जिसमें हिंसा न हो, अथवा जो हिंसा का विरोधी हो। अब वह तीसरा पुरुष, जिसने जीव की रक्षा की है और जीव को मारा नहीं है, उसे क्या हिंसक कहा जा सकता है?

'नहीं !'

जब नहीं मारा तो अहिंसा हुई कि नहीं ?

'हाँ !'

इस प्रकार ज्ञानियों का कहना है कि न मारना और रक्षा करना दोनों ही अहिंसा है। एक ने चोरी की, दूसरे ने चोरी नहीं की और तीसरे ने चोरी करने से वरजा, तो वरजने वाले को कोई चोर कह सकता है ?

'नहीं !'

उसने वरजा इसलिए कि धन के मालिक को दुःख न हो धन को तो सुख-दुख होता नहीं, सुख-दुःख तो उसे होता जिसका धन चोरी मे जाय या जो चोरी करके ले जाय।

कल्पना करो, एक दुराचारी पुरुष किसी सती का शी भंग करने के लिए हमला करता है। रावण को ही समझ लो रावण सीता का शील भंग करना चाहता है। सीता अप शील पर अटल है। और विभीषण ने रावण को ऐसा करने मना किया। अब आप विभीषण को शीलवान् कहेंगे या कुशी वान् कहेंगे ?

'शीलवान् !'

मगर कुशीलवान् कहने वालों को क्या कहा जाय ? अगर विभीषण कुशीलवान् होता तो वरजता ही क्यों ? इसी प्रकार 'मत मारो' कह कर हिंसा वरजने वाले को क्या हिंसक कहा जा सकता है ? जिसके हृदय मे मारने की इच्छा होगी

उसके मुँह से 'मत मार' ऐसा शब्द निकल ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में 'मत मार' कहने वाले को पापी कहना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

मित्रो ! इस सीधी-सादी बात को समझ लो तो अहिंसा के विषय में भ्रम नहीं रहेगा। शास्त्र के अनुसार जीव की हिंसा न करना और जीव को बचाना—दोनों अहिंसा हैं। पर खेद है कि कुछ पथभ्रष्ट भाई मारने और बचाने—दोनों में हिंसा कहते हैं। उनका कहना है—

मत मार कहे तेनो रागीरे,
तीजे करणे हिंसा लागीरे।

बुद्धिमान् स्वयं विचार करें कि 'मत मार' कह कर जीव को बचाने वाला कैसे हिंसक हो गया ? शास्त्र कहता है—

तत्थ पढमं अहिंसा,
तसथावरसव्वभूयखेमकरी।

अर्थात अहिंसा त्रस और स्थावर—सभी जीवों का क्षेम करने वाली है अर्थात् रक्षा करने वाली है।

संसार में किसी से पूछते हैं—'क्षेम-कुशल है ?' या 'क्षेम-कुशल कह देना।' तो इसका अर्थ शान्ति ही है।

कदाचित कहा जाय कि हमने किसी जीव को नहीं मारा, इस कारण वह बच गया तो क्षेम हुई और अहिंसा का धर्म हुआ, तो जिसने बचाया है उसे पाप क्यों हुआ ? मित्रो ! यह अन्याय है। अहिंसा के स्वरूप को विकृत करना है।

इस प्रकार अहिंसा के सच्चे स्वरूप को समझ कर जो उसका पालन करते हैं, वे पापों से बचते हैं। परमात्मा के साथ उन्हीं की प्रीति जुड़ती है। उनका परमात्मभजन सार्थक होता है। एक ओर परमात्मा का नाम लेना और दूसरी ओर परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से विरुद्ध प्रवृत्ति करना आत्म-वंचना है। यह कल्याण का मार्ग नहीं है।



७-श्री सुपार्श्वनाथ स्वामी



प्रार्थना।

श्री जिनराज सुपार्श्व, पूरो आस हमारी ॥ टेर ॥

"प्रतिष्ठसेन" नरेश्वर को सुत, "पृथ्वी" तुम महतारी।
सुगुण सनेही साहिब साचो, सेवक ने सुखकारी ॥ १ ॥

धर्म काम धन मोक्ष इत्यादिक, मनवाछित सुख पूरो।
बार-बार मुझ यही वीनती, भव-भव चिन्ता चूरो ॥ २ ॥

जगत् शिरोमणि भक्ति तिहारी, कल्पवृक्ष सम जाणूं।
पूरणब्रह्म प्रभु परमेश्वर भव-भव तुम्हें पिछाणूं ॥ ३ ॥

हूं सेवक तू साहिब मेरो, पावन पुरुष विज्ञानी।
जनम-जनम जित-तित जाऊं तो, पालो प्रीति पुरानी ॥ ४ ॥

तारण-तरण सरण-असरण को, विरुद इसो तुम सोहे।
तो सम दीनदयाल जगत् में, इन्द्र नरेन्द्र न को है ॥ ५ ॥

स्वयंभू-रमण बड़ो समुद्र में, शैल सुमेर विराजे।
तू ठाकुर त्रिभुवन मे मोटो, भक्ति कियां दु:ख भाजे ॥ ६ ॥

अगम अगोचर तू अविनाशी अलख अखण्ड अरूपी।
चाहत दरस 'विनयचन्द' तेरो, सच्चिदानन्द स्वरूपी ॥ ७ ॥



सारा संसार आशा पर ही टिका है। सब लोग आशा का अवलम्बन करके अपना-अपना कार्य करते है। विना उद्देश्य के किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। साधु और साध्वियों ने भी किसी उद्देश्य को सामने रख कर ही साधुपन और साध्वीपन अंगीकार किया है। जो लोग अपना गाँव छोड़ कर दूसरे गाँव जाते हैं वे भी विना उद्देश्य नहीं जाते। उद्देश्य की पूर्ति हो जाना अर्थात् आशा पूर्ण हो जाना ही सिद्धि समझी जाती है। इसी आशा को लेकर भक्त जन भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

श्री जिनराज सुपास, पूरो आस हमारी

अर्थात्—हे जिनराज ! मेरी आशाओं को पूर्ण करो।

अब प्रश्न यह है कि आशा किस बात की है? साधु किस आशा से साधु बने हैं? अगर उन्हे संसार के सुखों की आशा होती तो वे साधु क्यों बनते? संसार की आशा संसार में ही पूरी हो सकती है। साधु-अवस्था में संसार-सुख की आशा पूरी नहीं हो सकती।

संसारी मनुष्य को पहले स्त्री की आशा होती है। जब स्त्री प्राप्त हो जाती है तो पुत्र की आशा उत्पन्न होती है। जिसे पुत्र की इच्छा है वह पहले स्त्री से ही पुत्र मिलने की आशा करता है। जब स्त्री से पुत्र नहीं मिलता तब देवी-देवता आदि से इसके लिए प्रार्थना करता है। तात्पर्य यह है कि सभी लोग किसी न किसी आशा से परिपूर्ण हैं और उस आशा को पूर्ण करने के लिए ही प्रयत्नशील देखे जाते हैं। किन्तु परमात्मा से किस चीज की आशा करनी चाहिए? अगर धन आदि के लिए परमात्मा से प्रार्थना की जाती है तो समझना चाहिए कि परमात्मा के स्वरूप

को समझा ही नहीं। जो परमात्मा की महिमा को समझ लेगा वह किसी तुच्छ चीज के लिए उससे प्रार्थना नहीं करेगा। तो फिर परमात्मा से कौन-सी आशा करनी चाहिए ?

वार-वार मुझ विनती हो भव-भव चिन्ता चूरो ।

हे प्रभो ! आपकी भक्ति के विना मैं ने संसार का विलास पाया, परन्तु वह दुःखदायी वन गया। उससे मुझे सुख की प्रीति नहीं हुई। इसलिए अब जो चाहता हूँ वह धर्म और मोक्ष के साथ चाहता हूँ। धर्म और मोक्ष के सिवाय संसार का विलास नहीं चाहता। मेरी यह आशा पूरी करो। प्रभो ! मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरी भव-भव की चिन्ता दूर हो जाय। मैं चाहे किसी भी अवस्था में होऊँ परन्तु धन और काम के लिए धर्म और मोक्ष का त्याग न करूँ। मुझे ऐसी शक्ति दो कि धन जाय तो भले जाय पर धर्म न जाय। पुत्र जाय तो जाय, पर धर्म न जाय। इस प्रकार की दृढ़ता धारण कर सकूँ।

इस तरह से प्रार्थना करके भक्तजन और क्या प्रार्थना करते हैं :—

जगत-शिरोमणि भक्ति तुम्हारी,
कल्पवृक्ष सम जानूँ ॥

अन्य वृक्षों से एक ही प्रकार के फल मिलते हैं। उससे दूसरे प्रकार के फलों की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार संसार की एक वस्तु से एक सुख मिलता है तो दूसरा सुख नहीं मिलता। किसी से दूसरा सुख मिलता है तो तीसरे सुख की कमी रहती है। सब सुख संसार के किसी भी पदार्थ से नहीं मिलते और न मिल ही सकते हैं। सब सुखों की प्राप्ति अगर हो

सकती है तो कल्पवृक्ष के समान तेरी भक्ति से ही हो सकती है। इसलिए सब जगह से निराश होकर, हे प्रभो ! मैं तेरी शरण में आया हूँ।

जैसे घी तोलने के लिए कोई आदमी वर्त्तन का वजन करने के हेतु मेंढक तराजू पर रखता है और वजन पूरा न होने पर दूसरा मेंढक लेने जाता है। तब तक पहला मेंढक फुदक कर भाग जाता है। इसी प्रकार मैं एक सुख लेने जाता हूँ तो दूसरा सुख चला जाता है और दूसरा लेने जाता हूँ तो तीसरा चला जाता है। परन्तु तेरी भक्ति का प्रभाव ऐसा है कि उसमें संसार के यह त्रास नहीं हैं और उससे सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। तेरी भक्ति समस्त सुखों के लिए कल्पवृक्ष के समान है।

ईश्वरभक्ति के प्रभाव का वर्णन श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में किया गया है। कहा है :—

खित्तवत्थु हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं ।।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई ।। १ ।।

मित्तवं नायवं होई, उच्चागोए सवण्णए ।।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसोबले ।। २ ।।

धर्मात्मा पुरुष जहाँ जन्म लेता है वहाँ दस बातों का योग उसे प्राप्त होता है ! दस बातों की प्राप्ति होने के कारण वह संसार का सुख भोग करके भी उसमें लिप्त न होगा और अपनी मुक्ति का प्रबंध कर लेगा।

मित्रो ! जो मनुष्य कल्पवृक्ष को छोड़कर दूसरे से फल की याचना करता फिरता है उसे क्या कहना चाहिए ?

'मूर्ख !'

सुखों को प्राप्त करने की इच्छा होते हुए भी जो परमात्मा की भक्ति का त्याग करता है उसे अभागा ही कहना चाहिए। एक-एक सुख के लिए दूसरों से प्रार्थना करने वाला और समस्त सुख देने वाले ईश्वर की भक्ति न करने वाला अभागा नहीं तो क्या है ?

हे प्रभो ! मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मै और कुछ नहीं चाहता, केवल तुम्हारी अनन्य भाव से भक्ति मिले, यही चाहता हूँ।

पूरण ब्रह्म प्रभु परमेश्वर भव-भव तूने पिछानूँ ।

मैं चाहे कहीं जन्म लूँ पर तुम्हे पहचानता रहूँ, तुम्हारा ध्यान न चूकूँ । फिर मुझे कोई कमी नहीं है।

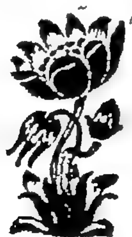
मित्रो ! संसार की अन्य वस्तुओं की कामना करने से भक्ति नहीं आती किन्तु भक्ति होने पर सब वस्तुएँ, सब सुख, आप ही आप चले आते हैं। इसलिए और सब वस्तुओ की कामना छोड़कर ईश्वर की भक्ति करना, ईश्वर की आराधना में ही लीन होना उचित है।

आत्मा को इसी भक्ति रूपी शक्ति की आवश्यकता है। भक्ति के विना आत्मा में शक्ति नहीं आती। जिसने ईश्वरभक्ति का रस-पान किया है उसने अमृतपान किया है। उसमे बड़ी शक्ति है। अगर आप आत्मिक शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो ईश्वर की भक्ति कीजिए।

वास्तव मे अन्तिम रूप से आशा की पूर्ति परमात्मा के सिवाय और कोई नहीं कर सकता। इसीलिए भक्तजन निवेदन करते हैं कि मैं जब तक यह नहीं जानता था कि आशा क्या होनी चाहिए, तब तक संसार मे भटकता रहा। जब आशा का पता लग गया, जब मैंने समझ लिया कि मेरी आशा यह होनी चाहिए तब मैं समझ गया कि यह आशा परमात्मा के सिवाय कोई दूसरा पूरी नही कर सकता।

जो जहाँ अपनी आशा की पूर्ति देखता है, वहीं वह जाता है। हीरे की आशा करने वाला जौहरी के पास जायगा और शाक-भाजी की आशा करने वाला माली कूँजड़े के पास पहुँचेगा। इसी प्रकार जिनके अन्तःकरण में उत्तम भावना की ज्योति जागृत हुई है और जो यह समझ चुके हैं कि इन सांसारिक वस्तुओं से अनेक बार साक्षात्कार हुआ है पर आत्म-कल्याण नहीं हुआ, इसलिए जहाँ आत्मकल्याण हो वहीं जाऊँ, वह वीत-राग भगवान् के चरण-शरण को ही ग्रहण करेगा। वह उन्हीं से अपनी आशा पूर्ण करने की प्रार्थना करेगा। वह कहेगा—

श्री जिनराज सुपास ! पूरो आश हमारी।



८-श्री चन्द्रप्रभनाथ स्वामी



प्रार्थना ।

जय जय जगत् शिरोमणी, हूं सेवक ने तू धणी ।
अब तोसूँ गाढी बणी, प्रभु आशा पूरो हम तणी ॥
मुझ म्हेर करो, चन्द्र प्रभु जग जीवन अन्तरजामी ॥ टेर ॥
भव दुःख हरो, सुणिये अरज हमारी त्रिभुवन स्वामी ॥ १ ॥

"चन्द्रपुरी" नगरी हती, "महासेन" नामा नरपति ।
राणी "श्रीलखमा" सती, तस नन्दन तू चढती रती ॥ २ ॥

तू सर्वज्ञ महाज्ञाता, आतम अनुभव को दाता ।
तो तूंठा लहिये साता, प्रभु धन धन जग में तू तुम धाता ॥ ३ ॥

शिव सुख प्रार्थना करसूँ, उज्ज्वल ध्यान हिये धरसूँ ।
रसना तुम महिमा करसूँ, प्रभु इण विध भवसागर तिरसूँ ॥ ४ ॥

चन्द्र चकोरन के मन में, गाज अवाज होवे घन में ।
पिउ अभिलाषा ज्यों प्रियतन में, त्यूँ वसियो तू मो चितवन में ॥ ५ ॥

जो सुनजर साहिब तेरी, तो मानो विनती मेरी ।
काटो करम भरम बेरी, प्रभु पुनरपि नाहिं करूं भव फेरी ॥ ६ ॥

आतम-ज्ञान दशा जागी, प्रभु तुम सेती लव लागी ।
अन्य देव भ्रमना भागी, 'विनयचन्द' तिहारो अनुरागी ॥ ७ ॥



यह श्रीचन्द्रप्रभ की प्रार्थना है। प्रार्थना तो थोड़ी-बहुत मैं रोज ही करता हूँ, परन्तु इस प्रार्थना के तात्पर्य को आप सावधान होकर समझ लीजिए। इस प्रार्थना में परमेश्वर के साथ प्रेम बाँधने का एक अलौकिक उपाय बतलाया है।

परमात्मा अतिशय सूक्ष्म वस्तु है। संसार के अन्य पदार्थों के साथ आप मिल सकते हैं परन्तु सूक्ष्म के साथ मिलना-उसे प्राप्त करना-कठिन है। सूक्ष्म के साथ मिलने के लिए एक तरफ का विचार कर लेना पड़ता है और एक तरफ का विचार करना सरल नहीं है। किन्तु ज्ञानी जनों का कहना है कि यह कोई कठिन कार्य भी नहीं है। जो परमात्मा नजदीक से भी नजदीक है, उससे प्रेम करना कठिन कैसे हो सकता है?

आप सोचेंगे और शायद आश्चर्य करेंगे कि जब परमात्मा नज़दीक से नजदीक है तो उसके लिए उपदेश की क्या आवश्यकता है? मगर भूल तो यही हो रही है कि संसारी जीव पास की चीज को भूल कर दूर की चीज के लिए दौड़ते हैं।

मृग की नाभि में कस्तूरी होती है, पर जब उस कस्तूरी की सुगंध मृग को आती है, तब वह उस सुगंध में मस्त होकर उसे खोजने के लिए चारों ओर दौड़ता फिरता है और घास-पात को सूंघता फिरता है। उसे यह ज्ञान नहीं है कि सुगन्ध मेरी ही नाभि की कस्तूरी से आ रही है।

आप कह सकते हैं कि मृग तो पशु है, इसलिए उसे अपने पास की वस्तु का ज्ञान नहीं है, परन्तु हम मनुष्य हैं। हम नजदीक की वस्तु को कैसे भूल सकते हैं?

मित्रो ! संसार की वस्तुओं में यह शरीर सबसे अधिक नजदीक है। इससे ज्यादा नजदीक दूसरा पदार्थ नहीं है। इस शरीर का अभ्यास करके भी आप इसे भूले बैठे हैं तो दूसरी वस्तु के विषय में क्या कहा जाय ? आप कहेंगे—शरीर को हम कैसे भूले हुए हैं ? यह मैं आपको बतलाता हूँ।

इस शरीर में जो आँखें हैं, जिनसे आप संसार के सब पदार्थों को देखते हैं, किस शक्तिसे बनी हैं ? इनको बनाने वाला कौन है ? क्या आपने कभी यह सोचा है ? आँखो का जाला हटा देने वाले डाक्टर की तो आप इज्जत करते हैं, सत्कार करते हैं, परन्तु जिसने इनको बनाया है, वह कैसा और कौन है, इस बात पर भी कभी विचार करते हैं ?

मुखड़ा क्या देखे दर्पण में ?
तेरे दयाधर्म नहीं मन में ।। मुखड़ा० ।।

पगड़ी बाँधे पेंच सँवारे;
अकड़ रहे निज मन में।

तन जोवन डूँगर का पानी,
खमक जाय इक छिन में ।। मुखड़ा० ।।

काच देखने का भाव क्या है, इस पर विचार करने की आवश्यकता है। मगर इतना समय नहीं है। आप इतना तो जानते ही हैं कि हमारा मुँह हमको नहीं दीखता, इस कारण काच में देखते हैं। अब बतलाइए, जो चीज शरीर में है वही काच में दीखती है या दूसरी ?

'वही !'

मुँह पर अगर दाग लगा है या पगड़ी का पेंच खराब है तो यह बात काच में है या शरीर में ?

'शरीर में !'

इसमें काच का तो कोई दोष नहीं है ?

'नहीं !'

क्योंकि जैसा आपका मुँह है वैसा ही वह बतलाता है। ज्ञानी कहते हैं—अगर तुम काच पर ही विचार कर लो, तो ज्ञान आ जाय। काच की जगह सारे संसार को मान लो तो आपको मालूम हो जाय कि हम पास की वस्तु को किस प्रकार भूले हुए हैं !

तात्पर्य यह है कि शरीर जैसी अत्यन्त समीप की वस्तु को देख कर—उसके भीतर विद्यमान चेतनाशक्ति पर विचार करके भी आप आत्मा को पहचान सकते हैं। अगर आपने आत्मा को पहचान लिया तो समझ लो कि परमात्मा को पहचान लिया। क्योंकि आत्मा और परमात्मा वास्तव में दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। शुद्ध, बुद्ध और निर्विकार आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा के स्वरूप को न पहचानने से ही परमात्मा को पहचानना कठिन हो रहा है।

यह शरीर परमात्मा की पहचान के लिए और धर्मकार्य करने के लिए है। मगर बाहर के कामों में फँस कर लोग असली कर्त्तव्य को भूल रहे हैं।

एक उत्तम वस्तु, जो बादशाह को भेंट करने के लिए लाई जा रही हो, मार्ग में किसी नीच अविचारी और मूर्ख को भेंट कर देना कितनी मूर्खता है !

आत्मा सूक्ष्म है। उसे देख लो तो परमात्मा भी दृष्टि में आ जायगा। परमात्मा के दर्शन करने का यही मार्ग है। इस मार्ग पर चलने के लिए पहले-पहल परमात्मा की स्तुति करना उपयोगी होता है। मगर परमात्मा की स्तुति शुद्ध भाव से करना चाहिए। पुत्र-कलत्र या धन-दौलत की कामना रख कर स्तुति करना उचित नहीं है। शुद्ध भाव से की हुई स्तुति ही शुद्ध फल प्रदान करती है।

परमात्मा की स्तुति ज्यों-ज्यो शुद्ध भाव से की जाती है, त्यों-त्यो आत्मा का विकास होता है। आज जो परमात्मा है वे भी एक दिन आपकी ही भांति सांसारिक अवस्था मे थे उन्होंने शुभ का कार्यों द्वारा परमात्मपद प्राप्त किया है। परमात्मा हम लोगों को आश्वासन देता है कि "जो पद तुम्हारा था वही मेरा भी है और जो पद मेरा है वह तुम्हारा भी हो सकता है। इस लिए निर्भय रहो और हृदय मे दया रख कर सब जीवो को अभयदान देने का मार्ग ग्रहण करो। ऐसा करने से तुम्हे मेरा पद प्राप्त हो जायगा।"

[ख]

चन्द्रप्रभो! जग-जीवन अन्तर्यामी।

यह भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रार्थना है। प्रार्थना करते हुए भक्त कहता है—

जय जय जगतशिरोमणि।

हे जगत् के शिरोमणि! हे जगदुत्कृष्ट! तेरा जय जयकार हो। इस कथन पर से विचार उत्पन्न होता है कि भक्त के

हृदय में यह विचार क्यों आया ? और जो जगत् का शिरोमणि है, उसका जय जयकार करने से क्या लाभ है। इसके अतिरिक्त जो परमात्मा पूर्ण वीतराग हो चुके हैं, कृतकृत्य हो चुके हैं, समस्त प्रकृति को जीतकर जगत्—शिरोमणि बन चुके हैं, उन्हें क्या करना शेष रह गया है-किसे जीतना बाकी रहा है, जिसके लिए उनका जय जयकार किया जाना है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भक्त जनों का कहना है कि जिन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जिन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली है, उन्हीं की जय मनानी चाहिए। उन्हीं की जय से संसार का कल्याण हो सकता है। बल्कि उन्हीं की जय में संसार का कल्याण छिपा हुआ है। घड़ा जब तक कच्चा है तब तक उससे किसी का लाभ नहीं होता। वह जल को धारण नहीं कर सकता और किसी की प्यास नहीं बुझा सकता। रसोई जब तक कच्ची है, तब तक किसी की भूख नहीं मिटा सकती। पक जाने पर वह भूख मिटाती है और इस प्रकार दूसरों का कल्याण करती है।

मतलब यह है कि जो वस्तु पूर्णता को प्राप्त हो जाती है, वही दूसरों का कल्याण कर सकती है। परमात्मा के संबंध में भी यही बात है। वह भी पूर्णता को पहुँच चुका है। पूर्णता प्राप्त करने के कारण ही उसका जयजयकार हुआ है और इसी कारण उसके निमित्त से दूसरों का कल्याण होता है। अतएव भक्तजन परमात्मा के विषय में कहते हैं—हे जगत्-शिरोमणि ! तेरी जय हो।

जो पूर्णता पर पहुँच जाता है वह दूसरे का कल्याण किस प्रकार कर सकता है, यह जानने के लिए अक्षर को देखो।

सामने किसी अक्षर को आदर्श रखकर, उसे देख-देख कर उसी सरीखा अक्षर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि दूसरा अक्षर बनाने में, उस पहले अक्षर ने कुछ नहीं किया है, फिर भी उसे देखकर उसे आदर्श मान कर ही दूसरा अक्षर बनाया गया है। इस प्रकार यह समझना कठिन नहीं है कि जैसे आदर्श अक्षर को देखकर दूसरा वैसा ही अक्षर बनाया जा सकता है, इसी प्रकार जो पूर्ण है वही दूसरे को पूर्ण बना सकता है। जिस प्रकार पूर्ण अक्षर दूसरा पूर्ण अक्षर बनाने में सहायक होकर उपकार करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी पूर्णता पर पहुँच चुका है, और वह हमें पूर्ण पुरुष बनाने में समर्थ है। यद्यपि आदर्श अक्षर को दूसरे बनने वाले अक्षर से कुछ भी लेना-देना नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा को भी संसार से कुछ लेना-देना नहीं है। संसार से उसका कोई सरोकार नहीं है। फिर भी वह पूर्ण पुरुष संसार के जीवों को पूर्णता दिलाने में समर्थ है। वह पूर्णता प्राप्त करने में सहायक होता है। इसी कारण उसका जयजयकार किया जाता है। इसीलिए भक्त जन कहते हैं—

जय जय जगत—शिरोमणि !

परमात्मा कृतकृत्य हो चुके हैं। उन्होंने चरम विजय प्राप्त कर ली है। हमारे जय-जयकार करने से परमात्मा की जय नहीं होती है। फिर भी परमात्मा की जय चाहना अपनी नम्रता प्रकट करना है। इस प्रकार कहकर भक्त लोग आगे कहते हैं— प्रभो ! यद्यपि तू पूर्ण है। तू ने सर्वोत्कृष्ट विजय प्राप्त कर ली है। लेकिन मैं अभी तक तुझसे दूर पड़ा हूँ। इसका कारण मेरा भ्रम ही है। मैं सोचता हूँ कि परमात्मा क्या करता है! मैं स्वयं

कमाता हूँ और स्वयं खाता हूँ। इसमें परमात्मा का क्या उपकार है ? इस प्रकार के भ्रमपूर्ण विचार के कारण ही मैं तुमसे दूर पड़ा हूँ। लेकिन अब मुझे यह विचार आ रहा है कि जिन विषयभोगों के भ्रमजाल में पड़कर मैं परमात्मा को भूल रहा हूँ, उन विषयों से मुझे कभी तृप्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ कल पेट भर भोजन किया था, लेकिन आज फिर भोजन करना पड़ेगा ! संसार के अन्य पदार्थों के विषय में भी ऐसी ही बात है। संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसे आत्मा ने न भोगा हो। प्रत्येक पदार्थ को अनन्त-अनन्त वार आत्मा भोग चुका है। अनादि काल से भोग भोगते-भोगते भी अभी तक आत्मा तृप्त नहीं हुआ। अगर आत्मा को भोग भोगने से तृप्ति संभव होती तो वह कभी की हो गई होती। लेकिन तृप्ति का एक अंश भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। दिन दूनी रात चौगुनी तृष्णा बढ़ती ही दिखाई देती है। इस तृष्णा का कहीं ओर-छोर नहीं है। वह आकाश की तरह असीम और काल की तरह अनंत है। तृष्णा अनन्त है और पदार्थ परिमित हैं। यह परिमित पदार्थ अनन्त तृष्णा को किस प्रकार शान्त कर सकते हैं ? इसके अतिरिक्त एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि जो भोग भोगे जाते हैं वे तृष्णा को कम करने के बदले बढ़ाते हैं। जैसे आग में ईंधन डालने से वह बढ़ती है, उसी प्रकार भोग भोगने से तृष्णा बढ़ती ही चली जाती है।

हाँ, इस अनन्त तृष्णा से एक बात अवश्य मालूम पड़ी। यह अनन्त तृष्णा जब आत्मा की ही है तो आत्मा भी अनन्त होना चाहिए। तृष्णा अनन्त है तो जिसकी तृष्णा है, वह तृष्णा का आधारभूत आत्मा भी अनन्त अवश्य होगा। इस प्रकार

तृष्णा की अनन्तता से आत्मा की अनन्तता का पता चला है। यह विष में से भी अमृत का निकलना समझिए।

हे प्रभो! यह भान होने पर मैंने अपनी आत्मा से कहा— हे आत्मन्! जब तू अनन्त है तो 'अनन्त' (परमात्मा) के साथ ही अपना सम्बन्ध क्यों नहीं जोड़ता? तू परिमित के साथ क्यों चिपटा हुआ है?

प्रश्न होता है कि क्या परमात्मा है, जो उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इच्छा उसी वस्तु की होती है जिसका अस्तित्व हो। जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं होता उसकी इच्छा भी नहीं होती। भोजन ही न होता तो उसे खाने की इच्छा कहाँ से आती? इसी के अनुसार भगवान् अनन्त न होते तो उन्हें प्राप्त करने की इच्छा भी न होती। भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा होती है, इससे स्पष्ट है कि भगवान् हैं। यह बात दूसरी है कि जिस प्रकार भोजन दूर हो और इस कारण उसे प्रयत्न के द्वारा प्राप्त करना पड़े, लेकिन भूख लगने के कारण यह विश्वास तो है ही कि संसार में भोजन भी है। और भोजन दूर है इस कारण वह प्रयत्न के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जब दूर होने पर भी भोजन प्राप्त किया जा सकता है तो क्या भगवान् को प्रयत्न द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता? जैसे श्रमसाध्य होने पर भी भोजन मिलता है उसी प्रकार दूर होने पर भी भगवान् प्रयत्न करने से अवश्य मिलता है। अतएव जिसके अन्तःकरण में परमात्मा को प्राप्त करने की भावना जागेगी, वह परमात्मा की ओर आकर्षित होगा, उसे पाने के लिए प्रयत्न करेगा अन्त में उसे परमात्मा मिले बिना नहीं रहेगा।

कल्पना करो, एक आदमी को भूख लगी है। उसे आप कितने ही प्रलोभन दें, संतुष्ट करने का कितना ही प्रयत्न करें, फिर भी भोजन किये बिना उसे संतोप नहीं होगा। भूख मिटने पर ही उसे संतोष होगा और भूख भोजन से ही मिट सकेगी। आप अपने शरीर पर लाखों के आभूषण भले ही पहन लें, मगर भूख लगने पर वे आभूषण किस काम आएँगे ? यह बात दूसरी है कि परम्परा से आभूषणों द्वारा भोजन प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन साक्षात् रूप से उनके द्वारा भूख नहीं मिट सकती। इस प्रकार भूख लगने पर आभूषण बेकार हैं और इसी कारण भूखा आदमी आभूषण पाकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता। आभूषण पाने पर भी उसकी भूख ज्यों की त्यों बनी रहेगी और वह भोजन पाने का ही प्रयत्न करेगा।

इसी प्रकार जिस भक्त के अन्तःकरण में परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा है वह सांसारिक भोग-विलास के प्रलोभन में पड़कर सन्तुष्ट नहीं हो सकता। बल्कि वह इस प्रलोभन में पड़ेगा ही नहीं। उसे एक मात्र परमात्मा को प्राप्त करने की ही इच्छा रहेगी। परमात्मा-विषयक उसकी भूख किसी भी दूसरे उपाय से नहीं मिटाई जा सकती।

आपके अन्तःकरण में जब परमात्मा को पाने की ऐसी बलवती इच्छा जागृत हो और आपका मन भोग-विलास की तरफ न जावे और परमात्मा को ही प्राप्त करना चाहे तब समझना चाहिए कि हमारे भीतर परमात्मा की सच्ची लगन लगी है। जिसके हृदय में ऐसी लगन होगी उसे परमात्मा प्राप्त होगा ही।

जब तक अन्तःकरण में परमात्मा को प्राप्त करने की बलवती इच्छा उत्पन्न नहीं हुई है, तब तक निरन्तर प्रयत्न करते

रहने की आवश्यकता है। प्रयत्न से ऐसी इच्छा अवश्य उत्पन्न होगी और आत्मा सही मार्ग पर आ जायगा। घड़ी बिगड़ जाती है या लड़का बिगड़ जाता है तो उसे सुधारने का प्रयत्न किया जाता है और सुधार हो भी जाता है। इसी आधार पर यह भी मानो कि आत्मा भी सुधर सकता है, केवल प्रयत्न करने की आवश्यकता है। सांसारिक पदार्थों का सुधार कर लेना ही काफी नहीं है। अपनी आत्मा का सुधार करो। आत्मा का सुधार ही सच्चा सुधार है। जब आत्मा सुधर जायगा तो उसे परमात्मा की प्राप्ति किये बिना किसी भी प्रकार संतोष नहीं होगा। वह पूर्ण प्रयत्न करके परमात्मा को प्राप्त करके ही दम लेगा।

आजकल के लोगों को आत्मा के सुधार के लिए किसी कठिन क्रिया करने में घबराहट होती है। वे ज़रा-सी कठिनाई सामने आने पर हिम्मत हारने लगते हैं। मगर कठिनाई में पड़ने की अनिवार्य आवश्यकता ही कहाँ है? ज्ञानियों ने इसके लिए बहुत ही सरल उपाय बतलाये हैं। उनके बतलाये उपाय करने से कठिनाई नहीं झेलनी पड़ती और आत्मा का सुधार भी हो जाता है। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि तुम्हें जो कठिनाई दिखलाई पड़ती है, वह अज्ञान के कारण ही है। अज्ञान को दूर कर दो तो कुछ भी कठिनाई नहीं रहेगी। शास्त्र में जो उपदेश दिया गया है वह अज्ञान मिटाने के लिए ही दिया गया है। उस उपदेश को सुन कर अज्ञान को हटाओ। फिर देखोगे कि तुम्हारे आगे की सभी कठिनाइयाँ समाप्त हो गई हैं और तुम्हारा मार्ग एक दम साफ और सुगम बन गया है।



९-श्री सुविधिनाथ स्वामी



प्रार्थना ।

"काकंदी" नगरी भली हो, "श्री सुग्रीव" नृपाल ।
"रामा" तस पटरायनी हो, तस सुत परम कृपाल ॥
श्री सुविध जिणेसर वंदिये ॥ टेर १ ॥

प्रभुता त्यागी राजनी हो, लीधो संजम भार ।
निज आतम अनुभव थकी हो, पाम्या पद अविकार ॥ २ ॥

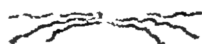
अष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
सुध समकित चारित्रनो हो, परम क्षायक गुणलीन ॥ ३ ॥

ज्ञानावरणी दर्शनावरणी हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञान दरशन बल ये तिहूं हो, प्रकट्या अनन्तानन्त ॥ ४ ॥

अव्याबाध सुख पामिया हो, वेदनी करम खपाय ।
अवगाहना अटल लही हो, आयु क्षय कर जिनराय ॥ ५ ॥

नाम करम नो क्षय करी हो, अमूर्तिक कहाय ।
अगुरुलघुपणो अनुभव्यो हो, गोत्र करम मुकाय ॥ ६ ॥

अष्ट गुणाकर ओलख्यो हो, जोति रूप भगवन्त ।
"विनयचन्द" के उर वसो हो, अहोनिश प्रभु पुष्पदन्त ॥ ७ ॥



[क]

जिन सुविधिनाथ भगवान् को नमन करने से, ध्यान करने से, और स्मरण करने से बुद्धि में सरलता आ जाती है, उन सुविधिनाथ को वन्दना करना चाहिए। इनके गर्भ में आते ही इनकी माता की बुद्धि निर्मल हो गई थी, उनकी बुद्धि सुबुद्धि बन गई थी। इसलिए इनका नाम 'सुबुद्धिनाथ' भी है। आगे चल कर भगवान् सुविधिनाथ ने क्या किया ?

त्यागी प्रभुता राजनी हो, लीनो संजम भार।
निज आतम-अनुभव थकी हो, पाया पद अविकार।

इन महापुरुष ने अपनी आत्मा का अनुभव करके मोह का नाश किया और अन्त में परम पद को प्राप्त किया।

आत्मा को परमात्मा की भक्ति में तल्लीन करना बुद्धि-बिन्दु को सीप में डालना है। अगर बुद्धि-बिन्दु को सीप में न डाल सको तो कमल-पत्र पर तो डालो ! जहाँ मोती न होगा तो मोती के समान तो होगा ! कमल-पत्र पर डालने के लिए क्या करना चाहिए ? अनुकम्पा करना, किसी जीव के दुःख-दर्द को दूर करना। ऐसा करते हुए भी यदि तुम्हारी आत्मा में मोह-मत्सरता आदि बने रहे तो भी आत्मा ऊँची ही चढ़ेगी, नीचे नहीं गिरेगी।

आत्मा को उत्तम संगति में लगाकर उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। नीच वस्तु के ध्यान मात्र से हृदय में नीचता आ जाती है, तो कुसंगति से नीचता आना कौन-सी आश्चर्य की बात है !

प्रातःकाल उठकर अपने चित्त को नीच कार्य में न डाल कर जगत्कल्याण के कार्य मे डालो तो दिन कितना अच्छा व्यतीत होता है! और अगर सवेरे ही हृदय में बुरे विचार आये तो सारा दिन ऐसा ही व्यतीत होगा। हृदय में बुरे विचार आने से स्वप्न भी बुरे आते हैं और वही बुरे विचार मनुष्य को चक्कर मे डालकर बुरे काम कराते हैं, जिससे समस्त जीवन ही नहीं बल्कि असीम भविष्य भी बिगड़ जाता है।

अकसर लोग समझते हैं कि हमारी हानि दूसरे बाहर वाले ने की है, पर नहीं, यह तुम्हारे हृदय के बुरे विचारों का ही परिणाम है। इस प्रकार गहराई में उतर कर अगर सचाई का पता लगाओगे तो मालूम होगा कि कुसंगति से उत्पन्न होने वाले नीच विचारों के कारण तुम्हारी कितनी हानि होती है!

कौन ऐसा है जो अपने लिए अच्छा करने की इच्छा न करे? सभी अपनी भलाई चाहते हैं।

फिर उन्हें रोकता कौन है? किसने मना किया कि अच्छा मत करो? किस राजा के पहरे बैठे हैं? किसने हथकड़ी-बेड़ी डाल रक्खी है कि अच्छा काम या अच्छा विचार न करो?

'मोहराज ने!'

मोह बेचारा क्या चीज है? मोह भी तो विचार में ही होता है। अपने विचार गंभीर बनाओ, खोटे विचार मत करो, खोटे वचन मत बोलो, खोटी दृष्टि न डाल कर परस्त्री को माता-बहिन की दृष्टि से देखो। ऐसा करोगे तो घाटे में नहीं रहोगे। कभी हानि नहीं उठाओगे।

यह जानते हो कि चोरी बुरे विचार के बिना नहीं होती। व्यभिचार भी बुरे विचारों के बिना नहीं होता। जितने भी नुकसान हैं वह सब बुरे विचारों के ही फल हैं। इन बुरे विचारों में सफल न हुए, पकड़ में आगये, राज्य के द्वारा दण्डित हुए तो फल किसका ?

'खोटे विचारों का !'

जब खोटे विचारों का फल होता है तो क्या खरे (अच्छे) विचारों का फल न होगा ? फिर अच्छे ही विचार क्यों नहीं करते ?

अच्छे विचारों की ओर अन्तःकरण का झुकाव न होता हो तो परमात्मा का भजन करो। परमात्मा का स्मरण करो। इससे हृदय में शान्ति होगी, बुरे विचार न होंगे और अशुभ कर्मों का बन्ध न होगा। इसीलिए महात्मा उपदेश करते हैं :—

खबर नहिं है जग में पल की।
सुकृत कर ले राम सुमर ले,
कौन जाने कल की।
कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी,
करे बात छल की।
सिर पर तेरे पाप गठरिया,
किस विध हो हल्की।

भाइयो, कोई एक पल आगे की भी बात जानता है ? न मालूम किस समय शरीर छूट जाय ! हृदय की गति बन्द हो जाने से मनुष्य बैठा-बैठा ही मर जाता है, कुछ देर ही नहीं

लगती। जब यह हाल है तो आत्मा को सुकृत से क्यों वंचित रखना चाहिए ?

सुकृत कर ले !
राम सुमर ले !

दोनो ही बातें हाथ में हैं। अच्छे काम भी कर सकते हो और परमात्मा का स्मरण भी कर सकते हो। तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी या संसार में, कर लीजे दो काम।
देने को टुकड़ा भला, लेने को हरि नाम।

टुकड़े का अर्थ यहाँ रोटी का ही टुकड़ा मत समझो। यह समझना चाहिए कि यह तन धन मेरा ही नहीं है कि मैं इसे सँभाल कर मालिक बना बैठा रहूँ। इस धन को आत्मा की शान्ति के लिए यदि मैं ने सत्कार्य में व्यय किया तो मैं इसका मालिक हूँ, नहीं तो गुलाम हूँ।

मालिक कौन है ? और तावेदार किसे कहते हैं ? मालिक वह है जो काम ले और तावेदार वह है जो काम दे। इस प्रकार काम लिया तो मालिक और काम देने लगे तो मालिक रहे ?

'नहीं !'

जिनको तावेदार कहते हो वह काम लेने लगे और तुम काम देने लगे तो फिर तावेदार मालिक है और मालिक तावेदार है। क्या आप धन के मालिक हैं ?

'हाँ !'

क्या कानों में तोड़े पहन लेने से ही धन के मालिक हो गये ? जिन तोड़ों ने तुम्हारे कान फाड़े हैं वह तुम्हारे मालिक हैं या तुम उनके मालिक हो ? कान फाड़ने वाले तोड़ो के तुम मालिक कहलाओगे तो फिर गुलाम कौन कहलाएगा ? नौकर, मालिक की चिन्ता रखता है या मालिक, नौकर की फिक्र रखता है ? जिस धन की तुम्हें रखवाली करनी पड़ती है उसके तुम मालिक कैसे हुए ?

मित्रो ! यह मालिकी नहीं है। अगर आप जब चाहे तभी धन को सत्कार्य में लगा सकें, जब चाहे तब उससे ममत्व हटा कर शान्ति प्राप्त कर सकें तो आप धन के स्वामी कहला सकते हैं। इसके विरुद्ध जो धन मोह उत्पन्न करता है, आसक्ति उत्पन्न करके अशान्ति का अनुभव कराता है, उस धन के तुम स्वामी नहीं।

तुम लक्ष्मी की तसवीर देखते हो। उसमें लक्ष्मी क्या करती है ? कृष्ण के पैर दबाती है। इसी कारण कृष्ण उसके नाथ कहलाते हैं। अगर कृष्ण लक्ष्मी के पैर दबाते होते तो ? क्या वे लक्ष्मी के नाथ रहते या लक्ष्मी उनकी नाथ बन जाती ? अब आप स्वयं विचार कीजिए कि आप लक्ष्मी के स्वामी हैं या सेवक हैं ? स्वामी था प्रदेशी, जिसने उपदेश सुनकर पौने दो हजार गाँव दान में दे दिये। मगर आज तो कोई-कोई धर्मगुरु भी दान देने में पाप बतलाते हैं !

जरा विचार करो कि आपने दान देकर ममता का त्याग कर दिया तो पाप कैसे हो गया ? और अगर ममता नहीं त्यागी तो पाप से कैसे बच गये ?

धन ज़हर है न ? उस ज़हर को खुद न पीकर दूसरे को पिलाना कितना बडा पाप है ! जहर को स्वयं पीना अच्छा मगर दूसरे को देना अच्छा नहीं ! इन सब वातों का अर्थ यही है कि दूसरों को दान देना अच्छा नहीं है ।

लोकोत्तर ज्ञान के धनी भगवान् नेमिनाथ ने जीवदया से प्रेरित होकर राजीमती को त्याग दिया । इतने वह दयालु थे। और फिर घर लौट कर ज़हर बाँटने लगे ! वह भी थोडा नहीं, वरन् एक करोड़, आठ लाख सोनैया लगातार एक वर्ष तक बाँटते रहे ! पशुओं और पक्षियों पर तो उन्होंने इतनी दया की कि राजीमती को भी त्याग दिया और फिर ज़हर बाँटने में उन्हें दया नहीं आई !!

मित्रो ! जगत् के नाथ महापुरुषों के कार्य का इस प्रकार क्यों अनादर करते हो ? जिन्होंने मूक पशुओं पर भी दया की वह दान देने में पाप समझते तो दान देते ही क्यों ? मगर आप को दान देने में पाप मान लेने का उपदेश दिया जाता है और आप यह समझ कर उसे स्वीकार कर लेते हैं कि—चलो धन भी बचा और धर्म भी हुआ ! मगर अपने भविष्य को सोचो । धन साथ लेकर कोई गया है या आप ही पहले-पहल लेकर जाओगे ?

एक भूखा मनुष्य भूख से बिलबिला रहा है । किसी ने उसे अन्न देकर बचा लिया तो उसने पाप किया ? वह भूख का दुःख मिटाने के लिए अन्न देता है फिर जहर कैसा ? जब भूखा आदमी भूख से कराह रहा है और अन्न उसे मिल नहीं रहा है तो उससे क्रिया लगती है और अन्न मिलने से शान्ति होती है

के नहीं ? फिर जो शान्ति करने के लिए दान देता है उसे पाप कैसे लगा ? थोड़ा-बहुत विचार तो करो !

इस प्रकार विचार कर उदारता धारण करो । मोह-ममता को घटाओ, तो आपका कल्याण होगा ।

[ख]

श्री सुविधि जिनेश्वर वन्दिये रे, प्राणी ।

परमात्मा की प्रार्थना करने का रहस्य गहरा है। उस रहस्य तक मनोभाव की पहुँच भी कठिनाई से ही होती है तो शब्दों की पहुँच सरलता से कैसे हो सकती है ? फिर भी शब्दों का प्रयोग किये बिना काम नहीं चलता । संसार में शब्दों को छोड़ कर और क्या साधन है कि कोई अपने मन के भावों को प्रकट करे ? अतएव इतना कहता हूँ कि आत्मा पर चढ़े हुवे आवरणों को हटाने के लिए ही परमात्मा की प्रार्थना की जाती है। आत्मा के मौलिक स्वरूप पर विचार करने से विदित होता है कि वास्तव में आत्मा और परमात्मा के स्वरूप में कुछ भी अन्तर नहीं है। जो अन्तर आज मालूम हो रहा है वह औपाधिक है। वह बाह्य कारणों से उत्पन्न हुआ है। वह बाह्य कारण आठ कर्म हैं। आठ कर्म आत्मा के वैरी हैं। उन्होंने आत्मा के असली स्वरूप को ढँक दिया है। आत्मा को राजा से रंक बना दिया है। साधारण लोग दूसरे व्यक्तियों को अपना वैरी समझते हैं मगर उन्हें वास्तविकता का पता नहीं है। जिसे वास्तविकता का भान हो जाता है, उसके मन में तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि कर्म-आवरण के सिवाय आत्मा का शत्रु

और कोई नहीं है। इन्हीं वैरियों को हटाने के लिए ही परमात्मा की स्तुति की जाती है।

आत्मा के शत्रु परमात्मा की प्रार्थना करने से कैसे दूर भाग जाते हैं ? इस प्रश्न का समाधान यह है। शत्रु जब शक्तिशाली होता है और उसे पराजित करने का अपने में सामर्थ्य नहीं होता तो किसी बड़े की शरण ली जाती है। महान् शक्तिशाली बड़े की सहायता लेने से जबर्दस्त शत्रु भाग जाते हैं। इस प्रकार जो काम यों नहीं होता वह बड़े की सहायता प्राप्त होने पर सरलता के साथ हो जाता है।

लोक व्यवहार में अकसर ऐसा होता है। फिर भी पौराणिक उदाहरण देखना हो तो कौरवों और पाण्डवों का उदाहरण देख सकते हैं। जब कौरव पाण्डव-युद्ध होना निश्चित हो गया और दोनो ही विजय प्राप्त करने की अपनी अपनी शक्ति को टटोलने लगे तो इन्हे प्रतीत हुआ कि हमारी विजय सिर्फ हमारी शक्ति से नहीं होगी। अतएव दोनों ही श्री कृष्णजी की शरण में गये। दोनों ने कृष्णजी को अपने-अपने पक्ष में शामिल करने का विचार किया। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पसन्द किया और दुर्योधन ने उनकी सेना पसन्द की। मगर विजय उसी पक्ष की हुई जिस पक्ष में अकेले श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण की बलवती सेना भी कौरवों को विजयी न बना सकी और अकेले निश्शस्त्र श्रीकृष्ण ने पांडवों को विजयी बना दिया।

अर्जुन ने विशाल और सुशिक्षित यादव सेना न लेकर कृष्ण को ही लेना उचित समझा था। अर्जुन जानते थे कि कृष्ण की विवेकयुक्त बुद्धि के सामने शस्त्र क्या कर सकते हैं ? नीति में कहा है—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

अर्थात्—जिसमें बुद्धि है उसमें बल है। बुद्धिहीन में बल कहाँ ?

दुर्योधन के पक्ष में विशाल सेना थी और शस्त्रास्त्र की कमी नहीं थी, मगर उसकी बुद्धि खराब थी। इस कारण उसकी हार हुई। अर्जुन बुद्धिमान् थे इसलिए उन्होंने सेना न लेकर श्री कृष्ण को ही लिया। इसी तरह अगर आपकी बुद्धि अच्छी है और आप विजय चाहते हैं, कर्म रूपी शत्रुओं को भगाना चाहते हैं तो आप भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण लीजिए। लेकिन यह ध्यान रखना कि भगवान् सुबुद्धिनाथ को प्राप्त करने के लिए निर्मल बुद्धि होनी चाहिए। अगर आपकी बुद्धि मे विकार हुआ तो भगवान् सुबुद्धिनाथ आपको प्राप्त नहीं होंगे। अपनी बुद्धि को निर्मल बना कर जब आप सुबुद्धिनाथ प्रभु की शरण गहेंगे तो आपकी आत्मा के शत्रु आप ही भाग जाएँगे। आत्मा के सच्चे शत्रु आत्मा में ही रहते हैं। वे भगवान् की सहायता के विना नहीं भाग सकते। इसलिए जैसे अर्जुन के मन में यह निश्चय था कि कृष्ण के विना मेरी जीत नहीं हो सकती, उसी प्रकार आप भी अपने मन में निश्चय कर लीजिए कि भगवान् सुबुद्धिनाथ की सहायता के विना मैं अपने आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार की दृढ आस्था होने पर ही आप भगवान् की शरण ले सकेंगे। श्रीकृष्ण के पास सेना भी थी और हथियार भी थे। लेकिन भगवान् सुबुद्धिनाथ के पास हथियार नहीं हैं। फिर भी क्या आप उसकी सहायता लेना पसन्द करेंगे ? आपकी समझ में यह बात आ जानी चाहिए कि हथियारों में जहर भरा हुआ है। हथियार दूसरों का गला काटने के सिवाय और कुछ भी काम नहीं दे सकते। उनसे

शत्रुओं की हानि नहीं, वृद्धि ही होती है। हानि अगर होती तो शस्त्र का उपयोग करने वाले की ही होती है। शस्त्रों के द्वारा शत्रुता भी मिटने के बदले बढ़ती ही है। अगर आप इस तथ्य को भली-भांति समझ लेंगे तो शस्त्रहीन भगवान् सुबुद्धिनाथ को उसी प्रकार ग्रहण करेंगे जैसे वीर अर्जुन ने निश्शस्त्र श्रीकृष्ण को ग्रहण किया था। आप विश्वास रखिए, जब आपके हृदय में वीतराग भगवान् विराजमान होंगे तो राग-द्वेष आदि विकार उसी प्रकार विलीन हो जाएँगे। जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार विलीन हो जाता है।

बाह्य दृष्टि से न देख कर अन्तर्दृष्टि से देखोगे तो पता चलेगा कि आपके आन्तरिक शत्रु वही हैं जिन्हें वीतराग भगवान् ने जीता है। उन्हीं शत्रुओं ने आपके ऊपर अपना आधिपत्य जमा रक्खा है। भक्त जन कहते हैं—

जे तुम जीत्या ते मुझ जीतिया,
पुरुष किसो मुझ नाम ।

अतएव अगर आप वैरिविहीन बनना चाहते हैं तो भगवान् को अपने हृदयमन्दिर में विराजमान कीजिए। भगवान् ने उन वैरियों को जीत लिया है, अतएव उनके भीतर प्रवेश करते ही वैरी भाग जाएँगे। इसमें सन्देह की आवश्यकता नहीं है। णमोकारमन्त्र का पहला पद है—'नमो अरिहंताणं।' अर्थात् वैरियों का नाश करने वालों को नमस्कार हो। इस पर आशंका हो सकती है कि जिसने अपने वैरियों का नाश किया है वह वीतराग कैसे कहला सकता है? मगर उन्होंने किसी बाह्य शत्रु को नष्ट नहीं किया है। कर्म-शत्रु का नाश करने के कारण ही वे अरिहन्त कहलाते हैं।

कर्म किस प्रकार शत्रु है, यह बात समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है। आम तौर पर कर्म का अर्थ कर्त्तव्य समझा जाता है। कर्त्तव्य चाहे अच्छा हो अथवा बुरा हो, वह यहीं रह जाता है। आत्मा के साथ वह नहीं जाता। ऐसी स्थिति में कर्म परभव में फल कैसे दे सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हिंसा आदि की क्रिया भले ही यहीं रह जाय मगर क्रिया-जनित संस्कार आत्मा में बना रहता है और वही संस्कार शुभ-अशुभ फल देता है। इस बात को समझने के लिए वनस्पति को देखिये। शास्त्र में वनस्पति के सम्बन्ध में बहुत विचार किया गया है और उसे 'दीर्घलोक' नाम दिया गया है। आज के वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं कि वनस्पति स्वतन्त्र शक्ति प्राप्त करके हमें सहायता देने वाली है। वह पृथ्वी, पवन, जल आदि से बिगड़ी वस्तु लेकर अपनी शक्ति से उसे सुधारती है। फिर उसका फल आप ग्रहण करते हैं। अब अगर सुधरी हुई वस्तु लेकर उसे बिगाड़ दें तो वनस्पति की अपेक्षा भी गये-बीते कहलाएँगे या नहीं ?

प्रश्न किया जा सकता है कि पृथ्वी, पानी आदि को 'दीर्घलोक' न कह कर सिर्फ वनस्पति को ही 'दीर्घलोक' क्यों कहा है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य का कहना है कि वनस्पति के आधार पर ही संसार का टिकाव है। इसी कारण वनस्पति को 'दीर्घलोक' कहते हैं।

पानी बरसने पर जंगल में हरियाली ही हरियाली दिखाई पड़ती है। पानी बरसने पर वनस्पति हरी हो जाती है, लेकिन साधु के वचन रूपी जल की वर्षा होने पर भी अगर आपके

अन्तःकरण में धर्म की जागृति नहीं हो तो आपको क्या कहा जाय ?

अपने यहाँ पन्नवणासूत्र में वनस्पति के सम्बन्ध में बहुत विचार किया गया है। आजकल के वैज्ञानिकों ने भी वनस्पति शास्त्र की रचना की है। वनस्पति के विषय में गाँधीजी ने अपने एक लेख में लिखा है कि— 'वनस्पति की शोध में अभी तक बहुत कमी है। इतनी अधिक कमी है कि अगर यह कहा जाय कि अभी तक पृथ्वी ही नहीं जोती गई है तो भी कुछ अनुचित नहीं होगा। अगर वनस्पति की विशिष्ट खोज की जाय तो लोगों को भ्रष्ट दवा खाने की आवश्यकता न पड़े। आयुर्वेद में कहा है कि जो प्राणी जहाँ उत्पन्न होता है, उसके लिए उसी प्रदेश की दवा उपयोगी होती है। ऐसा होते हुए भी आजकल के लोग भ्रष्ट चीजें खाना पसन्द करते हैं और भारतवर्ष में उत्पन्न होकर भी इंग्लैण्ड की औषध खाते हैं ? वह दवा कितनी ही अपावन क्यों न हो, बिना विचार किए उसे निगल जाते हैं या डकार जाते हैं। अगर वनस्पति के सम्बन्ध मे अधिक खोज की जाय तो इस देश के निवासियों की प्रकृति के विरुद्ध और अपवित्र दवाइयाँ खाने का अवसर ही न आवे।"

मतलब यह है कि क्रियाजनित संस्कार किस प्रकार आत्मा को शुभाशुभ फल देता है, इस बात की खोज वनस्पति के आधार पर की जा सकती है। इसके लिए वटवृक्ष को देखिये। वटवृक्ष हवा-पानी आदि के संयोग से अपना विस्तार करता है। उसकी डालियां और पत्तों का फैलाव होता है और उनमें फल लगते हैं। वट की इस प्रकट क्रिया के साथ ही साथ उनमें एक गुप्त क्रिया भी होती रहती है। उसी गुप्त क्रिया के आधार पर

यह विचार किया जा सकता है कि शुभ-अशुभ क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले संस्कार किस प्रकार आत्मा को फल प्रदान करते हैं ?

बड़ के फल में छोटे छोटे बीज होते हैं। उन बीजों में बड़ अपना सरीखा वृक्ष भर देता है। फल या बीज में अगर बड़-वृक्ष को देखने का प्रयत्न किया जाय तो दिखाई नहीं देता मगर बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है कि बीज में सम्पूर्ण वृक्ष छिपा हुआ है। छोटे से बीज में अगर वृक्ष न छिपा होता तो पृथ्वी, पानी, ताप आदि का अनुकूल संयोग मिलने पर वह कैसे प्रकट हो सकता था ? आशय यह है कि बड़-वृक्ष के संस्कार जैसे उसके बीज में मौजूद रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा के द्वारा की हुई क्रियाओं के संस्कार आत्मा मे मौजूद रहते हैं और वे संस्कार क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा को शुभ या अशुभ फल प्रदान करते हैं।

पानी बरसने से पहले, जंगल मे जब हरियाली नहीं होती, उस समय अगर हरियाली के बीजों को देखा जाय तो उनमें वैसी विचित्रता नजर नहीं आएगी। मगर पानी बरसने पर जब नाना प्रकार की हरियाली उगती है तो मानना पड़ेगा कि बीज भी नाना प्रकार के थे। बीज न होते तो हरियाली कहाँ से आती ? और अगर बीजों में विचित्रता न होती तो हरियाली में विचित्रता कैसे होती ? बीज के अभाव में हरियाली नहीं होती, पानी चाहे कितना ही बरसे। इस प्रकार कार्य को देख कर कारण का पता लगा लिया जाता है। हरियाली को देख कर जाना जा सकता है कि यहाँ बीज मौजूद थे और जैसे बीज थे, पानी आदि का संयोग मिलने पर वैसा ही वृक्ष उगा है।

बस, यही बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। यों तो कर्म के बहुत-से भेद हैं, मगर मध्यम रूप से आठ भेद किये गये हैं। जैनों का कर्मसाहित्य बहुत विशाल है और उसमें कर्म के विषय में बहुत विचार किया गया है। श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि सम्प्रदायों में अनेक छोटी-मोटी बातों में मतभेद है, मगर कर्म के आठ भेदों में तथा उनके कार्य के विषय में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

इन आठ कर्मों में चार अशुभ और चार शुभाशुभ हैं। मगर शास्त्र का कथन है कर्म मात्र का, फिर चाहे वह शुभ हो या अशुभ, त्याग करना ही उचित है। ऐसा करने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है। यो तो आत्मा स्वयं परमात्मा ही है। कर्म के कितने ही आवरण आत्मा पर चढ़े हों, अपने स्वरूप से वह परमात्मा ही है। शुद्ध संग्रहनय के मत से 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है, इस दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। अपना आत्मा भी परमात्मा की तरह पवित्र है। आत्मा और परमात्मा में आज जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आवरण ही है। आवरणों के हट जाने पर आत्मा सुबुद्धिनाथ ही है। इसलिए कहा गया है:—

द्वैत-कल्पना मेटो।

वेदान्त भी 'तत्त्वमसि' कह कर इसी सिद्धान्त का निरूपण करता है। सारांश यह है कि कर्म के कारण आत्मा और परमात्मा में भिन्नता पड़ रही है। जब वह भिन्नता हट जाती है तो दोनों में लेश मात्र भी अन्तर नहीं रहता। इस भिन्नता को हटाने के लिए ही भगवान् सुबुद्धिनाथ को हृदय में बसाने की

आवश्यकता है। भगवान् सुबुद्धिनाथ ने कर्मों को नष्ट कर डाला है, अतएव जिसके हृदय में वे बसेंगे उसमें भी कर्मों का अस्तित्व नहीं रह सकेगा। काम, क्रोध, मोह आदि विकार कर्म के कारण हैं और जिस हृदय में भगवान् बसते हैं उसमे इन विकारों की पैठ नहीं हो पाती। अतएव आत्मा निष्कर्म होकर पूर्ण परमात्मा बन जाता है।

मकान, ईंट-चूने का बना होता है, फिर भी आप उसे अपना मानते हैं। लड़की दूसरे की होने पर भी जब उसका सम्बन्ध आपके लड़के के साथ हो जाता है तो उस पर आपकी आत्मीयता नहीं हो जाती? इस प्रकार जब बाहर की चीज पर भी मोह होता है, तब जो कर्म शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, उनके प्रति मोह होना स्वाभाविक ही है। और उसके प्रति मोह होने के कारण ही आत्मा और परमात्मा में अन्तर पड़ा हुआ है। कर्म की उपाधि न हो तो आत्मा और परमात्मा मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता। इसलिए कहा है—

तू जिस्म जिगर और जहाँ नहीं जानना।
फिर क्यों नहीं कहता खुदा जो तू है दाना।

क्या तू यह जानता है कि मैं जिस्म नहीं हूँ, जिगर नहीं हूँ और जहान भी नहीं हूँ? अगर जानता है तो फिर क्यों नहीं कहता कि मैं खुदा हूँ? कदाचित् यह कहा जाय कि ऐसा कहना अहंकार होगा तो यह कहना ठीक नहीं। अहंकार की बात तो तब होगी जब तुम अपने को जिस्म, जिगर और जहान मानोगे। अपने को जिस्म या जिगर समझना अहंकार है। जब जिस्म, जिगर और जहान अलग हो जाता है तो शुद्ध आत्मा के सिवाय

और मेरे बीच में केवल इतनी ही दूरी है कि तू ने तो विघ्नों को दूर कर दिया है और मैं उन्हें अभी तक दूर नहीं कर सका हूँ। तेरे और मेरे बीच में सिर्फ इतना ही अन्तर है। सिर्फ इतना ही नहीं है। इतनी सी दूरी के कारण मैं आपसे दूर पड़ा हूँ।'

हम और आप यह तो समझ गये कि आत्मा और परमात्मा में इतना ही अन्तर है और सिर्फ विघ्नों के दूर होने और न होने का ही पर्दा बीच में है। मगर प्रधान प्रश्न यह है कि अब हमें करना क्या चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि अगर हम भगवान् से भेंट करना चाहते हैं तो हमें बीच का पर्दा हटा देना चाहिए। विघ्नों-अन्तरायों को दूर कर देना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं किया जायगा अर्थात् पर्दे को नहीं हटाया जायगा तब तक परमात्मा से भेंट कैसे हो सकती है ? अगर कोई इस पर्दे को हटाने का प्रयत्न नहीं करता तो यही कहा जायगा कि वह परमात्मा से भेंट नहीं करना चाहता।

संसार में सब से बड़ी जो भूल हो रही है, वह यही है कि जो वस्तुएं परमात्मा से भेंट करने में विघ्न रूप हैं, उन्हीं वस्तुओं को लोग हितकारी समझते हैं। इस भूल के कारण आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी बढ़ती चली जाती है। अगर आप इस दूरी को खत्म करना चाहते हैं तो इस पद्धति को पलट दीजिये और सच्ची वस्तु प्राप्त कीजिये।

भगवान् सुबुद्धिनाथ का 'सुबुद्धिनाथ' नाम केवलज्ञानपद प्राप्त करने से पहले का है—बाद का यह नाम नहीं है। केवली पद प्राप्त करने के बाद तो उनके अनन्त नाम हो गये हैं। हम लोग अपनी क्षुद्र बुद्धि का सदुपयोग नहीं करते वरन् दुरु-

पयोग करते हैं। अपनी बुद्धि के सहारे ऐसा तर्क-वितर्क करते हैं जिसका करना उचित नहीं है। इस प्रकार हम भगवान् को प्राप्त करने के मार्ग में कांटे बिखेर लेते हैं। भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने पर बुद्धि का दुरुपयोग मिट जायगा और सुबुद्धि प्रकट होगी। अतएव अपनी बुद्धि को सुबुद्धि बनाने के लिए भगवान् की शरण में जाना उचित है।

कहा जा सकता है कि यह तो सभी चाहते हैं कि हमारी दुर्बुद्धि मिट जाय और सुबुद्धि का प्रकाश हो, लेकिन ऐसा होता क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि आकाश से जो पानी गिरता है, वह तो सर्वत्र समान ही होता है परन्तु पात्र उसे अपने अनुसार ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार भगवान् की दृष्टि में तो शुद्ध स्वरूप से सभी जीव समान हैं लेकिन विकारों के कारण अपनी बुद्धि में विचित्रता को मिटाने के लिए ही भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने की आवश्यकता है। बुद्धि मे विचित्रता किस तरह आ रही है, इस संबंध में विचार करने की आवश्यकता है।

"परस्पर विवदमानाना शास्त्राणां
'अहिंसा परमो धर्म' इत्यत्रैकवाक्यता।"

इसका अर्थ यह है कि और मतभेद तो बहुत हैं मगर अहिंसा परम धर्म है, इस विषय में किसी का भी मतभेद नहीं है। अहिंसाधर्म सभी को मान्य है, ऐसा होने पर भी धर्म के नाम पर कितनी खूनखराबी हुई है! जहां धर्म के नाम पर इस प्रकार खूनखराबी हो यानी हिंसा हो, समझना चाहिए कि यहा वास्तविक धर्म नहीं है। वहां धर्म के नाम पर ढोंग

किया जाता है। सच्चा धर्म अहिंसा है और अहिंसा के कारण न कहीं लड़ाई हुई है और न हो ही सकती है। अहिंसा सत्य आदि के कारण न कभी लड़ाई होती है और न इनके पालन करने में किसी का मतभेद है फिर भी इनके या धर्म के नाम पर जो लड़ाई की जाती है वह केवल अपने हृदय के विकारों के ही कारण की जाती है। अपने हृदय के विकारों को ही धर्म का नाम दिया जाता है और फिर लड़ाई की जाती है। इस स्थिति को देखकर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे समय पर व्यक्ति को स्वातन्त्र्य का विचार करना चाहिए। व्यक्तिस्वातन्त्र्य के बिना धर्म नहीं टिक सकता। कोई भी धर्म यह नहीं कहता है कि परस्पर लड़ो और एक दूसरे को दुःख पहुँचाओ। फिर भी धर्म के नाम पर जो दूसरे को दुःख देता है वह धर्म को नहीं जानता है। इस प्रकार बुद्धि में विचित्रता आ रही है। इसे मिटाने के लिए सुबुद्धिनाथ की शरण में जाना चाहिए। भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने से बुद्धि की विचित्रता मिट जायगी।



१०-श्री शीतलनाथ स्वामी



प्रार्थना ।

"श्री दृढरथ" नृप तो पिता, "नन्दा" थारी माय ।
रोम-रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय ॥ टेर १ ॥

जय जय जिन त्रिभुवन धणी, करुणानिधि करतार ।
सेव्या सुरतरु जेहवो, वाँछित सुख दातार ॥ २ ॥

प्राण पियारा तुम प्रभु, पतिवरता पति जेम ।
लगन निरन्तर लग रही, दिन-दिन अधिको प्रेम ॥ ३ ॥

शीतल चन्दन नी परे, जपता निश-दिन जाप ।
विषय कषाय थी ऊपनी, मेटो भव-दुःख ताप ॥ ४ ॥

आर्त रौद्र परिणाम थी, उपजे चिन्ता अनेक ।
ते दुःख कापो मानसिक, आपो अचल विवेक ॥ ५ ॥

रोगादिक क्षुधा तृषा, शस्त्र अशस्त्र प्रहार ।
सकल शरीरी दुःख हरो, दिल सूँ विरुद्ध विचार ॥ ६ ॥

सुप्रसन्न होय शीतल प्रभु, तू आशा विसराम ।
"विनयचन्द" कहे मो भणी, दीजे मुक्ति मुकाम ॥ ७ ॥



परमात्मा की स्तुति में वास्तविक रहस्य क्या है, इस बात को तो कोई योगीश्वर, जो आत्मज्ञान में परिपूर्ण हो वही, बता सकता है। पर जब हम पूर्ण योगी होंगे तभी बोलेंगे, इसी विचार मे बैठे रहें तो पूर्ण कब होंगे ? अपूर्ण से ही पूर्ण होते हैं। अगर प्रारम्भ ही न करेंगे तो पूर्णता पर किस प्रकार पहुँच सकेंगे ?

गरुड जैसा पक्षी ही आकाश में स्वच्छन्द विहार कर सकता है, परन्तु क्या मक्खी अपने पंखों की शक्ति के अनुसार आकाश मे नहीं उडती ? वह उड़ती है और उसको उड़ने का अधिकार भी है। इसी प्रकार परमात्मा और उसके गुण को पूरी तरह प्रकट करने की शक्ति तो योगियों में ही है, फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार परमात्मा और आत्मा के गुणों पर विचार करना अपना भी कर्त्तव्य है। इस प्रार्थना में कहा है :—

जय जय जिन त्रिभुवन धनी।

अर्थात्—हे तीन लोक के नाथ! तू जयवन्त हो।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि परमात्मा क्या अपने कहने से जयवन्त होगा ? क्या उसे जय प्राप्त करना अभी बाकी है ? उसने समस्त कर्म-बन्धनों का क्षय कर डाला है, अपने आपको पूर्णरूप से शुद्ध, निर्लेप और निर्विकार बना लिया है, फिर परमात्मा को कौन-सी विजय प्राप्त करना शेष रह गया ? यदि परमात्मा कृतकृत्य हो गया है तो भक्त के इस कथन में क्या रहस्य है ?

मित्रो ! इस बात को समझना जरा कठिन है, फिर भी अगर विचार करोगे तो अवश्य समझ सकोगे।

एक पुरुष सूर्य की स्तुति करता है कि—'हे सूर्य, तू जगत् में प्रकाशमान हो।' सूर्य तो स्वतः प्रकाशमान है फिर इस स्तुति का क्या प्रयोजन है? यही कि प्रकाश पाने वाले ने अपनी कृतज्ञता प्रकाशित की है कि तेरा प्रकाश लेकर मैं यह गुण सीखा हूँ। सम्भव है, इतने से आप पूरी तरह समझे हो, अतः जरा और स्पष्ट करके कह देना उचित है।

मान लीजिए, राजा ने आपको बड़ा समझकर, बिना कर लिए आपके घर बिजली भेज दी। उस बिजली के प्रकाश से आपका घर जगमगा उठा। यह देखकर आपके मन में कितना अहंकार होगा? आप सोचेंगे—हम पर महाराजा की बड़ी कृपा है और आप दूसरों से कहेंगे—तुम क्या हमारी बराबरी कर सकते हो! देखो न, महाराजा ने हमारे घर मुफ्त में बिजली भेजी है। इतने में राजा ने अगर सभी के घर मुफ्त बिजली भेज देने का ऐलान कर दिया तो आपका मुँह कुम्हला जायगा। फिर आप सोचेंगे कि राजा ने हमारे साथ क्या विशेषता की है। उन्होंने जैसे सभी के घर बिजली भेजी, वैसे ही मेरे यहाँ भी भेज दी। सारांश यह है कि आपके हृदय का वह आनन्द, जो सबके घर बिजली भेजने से पहले था, जाता रहेगा।

यहाँ विचार करने की आवश्यकता है। आपका आनन्द चला क्यों गया? दूसरों को मुफ्त में बिजली मिली तो आपकी क्या हानि हो गई? आपकी हानि कुछ भी नहीं हुई है। सिर्फ आपकी इस संकीर्ण भावना को ठेस पहुँची कि दूसरों के यहाँ न हो तो सुख और अगर दूसरों के यहाँ भी हो तो सुख काहे का? इसी संकुचित मनोवृत्ति के कारण आपका सुख चला गया।

इसीलिए ज्ञानी-जन कहते हैं कि संसार का सुख ईर्षाजनित है। वह छोटा और मैं बड़ा, बस यही संसार का सुख है। इस छुटाई और बड़ाई की स्पर्द्धा ने आत्मा को ऐसा संकुचित बना दिया है कि सच्चा सुख विस्मृत ही हो गया है।

सबको मुफ्त में बिजली मिली तो आपको अधिक हर्ष होना चाहिए था और समझना चाहिए था कि हमारा राजा इतना निष्पक्ष और उदार है कि वह समस्त प्रजा को समान दृष्टि से देखता है। आपको यह शिक्षा भी लेनी चाहिए थी कि जैसे राजा किसी के प्रति भेदभाव नहीं करता उसी प्रकार मैं भी किसी के साथ भेदभाव न रक्खूँ।

राजनीति यह है कि जो परोपकारी हो, प्रजा को शान्ति देता हो, प्रजा की भलाई का काम करता हो, राजा उसे मान और अधिकार दे। इसी विचार से आपका राजा ने अगर सन्मान किया तो समझना चाहिए कि मेरे ऊपर बोझ रक्खा गया है। मुझे प्रजा की सेवा का बोझ उठाना चाहिए।

बिजली का तो दृष्टान्त मात्र है। किसी राजा में आज ऐसा सामर्थ्य नहीं दीखता कि वह अपनी समस्त प्रजा को समान रूप से, कर लिए बिना ही, बिजली दे सके। यह सम्भव नहीं कि बड़ी-बड़ी हवेलियों की तरह गरीब की साधारण कुटिया बिजली के प्रकाश से जगमगा उठे। मगर सूर्य का जरा विचार कीजिए। क्या बिजली के प्रकाश की भाँति सूर्य का प्रकाश प्रत्येक कुटिया तक नहीं पहुँचता ? सूर्य क्या गरीब-अमीर में भेद करता है ? वह आपसे कोई कर वसूल करता है ?

'नहीं।'

तो फिर आप बिजली का आभार मानें किन्तु सूर्य के प्रकाश का, जो जगत् का पोषण करने वाला और जीवन देने वाला है, आभार क्यों न माने ? सूर्य केवल आपको प्रकाश देता तो आप फूले न समाते और समझते कि बस, अकेला मैं ही सूर्य का प्यारा हूँ ! सूर्य ने सब को प्रकाश दिया तो आपका आनन्द छिन गया ! लेकिन जिन्होने प्रकृति का मनन किया है, उन्होंने सूर्य का महान् उपकार स्वीकार किया है।

सूर्य की प्रार्थना करने वाला कहता है—'हे सूर्य ! तू संसार में प्रकाशमान रह।' इस प्रार्थना का आशय यह है कि जिस प्रकार सूर्य मुझे प्रकाश करता है उसी तरह सब को प्रकाश दे। और ऐसी प्रार्थना करने वाला इस भावना को ग्रहण करता है कि जब यह सूर्य किसी को भी प्रकाश से वंचित नहीं करता, सब को समान रूप से प्रकाश देता है तो मैं ही क्यो भेद रक्खूँ ? जिस प्रकार सूर्य जगत् का 'मित्र' है, उसी प्रकार मैं भी समस्त जगत् का मित्र क्यो न बनूं ?

अब मूल बात पर आइए। प्रार्थना में कहा है :—

जय जय जिन त्रिभुवन धनी !
करुणानिधि करतार,
सेव्यां सुरतरु जेहवो।
वाछित फल दातार।

अब उस द्रव्यसूर्य के बदले भावसूर्य रूप त्रिभुवननाथ का विचार करो। हे प्रभो ! तू त्रिभुवन का नाथ है इसलिए जयवन्त हो। जैसे राजा की जय में प्रजा की जय गर्भित है, इसी प्रकार तीन लोक के नाथ भगवान की जय मे संसार के समस्त प्राणियों

की जय या शान्ति गर्भित है। क्योंकि जब भगवान् को तीन लोक का नाथ कह दिया तो सभी प्राणी उसकी प्रजा हुए। इस प्रकार भगवान् की जय में यह उदारतम भावना भरी हुई है। जिसके हृदय में यह भावना उत्पन्न हो जायगी, वह क्या किसी से राग और किसी से द्वेष करेगा ?

'नहीं।'

ऐसी भावना वाला सबको समान दृष्टि से देखेगा। सबको एक ही प्रकार से चाहेगा।

इस प्रार्थना में भगवान् को 'करतार' भी कहा है। इससे आप यह न समझ बैठें कि कर्त्ता भगवान् है—सब कुछ करने वाला वही है और हम उसकी कठपुतली हैं। अगर आप यह समझ बैठे तो भ्रम में पड़ जाएँगे और निःसंकोच होकर पाप में प्रवृत्ति करने लगेंगे। तो फिर यहाँ 'करतार' कहने का क्या प्रयोजन है ?

जैनसिद्धान्त स्याद्वादी है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक वस्तु में अनेक गुणों को स्वीकार करना स्याद्वाद-सिद्धान्त का संक्षिप्त स्वरूप है। भगवान् आत्मविशुद्धि में निमित्त होते हैं और इस निमित्त की मुख्यता को लेकर ही भगवान् में कर्त्तापन का आरोप किया जाता है।

आप लोग विवाह के समय कलश आदि की पूजा क्यों करते हैं ? कलश आदि का कर्त्ता कुम्भार है। फिर कुम्भार की पूजा न करके चाक की पूजा करने का क्या कारण है ? कारण यही है कि कलश चाक के निमित्त से बनता है। जैसे चाक में

बिना कलश बनाने का काम नहीं हो सकता अतः चाक निमित्त है, उसी प्रकार परमात्मा भी आत्मशुद्धि में निमित्त है। परमात्मा को निमित्त बनाये बिना—उसका भजन, चिन्तन, मनन आदि किये बिना आत्मा की विशुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार परमात्मा में निमित्त होने के कारण कर्तृत्व का आरोप है।

अगर कोई परमात्मा के कर्त्ता होने का यह अर्थ लगाता है कि जिस प्रकार कुम्भार घड़े बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर संसार को घड़ता है, तो कहना चाहिए कि उसने वस्तु-स्वरूप को समझा ही नहीं है। अगर ईश्वर ही सब कुछ घड़ता है और हम कुछ नहीं करते तो हमारे पुण्य और पाप का कर्त्ता भी ईश्वर ही ठहरेगा और फिर उसी को इनका फल भुगतना चाहिए। परन्तु ईश्वर किसी भी वस्तु को घड़ता नहीं है। गीता में कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥

—अध्याय ५

परमात्मा कर्त्तापन, कर्मों और कर्मों के फल के संयोग की रचना नहीं करता।

कहा जा सकता है कि अगर भगवान् कर्म-फल का संयोग नहीं कराता अर्थात् कर्म-फल का भोग नहीं कराता तो किस प्रकार जीव कर्म-फल भोगते हैं? इस प्रश्न का समाधान भी यहीं कर दिया गया है कि आत्मा अपने स्वभाव से ही कर्मों का फल भोग लेती है।

अगर आप यह मान लें कि ईश्वर कर्त्ता है तो फिर हमें भोजन करने की क्या आवश्यकता है? भूख मिटाना ईश्वर का

काम है। फिर हमारे खाने से क्या लाभ होगा ? तो आपने ईश्वर का स्वरूप ही नहीं समझा। आपको यह समझना चाहिए कि ईश्वर सर्वदर्शी होने से निमित्तरूप कर्त्ता है। किसी भी समय उसकी अनुपस्थिति न समझो— यह समझो कि वह सर्वत्र और सर्वदा देखता है। कभी कोई उसकी दृष्टि से नहीं बच सकता। ऐसा समझ लेने पर आपकी पाप में प्रवृत्ति नहीं होगी।

इतने विवेचन का सार यह है कि जैसे आप पृथ्वी पर रहना चाहते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी पर रहने का सब का हक है। सब को समान अधिकार है। इस बात की शिक्षा आपको प्रकृति के पदार्थ देते हैं। फिर भी विषम भाव धारण करना मनुष्य की भूल है।

भाइयो ! चाहे आप अंधेरे में रहो या उजेले में, भीतर रहो या बाहर, परमात्मा अपने ज्ञान से सर्वत्र अपने साथ हैं। कल्प वृक्ष साथ में रहने से कोई भूखा नहीं रह सकता। परमात्मा को पग-पग पर समझ कर ध्यान करने वाले के लिए परमात्मा कल्पवृक्ष है।

अगर आप परमात्मा को सर्वदर्शी और इसी कारण सर्वव्यापक मान कर सर्वत्र पाप से बचते रहेंगे तो आपके हृदय में शीघ्र ही एक अलौकिक ज्योति उत्पन्न हो जायगी, जिससे आपका परम कल्याण होगा।



११ श्री श्रेयांसनाथ



प्रार्थना।

चेतन जाण कल्याण करन को, आन मिल्यो अवसर रे।
शास्त्र प्रमाण पिछान प्रभु गुण, मन चंचल थिर कर रे॥
श्रेयांस जिनन्द सुमर रे॥ टेर १॥

सास उसास विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकर रे।
अजपाभ्यास प्रकाश हिये बिच, सो सुमरन जिनवर रे॥ २॥

कंदर्प क्रोध लोभ मद माया, ये सब ही परहर रे।
सम्यक्दृष्टि सहज सुख प्रगटे, ज्ञान दशा अनुसर रे॥ ३॥

कूड़ प्रपंच जोवन तन धन अरु, सजन सनेही घर रे।
छिन में छोड़ चले पर भव को, बांध शुभाशुभ थर रे॥ ४॥

मानस जनम पदारथ जाकी, आशा करत अमर रे।
ते पूरब सुकृत कर पायो, धरम मरम दिल धर रे॥ ५॥

"विश्वसेन" "विस्ना" राणी को, नन्दन तू न विसर रे।
सहज मिटे अज्ञान अविद्या, मुक्ति पंथ पग भर रे॥ ६॥

तू अविकार विचार आतम गुन, भव-जंजाल न पर रे।
पुद्‌गल चाह मिटाय 'विनयचन्द', ते जिन तू न अवर रे॥ ७॥



मानव-जीवन का क्षण-क्षण परमात्मा की प्रार्थना में ही व्यतीत होना उचित है। प्रार्थना करने का यह विचार कोई नवीन नहीं है। अतीत काल के जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सब में परमात्मा की प्रार्थना करने का उपदेश दिया गया है। वेद, कुरान, बाइबिल, पुराण आदि सब में परमात्मा की प्रार्थना की गई है। जितने भी धर्म और समाज हैं उन सब में यही उपदेश दिया जाता है कि परमात्मा की प्रार्थना ही संसार में सारभूत वस्तु है। यह दूसरी बात है कि प्रार्थना करने का सब सम्प्रदायों का अपना अलग-अलग ढँग है, पर प्रार्थना की महिमा सब ने स्वीकार की है।

प्रार्थना के साधारणतया तीन भेद किये जा सकते हैं— (१) उत्तम (२) मध्यम और (३) कनिष्ठ। उत्तमकोटि की प्रार्थना वह है जिसमें आत्मभाव की उन्नति होती है, किसी प्रकार की आशा-कामना नहीं की जाती और जो जगत् से मित्रता का भाव रहने के लिए की जाती है। जिस प्रार्थना में इस लोक और परलोक सम्बन्धी कल्याण एवं अपना तथा पराया सुख चाहा जाता है वह मध्यम कोटि की प्रार्थना है। जिस प्रार्थना द्वारा यह चाहा जाता है कि—मेरे वैरी का नाश हो जाय, सारा सुख मुझे ही मिले और दूसरे को न मिले, इस प्रकार की प्रार्थना कनिष्ठ प्रार्थना है।

बहुत-से लोग भगवान् के नाम पर यही नीच कोटि की प्रार्थना करते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन करने का समय नहीं है।

अभी-अभी जो प्रार्थना की गई है, वह किस कोटि की प्रार्थना है, इसकी परीक्षा के लिए परीक्षक होना चाहिए।

सुमर रे सुमर रे सुमर रे,
श्रेयांस जिनन्द सुमर रे।

क्यों ? श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र को सुमरने की इतनी प्रबल प्रेरणा क्यों की जा रही है ? इसके उत्तर में कहा है :—

चेतन जान कल्याण करन को,
आन मिल्यो अवसर रे।

कल्याण करने का यह महा मंगलमय अवसर प्राप्त हुआ है। इस सुअवसर को पाकर निरन्तर-सतत, जिस प्रकार महा नदी की धारा एक पल के लिये भी 'नहीं' टूटती है, भगवान् के स्मरण की पावनी गंगा बहने दो।

लोग कहते हैं—गंगा किनारे भजन करने से फतह हो जाती है। अर्थात् गंगा के किनारे का भजन विशेष लाभदायक होता है। मगर गंगा के किनारे के भजन में क्या विशेषता है, इस बात को जो जानता है वही जानता है, सब नहीं जानते। गंगा के किनारे भजन करने का अभिप्राय यह है कि गंगा का अनुकरण करो। जैसे गंगा किसी के द्वारा की हुई बड़ाई या निन्दा से बढ़ती-घटती नहीं है। वह अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ती—जिस ओर बह रही है उसी ओर बहती रहती है। उसके पास राजा आवे, चाहे रंक आवे, ब्राह्मण आवे या चाण्डाल आवे, वह एक-सी बहेगी। राजा के आने पर ज्यादा और रंक के आने पर कम बहना उसका स्वभाव नहीं है। वह अपनी एक ही गति से बहती रहती है। इसी तरह भजन भी एक ही गति से चलने दो। मुँह देख-देखकर प्रार्थना मत करो। यह मत सोचो कि इस समय लोग देखते हैं तो मैं भजन करूँ और

जब लोग न हो तो भजन भले ही कम हो या न हो। अपनी प्रशंसा सुनकर चढ़ मत जाओ और निन्दा सुनकर सूख मत जाओ। इस प्रकार निरन्तर गति से, समान रूप से, गंगा के प्रवाह की तरह प्रार्थना-भजन का प्रवाह चलने दो। जो ऐसी प्रार्थना करता है वह कल्याण का भागी होता है।

शास्त्र से भगवान के गुणों को और सिद्धान्तों को पहचान लेने के पश्चात् प्रार्थना करने से विशेष रस मिलता है।

> आरुग्ग-बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु।
> चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
> सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

यह प्रार्थना आप प्रायः प्रतिदिन करते हैं पर आप इस पर गहराई से शायद ही सोचते हों। वास्तव में दत्तचित्त हुए बिना प्रार्थना का यथेष्ट फल नहीं मिलता।

> यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

अर्थात्—भाव से शून्य-मनोयोग के बिना-की हुई क्रिया फल देने वाली नहीं होती।

अभी जो प्रार्थना अर्द्धमागधी भाषा में बतलाई है उसमें और कुछ नहीं, केवल यह कहा है कि—हे प्रभु! मुझे निर्दोष सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को दो। तुम्हारे सिवाय और कहाँ जाऊँ?

कल्याण-रूपी सहज समाधि तू दे, मुझे उपाधि नहीं चाहिए।

तू चन्द्र से अधिक निर्मल और सूर्य से अधिक प्रकाशमान है।

मित्रो! भगवान् जब सूर्य से अधिक प्रकाशमान है, जिसका प्रकाश सूर्य से नहीं—सूर्यों से भी अधिक है, वह दिन-रात, छिपे-चौड़े, भीतर-बाहर, जो भी कुछ हम करते हैं, उसका साक्षी है या नहीं ?

'है !'

यदि आप इस सत्य को स्वीकार कर लें, गाँठ बाँध लें कि ईश्वर सब जगह देखता है तो आपका कल्याण हो जाय। आप मन में यह निश्चय कर लें कि दूसरे से दगा करना ईश्वर से दगा करना है तो आपका मन स्थिर हो जाय। जब आप यह निश्चित कर लेंगे कि अच्छे और बुरे सब विचारों का साक्षी परमात्मा है तो कल्याण की प्राप्ति में देर नहीं लगेगी। इन भावों को धारण कर लेने पर निस्सन्देह आत्मा, परमात्मा का दर्शन कर लेगा।

श्वास उसास विलास भजन को,
दृढ़ विश्वास पकड़ रे।
अजगाभ्यास प्रकाम हिये बिच,
सो सुमिरन जिनवर रे॥

कोई श्वास और उच्छ्वास खाली न जाय, जिसमें भगवान् का भजन न हो।

आप कह सकते हैं—फिर हम बातें कब कर ? इधर-उधर की गपशप और घर-व्यापार की चर्चा करने के लिए भी तो कोई समय चाहिए।

आपने देखा होगा कि अनेक बहिनें सिर पर खेप रखकर और बगल में पानी से भरा हुआ घड़ा दबाकर चलती हैं। रास्ते में कहीं काँटा लग जाय तो वे खेप और घड़े को जमीन पर रखते बिना ही, खड़ी रहकर, एक हाथ से काँटा निकाल लेती हैं। उनके घड़े क्यों नहीं गिरते ?

'घड़ों पर उनका ध्यान रहता है।'

इसी प्रकार परमात्मा पर ध्यान जमाए रक्खो। काम में लगे रहकर भी परमात्मा के भजन में बाधा न पहुँचे, ऐसे प्रसन्नता के काम करो।

कहा जा सकता है कि ऐसे प्रभु की प्रसन्नता के काम गृहस्थ से किस प्रकार निभ सकते हैं ? मगर याद रक्खो, तुम्हारे हृदय से यदि झूठ, कपट, दगा आदि बुराइयाँ निकल जाएँ तो गृहस्थी के काम करने का पाप भस्म होते देर नहीं लगेगी। ऐसा नहीं होना चाहिए कि मुँह में राम, बगल में छुरी ! भीतर कुछ और बाहर कुछ। भीतर रसगुल्ले उड़ाओ और बाहर टुकड़े बताओ ! इस प्रकार का कपटाचार नहीं निभ सकता। चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, ऐसे व्यवहार से किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। हाँ, परमात्मा से कपट न करो तो सब पाप छूट जाएँगे। कपट में परमात्मा नहीं मिलेगा। लोग यह तो समझते हैं कि बाहर बुरा व्यवहार करेंगे तो लोग मुझे शैतान समझ लेंगे; पर उन्हें यह भी समझना चाहिए कि परमात्मा से अपने बुरे व्यवहार को वे नहीं छिपा सकते। परमात्मा सभी कुछ जानता है। जब परमात्मा से नहीं डरते तो शैतानी प्रकट हो जाने से डरना व्यर्थ है।

मित्रो! विश्वास के विना कार्य की सिद्धि नहीं होती। विश्वास आया कि कुछ और ही हाल हो जायगा। विश्वास के साथ प्रार्थना करो और प्रार्थना के प्रयोजन को समझो। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक प्रार्थना है :—

असतो मा ज्योतिर्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।

अर्थात्—

(१) भगवान्! तू मुझे असत्य से सत्य पर ला—अर्थात् मुझे असत्य मार्ग से हटाकर सत्य के मार्ग पर ला।

(२) अज्ञान के अंधकार से निकाल कर ज्ञान-ज्योति में ला।

(३) मृत्यु-संसार से निकाल कर अमर-पद (मोक्ष) पर ला।

पहले कही हुई 'आरुग्गबोहिलाभं' इत्यादि प्रार्थना में जो बात कही गई है वही बात यहाँ भी कही गई है। चाहे कोई उपनिषद् के इन शब्दों द्वारा प्रार्थना करे। चाहे जैन शास्त्रों के शब्दों द्वारा, करना चाहिए उत्तम भाव से। उत्तम भाव से उत्तम कोटि की प्रार्थना करने पर अवश्य कल्याण होगा।

[ख]

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे।

शरीर के निमित्त से होने वाले सबंध को तो सब लोग समझते हैं, जैसे-यह माता है, यह पिता है, इत्यादि। परन्तु ज्ञानी

आत्मा का परमात्मा के साथ जो सम्बन्ध है, उसे समझकर साधारण लोग भी असाधारण-दिव्यरूप हो गये। फिर मैं क्यों निराश होऊँ? मैं आशावादी हूँ, निराशावादी नहीं।

अभी बोले हुए भजन में कहा है :—

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे।
सुमर रे सुमर रे सुमर रे,
श्रेयांस जिनन्द सुमर रे।

जब किसी बात पर बहुत बल देना होता है, किसी काम के लिए तीव्र प्रेरणा करनी होती है तो उसके लिए शब्दों की पुनरावृत्ति की जाती है।

चेतन जान कल्याण करन को,
आन मिल्यो अवसर रे।

हे चेतन! तुझे कल्याण करने का अवसर मिला है। इसलिए कहते हैं—परमात्मा को सुमर, सुमर, सुमर।

मित्रो! लोगों की आदत है कि वे भूतकाल की बात भूल जाते हैं। कभी-कभी तो यह भी ठीक नहीं कहा जा सकता कि कल क्या-क्या खाया था? मगर आप यदि एक दिन की चर्या भी याद रक्खें तो बहुत अनुभव बढ़ जाय। प्रतिक्रमण का आशय यही है कि अच्छी और बुरी बातों की सूची बनाई जाय। इसी को गणधरों ने ऐसी प्रभावशाली भाषा में रचा है कि सुनने और कहने में प्रिय लगता है। यह बात सबको समझने का यत्न करना चाहिए।

आप लोग यदि एक दिन की चर्या भी याद रक्खें कि कल मैंने क्या-क्या बुरा और भला काम किया है तो आपका अनुभव बढ़ता जायगा। सम्भव है, अभी आपको अपने बाल्य-काल की कोई बात याद न हो, किन्तु आप धीरे-धीरे अनुभव बढ़ाएँ तो आपके बाल्यकाल के सब काम आपकी आँखों के सामने आ जाएँगे और अगर यह अनुभव बढ़ाते चले गये तो गर्भ की और पूर्वजन्म की बातें भी आपको मालूम हो जाएँगी। अर्थात् जाति-स्मरण हो सकेगा। लेकिन आप लोग भविष्य की चिन्ता और वर्त्तमान के जंजाल में पड़कर भूतकाल को भूल गये हैं।

आप यह क्यों नहीं सोचते कि बचपन की बातें, जो आपके ऊपर ही बीती हैं, आपको क्यों याद नहीं हैं ? कारण यही है कि उन पर दूसरी-दूसरी बातें आती गईं और बीती बातें छूटती गईं। बचपन में खेल के आगे आभूषण भी तुच्छ जान पड़ते थे, मगर ज्यों-ज्यों बड़े हुए, उसे भूलते गये। इसी प्रकार अपने पूर्व जन्म को भी अपन भूल गये हैं। भूल तो गये, परन्तु जैसे मुँह नहीं दिखता तो उसे देखने के लिए काच की सहायता ली जाती है, इसी प्रकार ज्ञानी जन शास्त्र रूपी दर्पण हमें दे गये हैं। उसकी सहायता से हम अपने भूतकाल को जान सकते हैं। उस भूत काल को जानो और फिर सोचो कि वर्त्तमान में कैसा अपूर्व अवसर मिला है। इस अपूर्व अवसर को संसार की वार्त्ता में खो रहे हो, यही देखकर ज्ञानी पुरुष कहते हैं—

चेतन चान कल्याण करन को,
आन मिल्यो अवसर रे।

कहा जा सकता है कि जब आत्मा अमर है तो यह अवसर अपूर्व क्यों है ?

वास्तव में आत्मा अविनाशी है और जैसे-जैसे आत्मा का अविनाशीपन समझ में आता जायगा, अधिक जोश बढ़ता जायगा। मगर यह बात अपने अनुभव से जानना और बात है तथा दूसरे के सुझाने से जानना और बात है।

आत्मा के अस्तित्व की खोज, जितनी भी हो, करनी चाहिए। जितनी भी खोज करेंगे उतनी ही शान्ति बढ़ेगी और फिर किसी चीज की चाह नहीं रहेगी। फिर संसार के पदार्थ ही नहीं, त्रिलोक के सुख भी आपको तुच्छ प्रतीत होने लगेंगे।

आत्मा सच्चिदानन्द है। 'सच्चिदानन्द' शब्द सत, चित् और आनन्द के योग से बना है।

जो भूत में था, वर्त्तमान मे है और भविष्य में होगा, तीनों कालो में जिसका नाश नहीं हो सकता वह 'सत्' कहलाता है।

सौ वर्ष बीते, यह निश्चित है ?

'हां !'

अठारह सौ वर्ष बीते, यह भी निश्चित है ?

'हाँ !'

तुमने अठारह सौ वर्ष देखे नहीं हैं, फिर किस आधार पर कहते हो कि अठारह सौ वर्ष बीते ? अनुभव से ही यह बात

जानी जाती है कि जैसे कल, परसों, वर्ष, दो वर्ष, पचास वर्ष बीते ऐसे ही अठारह सौ वर्ष भी बीते होंगे। इसी तरह अनुभव से यह भी मानोगे कि लाख वर्ष और अनन्त काल भी बीता है?

'हाँ !'

इस बात को आप भलीभाँति समझ लें, इस उद्देश्य से जरा और स्पष्ट करता हूँ। आप नदी के मध्य भाग को देखकर उसके आदि और अन्तिम भाग का अनुभव करते हैं। समुद्र के एक किनारे को देखकर दूसरे किनारे का अंदाज लगा लेते हैं। इसी प्रकार जब वर्त्तमान है तो भूत और भविष्य के होने का अनुमान कर लेना भी स्वाभाविक है और फिर आत्मा का वर्त्तमान काल में अस्तित्व है तो समझ लेना चाहिए कि भूतकाल में भी उसका अस्तित्व रहा होगा और भविष्य काल में भी उसका अस्तित्व बना रहेगा। जैसे काल की आदि नहीं है, अन्त नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की भी आदि नहीं है, अन्त नहीं है।

जवाहिरात कितने भी बड़े हों परन्तु जौहरी से बढ़कर नहीं हैं। मकान कितना भी बड़ा हो पर कारीगर से तो बड़ा नहीं है। एंजिन कितना भी बड़ा हो फिर भी एंजिन-निर्माता से बड़ा नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस आत्मा ने ऐसे-ऐसे कई शरीर त्यागे हैं वह तुच्छ कैसे हो सकता है?

इस विवेचन से आप समझ गये होंगे कि आत्मा अमर है। मगर सिर्फ आत्मा ही अमर नहीं है वरन् पुद्गल भी अमर है। पुद्गल अर्थात् रूपी जड़ पदार्थ भी तीनों कालों में विद्यमान रहता है। इस विषय पर आधुनिक विज्ञान ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। मोमबत्ती जलाने के बाद आप समझेंगे कि उसका

नाश हो गया, परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि वास्तविक रूप से उसका नाश नहीं हुआ। इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने दो यन्त्र बनाये हैं। वे यन्त्र जब लगा दिये जाते हैं तो उस जलती हुई मोमबत्ती के परमाणुओं को अपने भीतर खींच लेते हैं। इन दोनों यन्त्रों में इकट्ठे हुए परमाणुओं को अगर जोड़ दिया जाय तो फिर मोमबत्ती बन जाती है। कहने का आशय यह है कि मोमबत्ती का नाश नहीं हुआ, सिर्फ रूपान्तर हो गया। इसी प्रकार एक रजकण का भी नाश नहीं होता, केवल रूपान्तर होता है।

मित्रो ! जब रजकण का भी नाश नहीं होता तब आत्मा के शरीर छोड़ देने पर उसका नाश हो जाना क्या सम्भव है ?

'नहीं।'

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आत्मा के समान अगर जड़ भी सत् अर्थात् त्रिकालस्थायी है तो आत्मा और जड़ में भेद क्या रहा ? इस बात को समझने के लिए 'चित्' गुण पर विचार करना होगा। आत्मा 'चित्' अर्थात् ज्ञान से युक्त है और जड़ अचित् है। उसमें ज्ञानगुण नहीं पाया जाता।

जो दूसरे साधनों के बिना ही जानता है, जो स्वयं प्रकाशमान है और जिससे दूसरे पदार्थ भी प्रकाशित होते हैं, उसे 'चित्' गुण कहते हैं। यह गुण आत्मा में ही पाया जाता है। अथवा यों कह लें कि जिसमें 'चित्' गुण पाया जाता है, वही आत्मा है।

जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित है और दूसरे को भी प्रकाश देता है, इसी प्रकार आत्मा स्वयं प्रकाशित होता हुआ दूसरों को भी प्रकाशित करता है। क्षेत्र और काल को नापने वाला आत्मा ही है। खम्भे को खम्भा नाम देने वाला आत्मा ही है। आत्मा ही जानता है कि खम्भे को कैसे बनाना चाहिए और उसका खम्भा नाम रखना चाहिए। मतलब यह है कि आत्मा स्वयं प्रकाशित है और सारे संसार को प्रकाश देता है। संसार में जितने भी नाम वाले पदार्थ हैं, उन सबके नाम आत्मा ने ही रक्खे हैं। किसी और पदार्थ में यह शक्ति हो तो बताओ ? है किसी में ऐसी शक्ति ?

'नहीं।'

बस, जड़ और आत्मा में यही अन्तर है कि जड़ की पहचान कराने वाला दूसरा है और आत्मा स्वयं प्रकाशित है।

यहाँ तक सत् और चित् का अर्थ समझाया। अब 'आनन्द' के विषय में कहता हूँ।

आत्मा स्वयं आनन्दमय है। देश, काल और वस्तु से प्रतीत होने वाला आनन्द यहाँ नहीं लिया गया है। बल्कि आत्मा स्वयं आनन्दरूप है। आनन्द आत्मा का ही एक स्वाभाविक गुण है, जैसे 'चित्' गुण है।

आदमी गहरी नींद में सोकर उठता है तो यही कहता है—'आज बड़े आनन्द में सोया! आज बड़े मजे की नींद आई।' पर उससे पूछो कि क्या आनन्द था तुमको ? खाते थे या पीते थे ? क्या आनन्द था उस सोने में ?

मित्रो ! यह कथन आत्मा के आनन्द का एक छोटा-सा नमूना है। यह अनुभव सभी को होता है—सभी पर यह घटना घटती है, परन्तु जानने और जानकर विकास करने का समय मिलने पर भी आप न मालूम किस गहरी नींद में पड़े हैं। आप बाह्य वस्तुओं के आनन्द में मग्न होकर आत्मा में जो स्वतः आनन्द है, उसे भूले बैठे हैं। जरा सोचो तो सही कि नींद में न आप खाते थे, न पीते थे, फिर क्या आनन्द आया ? यह प्रकृति आपको जरा-जरा सी बात सिखाती है, फिर भी आपकी समझ में नहीं आता कि आप इन्द्रिय-विकारों को जीत करके आत्मा को देखें तो कितने आनन्द की प्राप्ति होगी। भाइयो ! अपने ज्ञान को उस ओर लगाओ। यह उपदेश इसीलिए है।

निद्रा में आनन्द यह था कि मन में एकाग्रता थी। जब मन के एकाग्र होने से निद्रा में भी आनन्द आया तो जागृत अवस्था में मन को एक जगह करके आत्मा पर विचार करो तो कितना आनन्द होगा ?

आप यह न सोचें कि उस आनन्द को हम संसारी जीव कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? कैसे हमारा कल्याण हो सकता है ? ज्ञानी पुरुषों ने कल्याण की एक सीमा कर दी है। आपको श्वास और उच्छ्वास तो आता है न ?

'हाँ !'

श्वास महाप्राण है और इसी से आप जीवित हैं। इस विषय में एक दृष्टांत लीजिए। एक बार श्वास और इंद्रियों में लड़ाई हो गई। इन्द्रियाँ कहने लगीं—हम तो कुछ न कुछ काम करती हैं, पर यह श्वास क्या काम करता है ? इन्द्रियाँ एक ओर श्वास

पुरुष है। श्वास ने विचार किया—इन्द्रियों से लड़ना-झगड़ना ठीक नहीं है। उसने इन्द्रियों से कहा—तुम लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ। इतना कह कर श्वास जाने लगा कि सब इन्द्रियाँ तन गई। आँखें फटने लगीं, कान बहरे होने लगे, जीभ अकड़ने लगी, हाथ-पाँव ऐंठने लगे। सब की हालत बिगड़ने लगी। तब इन्द्रियों ने श्वास को रोक कर कहा—हम में से कोई न हो तो काम चल सकता है, परन्तु तुम्हारे बिना काम नहीं चल सकता।

तात्पर्य यह है कि जीवन के सब खेल श्वास पर ही निर्भर हैं। जब तक श्वास है तभी तक आशा है। श्वास की साधना करके योगी लोग अपूर्व और अद्भुत सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। वे हमें सूचित करते हैं कि श्वास की महिमा ऐसी है। इसलिए इसे नीच काम में मत लगाओ। इस श्वास के आते या जाते समय, अर्थ के साथ 'अर्हं' या किसी भी परमात्मा के नाम का स्मरण करो। इस श्वास को विकार से अलग-दूर रख कर परमात्मा का ध्यान आने दो।

मित्रों! अधिक न कर सको तो कम से कम इतना तो करो कि जब तुम निकम्मे होओ अर्थात् जब कोई काम न हो तब परमात्मा का स्मरण करो। मतलब यह है कि श्वास में भगवान् के भजन का विलास होना चाहिए। भगवान् के स्मरण में विश्वास के साथ गहरा प्रेम होना चाहिए। ऐसा न हो कि बोलते हो भगवान का नाम और आ रहे हो नींद के झोंके। जिसके हृदय में प्रेम जागृत होगा उसे नींद नहीं आ सकती। नींद प्रेमी से तब तक दूर रहती है जब तक प्रेमपात्र मिल न जाय। प्रेम के साथ परमात्मा का जाप करो तो आप जैसी चाहेंगे वैसी ही जागृति हृदय में उत्पन्न हो जायगी। शास्त्रकारों

ने स्वयं अनुभव करके यह बात कही है। आप अभ्यास करके इस कथन की परीक्षा करो। जो स्वयं अभ्यास करके परीक्षा नहीं करता और पहले ही अश्रद्धा या बुराई करता है, उसका रोग असाध्य है। उसे किस प्रकार विश्वास दिलाया जा सकता है?

नाम के स्मरण का क्या प्रताप है, यह बात शास्त्रों में बताई है :—

कैसी भी गूढ बात क्यों न हो, ईश्वर के स्मरण में तल्लीन हो जाओ तो न जाने किस प्रकार वह सरल हो जायगी। मैंने इसका अनुभव किया है और कई बार अपने अनुभव का जिक्र अपने शिष्यों से भी किया है कि समाधि में किसी भी गूढ़ विषय को न मालूम कौन समझा जाता है! यह अनुभव सभी के लिए मार्ग-दर्शक बन सकता है और ऐसा अनुभव प्राप्त करना कठिन भी नहीं है! मगर प्रथम तो आपकी इस ओर रुचि ही नहीं है, दूसरे जंजालों के कारण आपको फुर्सत नहीं मिलती। लेकिन इस सत्य को सदैव स्मरण रक्खो कि अगर एकाग्र ध्यान लगाओगे तो आपकी गति निराली हो जायगी। इसमें जितना परिश्रम करोगे उतना ही कल्याण होगा।

संसार के जंजालों को काटने के लिए महापुरुषों के चरित्रों का आश्रय लेना चाहिए। जो जिस सत्य पर मुग्ध हो जाता है, वह उसके लिए कष्ट आने पर भी विरत नहीं होता— कष्ट आने पर उसका प्रेम बढ़ता ही जाता है, घटता नहीं है। वह उसके लिए दिन-दिन प्रिय होता जाता है, अप्रिय नहीं हो सकता। सत्य से प्रेम रखने वाले को संकट फूल-से लगते हैं।

वह समझता है कि यह संकट संकट नहीं हैं। यह मेरे प्रेम की धार को तेज बनाने के लिए शाण हैं। इनसे मेरा प्रेम तीखा बनता है।

तात्पर्य यह है कि आनन्द नामक गुण आत्मा में स्वभाव से ही विद्यमान है, किन्तु उसका अनुभव करने और उसे प्रकट करने के लिए परमात्मा से प्रीति जोड़नी चाहिए—आत्मा का परिचय प्राप्त करना चाहिए। अभी आप जिस आनन्द का अनुभव करते हैं, वह उसी आत्मिक आनन्द का विकार है। विकार है, इसलिए यह तुच्छ है। आप इस विकृत आनन्द से ऊपर उठने का प्रयत्न कीजिए। तभी आपको शुद्ध आनन्द की उपलब्धि होगी।

इस प्रकार सत् आप हैं, चित् आप हैं, आनन्द आपका ही धर्म है। आप स्वयं 'सच्चिदानन्द' हैं। इस 'सच्चिदानन्द' स्वरूप को पूर्ण रूप से प्रकाश में लाना और इसमें रहे हुए समस्त विकारों को दूर करना ही मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ साधना होनी चाहिए। इस साधना के लिए मनुष्य-जन्म से अधिक अनुकूल और कोई जन्म नहीं है। मनुष्य-जन्म प्राप्त करके जो महाभाग इस साधना में लग जाते हैं उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है और वे अनन्त, अव्याबाध, असीम तथा अक्षय आनन्द को प्राप्त करते हैं।



१२ श्री वासुपूज्यजी



प्रार्थना।

प्रणमूं वासुपूज्य जिन नायक, सदा सहायक तू मेरो।
विषम वाट घाट भयथानक, परमेसर शरणो तेरो ॥ १ ॥

खल दल प्रबल दुष्ट अति दारुण, जो चौ तरफ दिये घेरो।
तो पिण कृपा तुम्हारी प्रभुजी, अरियन होय प्रगटे चेरो ॥ २ ॥

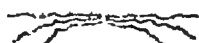
विकट पहार उजाड़ बीच कोई, चोर कुपात्र करे हेरो।
तिण विरियां करिया तो सुमरण, कोई न छीन सके डेरो ॥ ३ ॥

राजा बादशाह जो कोई कोपे, अति तकरार करे छेरो।
तदपि तू अनुकूल होय तो, छिन में छूट जाय फेरो ॥ ४ ॥

राक्षस भूत पिशाच डाकिनी, साकिनी भय न आवे नेरो।
दुष्ट मुष्ट छल छिद्र न लागे, प्रभु तुम नाम भज्या गहरो ॥ ५ ॥

विस्फोटक कुष्टादिक सङ्कट, रोग असाध्य मिटे भगरो।
विष प्यालो अमृत होय जगमें, जो विश्वास जिनन्द केरो ॥ ६ ॥

मात 'जया' 'वसु' देव के नन्दन, तत्त्व जथारथ बुध प्रेरो।
वे कर जोरि 'विनयचन्द' विनवे, वेग मिटे मुझ भव फेरो ॥ ७ ॥



आदि के संतापो में तपा हुआ है। आत्मा को शान्त रखना कठिन हो रहा है। परन्तु यह दुःख तभी तक है जब तक तुमसे भेंट नहीं हुई है। तेरी भेंट होने पर, तेरी प्रार्थना करने पर यह सब दुःख मेरे अनुकूल हो जाएँगे—मेरे सहायक बन जाएँगे।

खल दल प्रबल दुष्ट अति दारुण,
जो चौतरफ दिये घेरो।
तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी,
अरि-यन फिर प्रकटे चेरो॥

प्रभु! मेरे जो वैरी हैं वह तभी तक वैरी हैं, जब तक तेरी सहायता न मिले। तेरी सहायता मिलते ही वैरी भी वैरभाव छोड़कर मेरे मित्र बन जाएँगे।

परमात्मा से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि मेरे भीतर जो विषमता है तथा मेरे लिए जो दूसरे विषम हैं, वह और हम एक हो जाएँ। भक्त लोग परमात्मा से यही प्रार्थना करते हैं कि जगत् को सम-रूप कर दे। वे रोटी के लिए प्रार्थना नहीं करते हैं। वे कहते हैं—मुझे कितने ही कष्ट क्यों न हो, मैं उन कष्टों को हटाने के लिए प्रार्थना नहीं करता। मैं जगत् की भलाई के लिए प्रार्थना करता हूँ।

चोर और राजा बदल कर जब कष्ट देते हैं तो ज्ञानी पुरुष विचार करता है—यह कष्ट नहीं दे रहे हैं बल्कि परमात्मा से प्रार्थना करने की प्रेरणा कर रहे हैं। यह हमें समझा रहे हैं कि अपनी कमी को दूर करो। जिस प्रकार शिक्षक लड़कों को विद्या सिखाने के लिए छड़ी मारता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसार के विरुद्ध व्यवहार को शिक्षा के लिए छड़ी समझते हैं। वे सोचते

हैं—यह विरुद्ध लोग हमको सिखलाते है कि परमात्मा की प्रार्थना करो, जिससे यह दुःख, दुःख न रहकर शान्तिदाता बन जाएँ।

मैं पहले कह चुका हूँ कि प्रार्थना उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ-के भेद से तीन प्रकार की होती है। आजकल लोग प्रायः कनिष्ठ प्रार्थना करते हैं। कनिष्ठ प्रार्थना करने का आमत्रण दिया जाय तो अभी सब प्रार्थना करने को तैयार हो जाएँ।

अगर मैं किसी से कहूँ कि आओ, मैं तुमको ऐसा मन्त्र सिखाता हूँ कि जिससे तुम्हारा वैरी तत्काल मर जायगा। तो सब लोग प्रसन्न होकर भागे आएँगे और कहेंगे—यह तो बडी अच्छी बात है। बहिन कहेगी–घर में सासू से झगड़ा चलता ही रहता है। उसे मिटाने में ईश्वरीय सहायता मिल गई तो और चाहिए ही क्या ? इस प्रकार का मन्त्र सीख कर प्रार्थना करने को सब तैयार हो जाएँगे, पर यह प्रार्थना नहीं, अज्ञान है।

इसी प्रकार अगर यह कहा जाय कि अमुक के नाम की माला फेरने से १०) रुपये प्रतिदिन मिलेंगे तो बहुत लोग माला फेरने के लिए तैयार हो जाएँगे। सोचेंगे—चलो, नौकरी, व्यापार आदि की झंझट मिटी। ऐसे व्यक्तियों को प्रार्थना का क्या रहस्य मालूम हो सकता है ?

शास्त्रों में ऐसी प्रार्थना नहीं है। प्राचीन काल से जो शुद्ध प्रार्थना चली आती है और जैनशास्त्र में जिसका उल्लेख है, उसका तात्पर्य समझो। उसका कतिपय अश इस प्रकार है :—

'धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं।'

अर्थात्—हे प्रभो ! आप धर्म के सारथी हो, धर्म के चक्रवर्त्ती हो। आप जिन होकर दूसरों को भी जिन बनाने वाले हैं, स्वय संसार-सागर से तिरे हैं और दूसरों को तिराने वाले हैं। आप स्वयं बुद्ध होकर नहीं बैठ गये हैं, बल्कि आपने संसार को बुद्ध होने का उपदेश भी दिया है। आप सब पापों से मुक्त होकर संसार को पापमुक्त करने में समर्थ हुए हैं।

मित्रो ! परमात्मा को यहाँ धर्म-सारथी कहा है। समझना चाहिए कि सारथी किसे कहते हैं और सारथी कैसा होता है ? कृष्ण, अर्जुन के सारथी थे। अगर अर्जुन को कृष्ण सारथी न मिले होते तो उसकी विजय त्रिकाल में भी सम्भव नहीं थी। कृष्ण के सारथी होने पर भी अर्जुन डर गये—घबरा गये। तब कृष्ण ने कहा—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ॥

—गीता अ० २, श्लो० ३।

पार्थ, क्यो हीजड़ापन धारण करता है ? तुझे ऐसा करना शोभा नहीं देता। तू हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को छोड़ और युद्ध के लिए तैयार हो जा।

भाइयो ! आपको परमेश्वर सरीखा सारथी मिला है। वह आपसे कुछ लेता तो नहीं है ! फिर क्यों कायरता दिखलाते हो ? विश्वास रक्खो कि हमारा धर्म-सारथी इतना सामर्थ्यशाली है कि कर्मशत्रुओं के साथ किये जाने वाले युद्ध में हम कदापि पराजित नहीं हो सकते। हम अपने इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करेंगे और सब भाइयों से—प्राणीमात्र से—वैरभाव हटाकर अवश्य मैत्री कायम करेंगे।

वैदिक मार्ग मे भी ऐसी ही प्रार्थना की जाती है। यद्यपि वेदों मे बहुत-सी बातें क्लिष्ट हैं, तथापि हम उन बातों को छोड़ कर केवल प्रार्थना के विषय में कहे गये मन्त्रो पर ही ध्यान देते हैं। वेद में कहा है—

ॐ विश्वानि देवत् सवितुर्

यह मन्त्र ऋग्वेद में प्रार्थना के लिए आया है। यहाँ जो 'सवितृ' शब्द आया है उसकी व्याख्या इस प्रकार है—

'सवितृ' सूर्य को भी कहते हैं और परमात्मा को भी जैनशास्त्रो में कहा है—

आइच्चेसु अहियं पयासयरा

तू सब लोकों को तत्त्व-कार्य में प्रवृत्त करता है। मेरा सुभीता तू ही है। इस सूर्य के प्रकाश में मैं अनन्त काल से हूँ परन्तु मेरे हृदय का अंधकार मिटा नहीं। इसलिए मेरे भाव से तू ही सूर्य है।

यह प्रार्थना अपने लिए करना चाहिए या सारे संसार के लिए करना चाहिए? जिसे ईश्वर प्रिय है वह तो सारे संसार के लिए ही प्रार्थना करेगा और जो केवल अपने लिए ही ऐसी प्रार्थना करता है, समझ लीजिए उसने ईश्वर को अपने घर का बना लिया है।

मैंने वेद का जो मन्त्र सुनाया है उसमें यह प्रार्थना की गई है :—

(१) हे ईश्वर! संसार के सारे पाप कर्म को मुझसे हटाकर मुझे उससे अलग कर।

(२) जो कल्याणकारी काम हैं वे मेरे सन्मुख हों. ऐसी कृपा तू कर।

(३) हमें यह सद्बुद्धि दे कि हम यह प्रार्थना करें कि सारे संसार का कल्याण हो।

मित्रो ! आप लोग गन्दे कामों के लिए प्रार्थना करते हैं, विश्वव्यापक भाव से नहीं करते। प्रार्थना सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के वास्ते करना चाहिए। यह समझना गलत है कि यह मेरा वैरी है, इसके लिए मैं प्रार्थना क्यों करूँ? बल्कि वैरी के लिए सबसे पहले प्रार्थना करनी चाहिए कि वह पाप-भावना त्याग दे। जब वैरी अपनी पाप-भावना त्याग देगा तब वह भी आपका मित्र हो जायगा। प्रार्थना में ऐसी शक्ति है कि पापी से पापी भी अपना पाप छोड़ सकता है।

प्रार्थना करने के लिए अन्तःकरण स्वच्छ और विचार विशाल होने चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि वेद के शब्दों से ही या जैनशास्त्र के शब्दों से ही प्रार्थना की जाय। मूल्य शब्दों का नहीं, अर्थ का होता है। जो विशाल भाव से और निर्मल अन्तःकरण से ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, उनका कल्याण अवश्य होता है।



१३ श्री विमलनाथजी



प्रार्थना

विमल जिनेश्वर सेविये, थारी बुध निर्मल हो जाय रे।
जीवा ! विषय-विकार विसार ने, तू मोहनी कर्म खपाय रे ॥
जीवा विमल जिनेश्वर सेविये ॥ १ ॥

सूक्ष्म साधारण पणे, प्रत्येक वनस्पति मांय रे।
जीवा ! छेदन भेदन ते सही, मर-मर उपज्यो तिण काय रे ॥ २ ॥

काल अनंत तिहां भम्यो, तेहना दुःख आगमथी संभाल रे।
पृथ्वी अप तेउ वायु में, रह्यो असख्यासंख्य काल रे ॥ ३ ॥

एकेन्द्री सूँ बेइन्द्री थयो, पुन्याई अनन्ती ऋद्धि रे।
जीवा ! सन्नी पंचेन्द्री लगे पुन्य वध्यां, अनंतानंत प्रसिद्ध रे ॥ ४ ॥

देव नरक तिरयंच में, अथवा मानव भव बीच रे।
जीवा ! दीनपणे दुःख भोगव्या, इण चारों ही गति बीच रे ॥ ५ ॥

अब के उत्तम कुल मिल्यो, भेट्या उत्तम गुरु साध रे।
सुण जिन वचन सनेह से, समकित व्रत शुद्ध आराध रे ॥ ६ ॥

पृथ्वीपति 'कृतभानु' को, 'सामा' राणी को कुमार रे।
जीवा ! 'विनयचंद' कहे ते प्रभु, सिर सेहरो हिवड़ारो हार रे ॥ ७ ॥

विमल जिनेश्वर वन्दिये ।

जिसकी दृष्टि भूतकाल पर नहीं है उसके लिए अपना भविष्य सुधारना कठिन है। जो भूत को भूला हुआ है, वह भविष्य को भी भूल जाता है। जो भूत पर ध्यान नहीं देता और केवल वर्त्तमान में ही मस्त रहता है, उसमें और पशु में क्या अन्तर है ?

पशु को यह ज्ञान नहीं है कि इस घास के लिए मैंने कितना कष्ट उठाया है। फिर मेरे आगे जो पचास गट्ठे घास पड़ा है, इसे एकदम क्यों कुचलकर खराब कर डालूँ ? उन्हे यह भी भान नहीं रहता कि मैं कितना खाऊँ ! प्रायः पशु अपने इस अज्ञान के कारण इतना अधिक खा जाते हैं कि उनका पेट फूल जाता है और वे मर जाते हैं। उनमे यह शक्ति नहीं कि वे अपनी भूतदशा को देखकर अपने कल्याण-मार्ग का विचार करें। मगर पशु तो आखिर पशु है, बहुत-से मनुष्य भी भूतकाल पर विचार नहीं करते और न भविष्य की चिन्ता करते हैं। यह बड़े दुःख की बात है।

ज्ञानी-जनों का कथन है कि अपने भूतकाल पर दृष्टि डालो। भूतकाल में हम कहाँ-कहाँ रहे हैं, इस बात पर विचार करो तो हृदय मे जागृति हुए विना न रहेगी।

सूक्ष्म साधारण पणे, प्रत्येक वनस्पति माहि, रे जीवा,
छेदन भेदन ते सह्या ॥

यह चिदानन्द सूक्ष्म, साधारण वनस्पति मे उत्पन्न हुआ है। शास्त्र में इस विषय पर बहुत गम्भीर व्याख्या की है, परन्तु

कहाँ जा पहुँचे। असंख्य-असंख्य जन्म-मरण करके एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय हुआ और फिर क्रमशः पुण्य की वृद्धि होने पर अब पंचेन्द्रिय पर्याय प्राप्त हुई है। अपनी इस हालत पर विचार कर। विषय-कषाय की ओर ध्यान न दे।

किसी की आँख बडी होती है और किसी की छोटी, किसी का ललाट बड़ा होता है और किसी का छोटा। यह अवयव बडे होते हैं सो हाथ दो हाथ तो बड़े होते नहीं हैं। बड़े और छोटे में थोड़ा-सा अन्तर होता है, फिर भी इनके बडे होने में पुण्यवानी का डौल माना जाता है। कहा भी है—

यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।

अर्थात्—आकृति में गुणों का निवास है। जिसकी आकृति सुन्दर है उसमें अच्छे गुण होते हैं।

जब एक-एक अवयव के छोटे-बडे होने पर पुण्य का इतना विचार है तो फिर एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय हुए, पंचेन्द्रियों को भी मनुष्य-जन्म मिला और मनुष्य होकर भी भारत की उत्तम भूमि में उत्पन्न हुए, यह कितने महान् पुण्य की बात है? इस पुण्य का बदला किससे करना चाहिए, यह विचारो।

इस पुण्य के बदले में मनुष्य को विषय-कषाय पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। विषय क्या है और कषाय क्या है और इनके जीतने का अर्थ क्या है? इन सब बातों पर प्रकाश डालने के लिए बहुत समय चाहिए। तथापि अभी थोड़े में ही समझाने का प्रयत्न करता हूँ।

विषय और कषाय का आपस में सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। इन्द्रियों के भोग विषय कहलाते हैं और क्रोध, लोभ आदि कषाय कहलाते हैं। इन्द्रियों के भोग का अर्थ आँख से किसी को देख लेना अथवा कान से कोई शब्द सुन लेना नहीं है। आँख देखने और कान सुनने के लिए ही हैं। पर देखना और सुनना विषय उसी दशा में बनता है जब देखने और सुनने के साथ कषाय का मेल होता है। आँखों से देखकर जब कषाय करता है अर्थात् किसी को चाहता है और किसी से घृणा करता है, तभी देखना-सुनना विषयभोग कहलाता है। कषाय को ही राग-द्वेष कहते हैं। इस राग-द्वेष को उत्पन्न न होने देना, विषय में न पड़ने देना ही इन्द्रियों को जीतना है।

इन्द्रियों को न जीतने का फल क्या होता है, इस बात को भलीभांति समझ लीजिए। दीपक पर पतंग गिरता है क्योंकि उसकी लौ से पतंग को मोह होता है। यद्यपि पतग को वह आँखें, जिनसे वह देखता है, पुण्य से मिली हैं फिर भी वह उन आँखों से दीपक की चमक देखकर उस पर गिरता और मर जाता है। पुण्य से मिली हुई उसकी आँखें ही उसकी मृत्यु का कारण हुई। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जब एक चक्षु-इन्द्रिय के अधीन होने के कारण ही पतंग मर गया तो जो लोग पाँचों इन्द्रियों के गुलाम होंगे—पाँचों इन्द्रियों से राग-द्वेष करेंगे, उनकी कैसी दुर्दशा न होगी!

आँखें पुण्य भी कमा सकती हैं और पाप भी कमा सकती हैं।

मृगापुत्र अपने महल में बैठे थे। सब स्त्रियाँ भी वहीं राग-रंग में मस्त हो रही थीं। किन्तु मृगापुत्र महाराज की दृष्टि इन स्त्रियों के हाव-भाव पर न जाकर एक महात्मा की ओर जाती है।

अह तत्थ अइच्छंतं, पासई समणं संजयं ॥
तवनियमसंजमधरं, सीलड्ढं गुणआगरं ॥
तं देहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाए उ ॥
कहिमन्ने रिसं, रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥

—श्री उ० १६ अ० ५—६ गा०

मुनि को आते देखकर मृगापुत्र महाराज के रोम-रोम में हर्ष छा गया। वे विचार करने लगे कि ऐसे महात्मा को कहीं न कहीं देखा अवश्य है।

मित्रो ! वह महात्मा सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सजे हुए तो थे नहीं, स्त्री जैसा रूप-शृङ्गार भी उनमें नहीं था, फिर मृगापुत्र उन्हें देखकर इतने प्रसन्न क्यों हुए ? वास्तव में यह ज्ञानी के लक्षण हैं। इन आँखों से उन वस्तुओं को देखने की आदत डालनी चाहिए, जिन्हें देखकर वैराग्य हो। आँखों से साधु, सती वेश्या आदि सभी देखे जाते हैं, पर देख लेने में ही कोई विशेषता नहीं है। देखने का परिणाम भाव पर निर्भर है। महात्मा को आप देखेंगे तो जैसे मृगापुत्र महाराज को जाति-स्मरण ज्ञान हुआ और वे मुक्ति प्राप्त कर सके, ऐसे ही आपको भी महान् लाभ होगा।

कहा जा सकता है कि वैसे महात्मा आजकल हैं कहाँ ? इसका उत्तर यह है कि आज चिन्तामणि और पारसमणि नहीं मिलती, पर साधारण हीरे, मोती और माणक तो हैं ? इन साधारण हीरे-मोती को भी जौहरी ही पहचानता है, दूसरा नहीं पहचानता। दूसरा तो इनके भरोसे इमीटेशन (नकली) हीरा-मोती ले लेता है और जौहरी नकली हीरा-मोती से भी लाखों

दो मल्ल अखाड़े में लड़ते हैं। उनमें से एक जीतता है और दूसरा हारता है। परन्तु हारने वाला मल्ल भागता नहीं है। वह सोचता है—आज मैंने पछाड़ खाई है तो आगे मैं इसे पछाड़ूँगा। इसी प्रकार का विचार आप करो। संसार से डर कर मत भागो। बहुतों ने संसार मे रहकर कल्याण किया है। भावना को शुद्ध बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहो तो आपका भी कल्याण हो सकता है।

आप यह न समझें कि साधु इस संसार के अखाड़े से पृथक् हैं। साधु-अवस्था मे भी अगर काम आदिक का हमला न होता तो कई-एक साधु साधुता से पतित क्यों हो जाते? राजीमती को देख रथनेमि कामवश होकर पतित हो ही गये थे। मगर राजीमती ने उन्हे सँभाल लिया। राजीमती के उपदेश को सुनकर वह रास्ते पर आये थे, अन्यथा उनके पतित होने में कमी क्या रह गई थी? भाइयो! हमले तो होते ही रहेगे। इन हमलों से हिम्मत न हारो, बल्कि अधिक हिम्मत करके डटकर उनका सामना करो और सोचो कि हम भी हमला करने वालों पर हमला करेंगे और आज नहीं तो कल उन्हे पछाड़ देंगे।

शास्त्र मे कहा है कि आत्मा मे औदयिक भाव भी है और क्षायोपशमिक भाव भी है। क्षायोपशमिक भाव को बढ़ाने से अवश्य ही विषय-कषाय पर विजय प्राप्त हो सकती है।

विमल जिनेश्वर सेविये,
थारी बुधि निर्मल होइ जाय रे जीवा।

अरे जीव! विमलनाथ भगवान् की सेवा कर। विमलनाथ भगवान की सेवा करने से तेरी बुद्धि निर्मल हो जायगी।

विमलनाथ भगवान् का नाम जपने और उसके शरण में जाने से जब बुद्धि निर्मल हो जाती है तब विषय-कषाय को जीतना सरल हो जाता है। विमलनाथ भगवान् के नाम में ऐसी महिमा है।

तेरहवे तीर्थंकर का नाम विमलनाथ क्यों है, यह देखना चाहिए। आप जानते हैं कि कोई-कोई नाम गुण के अनुसार होने हैं और कोई-कोई रूढ़ि के पोषक होते हैं। कोई नाम सिर्फ व्यवहार के लिए होता है और किसी नाम में उसके अनुसार गुण भी रहता है। लेकिन बिना नाम के संसार में कोई किसी को ठीक तरह पहचान नहीं सकता। आपको किसी से एक लाख रुपया लेना है। अगर आप उसका नाम नहीं जानते तो किससे रुपया माँगेंगे? बिना नाम जाने हथेली की चीज भी यथावत् नहीं पहचानी जाती।

नाम बिन जाने,
करतल गत नहिं परत पिछाने।

मान लीजिए, किसी सेठ की लड़की की सगाई दूसरे सेठ के लड़के साथ हुई। वर और कन्या दोनों अलग-अलग देश में हैं। एक ने दूसरे को नहीं देखा है। कार्यवश वर, कन्या के ग्राम में गया और किसी बगीचे में ठहरा। संयोगवश वह, कन्या भी उस बगीचे में आई। अब दोनों एक दूसरे को देखते हैं, फिर भी किसी ने किसी को नहीं पहचाना। यहाँ न पहचानने का कारण क्या है?

'नाम मालूम नहीं!'

नाम मालूम न होने से एक, दूसरे को नहीं पहचान सका। इतने में किसी तीसरे ने आकर दोनों को एक दूसरे का नाम बतला दिया। दोनों के भावों में कैसा परिवर्तन हो जायगा ! दोनों के भाव बदल जाएँगे। दोनों लज्जित हो जाएँगे।

यह दृष्टान्त इस लिए दिया गया है कि आप नाम के महत्त्व को समझ सकें। जो नाम केवल रूढ़ि पर अवलम्बित है, उनमें भी जब इतना प्रभाव है तो जिस नाम में यथार्थ गुण हैं, उस नाम का प्रभाव कितना होना चाहिए ?

भगवान् विमलनाथ का नाम रूढ़ नहीं है, उन्होंने गर्भ में आते ही माता की बुद्धि और जन्म लेते ही जगत् की बुद्धि निर्मल कर दी थी। इससे उनका नाम विमलनाथ हुआ। आप अपनी बुद्धि को निर्मल बनाना चाहते हों तो भगवान् विमलनाथ का स्मरण करें। विमलनाथ का स्मरण करने से आपकी बुद्धि निर्मल हो जायगी, आपके अन्तःकरण में भी निर्मलता आ जायगी और फिर सम्पूर्ण आत्मा की विशुद्धि हो जायगी।

[ख]

रे जीवा ! विमल जिनेश्वर सेविये।

भगवान् विमलनाथ की यह प्रार्थना है। परमात्मा की सच्ची प्रार्थना करने वालों के हृदय में जब भावोद्रेक होता है और अन्य जीवों के कल्याण की कामना उद्भूत होती है तब वह अपनी प्रार्थना को शब्दों के सांचे में ढाल देते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि भावना जब बहुत प्रबल हो उठती है तो वह शब्दों के रूप में बाहर फूट पड़ती है और उससे अनेक प्राणियों का हित हो जाता है।

यह कहना कठिन है कि सब प्रार्थना करने वालों के मन में क्या है, लेकिन बाहर प्रकट किए हुए भावों से जो अनुमान होता है, वह यही कि उनके मन में भी अच्छे ही भाव होंगे और हृदय में ज्योति होगी। चाहे उनके शब्द चमत्कार-जनक न हों, उनकी भाषा में शाब्दिक सौन्दर्य न हो और छन्दशास्त्र का भी उन्होंने अनुसरण न किया हो फिर भी उनके भाव अनूठे होते हैं। वे कहते हैं—प्रभो! मेरे हृदय में जो प्रेम है, वह या तो मैं जानता हूँ या तू जानता है। इस प्रकार निरपेक्ष भाव से—अनन्य प्रेम से जो प्रार्थना की जाती है, उसमें गजब की शक्ति होती है।

परमात्मा की प्रार्थना की व्याख्या करना सुवर्ण का सिंगार करने के समान है, फिर भी कुछ न कुछ करना ही होता है। सुवर्ण में सौन्दर्य तो स्वाभाविक है, लेकिन उसे उपयोगी बनाने के लिए सुनार को उसके गहने बनाने ही पड़ते हैं। फूल में सुगन्ध, सौन्दर्य और सुकुमारता स्वाभाविक है, फिर भी माला-कार उसे हार में गूंथता है। इसी प्रकार प्रार्थना स्वयं सुन्दर है—गुणसम्पन्न है, लेकिन उसे सब के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से कुछ कहना पड़ता है।

प्रार्थना की जो कड़ियाँ बोली गई हैं, उनमें अपने पूर्व चरित का वर्णन आया है। उनमें यह बतलाया गया है कि—हे आत्मा! तुझे देखना चाहिए कि पहले तू कौन था, और अब कहाँ आया है? अब तेरा कैसा विकास हुआ है—तू किस दर्जे पर चढ़ा है? धीरे-धीरे तू ऊँचा चढ़ गया है। अब जरा विशेष सावधान हो। ऐसा न हो कि शिखर के समीप पहुँच कर फिर गिर पड़े। ऊपर चढ़ना तो अच्छा है, मगर उसी दशा में

जब नीचे न गिरो। ऊपर चढ़कर नीचे गिरने की दशा में अधिक दुःख होता है।

हम लोग किस स्थिति से चलकर किस स्थिति पर पहुँचे हैं यह बात अर्हन्त भगवान् ने बतलाई है और शास्त्र में इसका उल्लेख है। शास्त्र गम्भीर है। सब लोग उसे नहीं समझ सकते। अतएव शास्त्र में कही हुई वह बातें सरल भाषा में, प्रार्थना की कड़ियों द्वारा प्रकट की गई हैं। लोक में बलवान् की खुराक कुछ और होती है तथा निर्बल की खुराक और ही। निर्बल को उसी के अनुरूप खुराक दी जाती है। प्रार्थना में वही बात सरल करके बतलाई गई है, जो भगवान ने गौतम स्वामी से कही थी, जिससे सब सरलतापूर्वक समझ लें।

अपनी पुरातन स्थिति पर विचार करो कि अपनी स्थिति पहले कैसी थी? प्रभो! मैं पागलों में भी पागल था। अब मेरी आत्मा में जो ज्ञान हुआ है, उससे मैं समझ पाया हूँ कि मैंने कितनी स्थितियाँ पार की है और अब इस स्थिति में आया हूँ। एक समय मैं निगोद में निवास करता था, निगोद में ऐसे-ऐसे जीव हैं जो आज तक कभी एकेन्द्रिय पर्याय छोड़कर द्वीन्द्रिय पर्याय भी नहीं पा सके हैं।

मित्रो! अपनी पूर्वावस्था पर विचार करो। इससे अनेक लाभ होंगे। प्रथम यह है कि आपको अपनी विकासशील शक्ति पर भरोसा होगा और दूसरे आप अपनी मौजूदा स्थिति का महत्व भलीभाँति समझ सकेंगे। तीसरे पूर्वावस्था पर विचार किये बिना परमात्मा की प्रार्थना भी यथावत नहीं हो सकती। आप यह न समझ लो कि हम पहले कहीं नहीं थे और मां के पेट

से नये ही उत्पन्न हो गये हैं। आप अपनी अनादि और अनन्त सत्ता पर ध्यान दीजिये।

हे आत्मन! तेरा ननिहाल निगोद में है। तेरे साथ जन्मने और मरने वाले तेरे अनेक साथी अब तक भी वहाँ हैं। लेकिन न जाने किस पुण्य के प्रताप से तू उस अवस्था से बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक आ पहुँचा है। एक वह दिन भी था, जब एक समय में अठारह बार जनमना-मरना पड़ता था, मगर कौन-सी स्थिति जागी और कैसे क्या हुआ कि तेरा उत्थान हो गया? यह ज्ञानी ही जानते हैं। तथापि तेरा महान उत्थान हुआ है और तू इस स्थिति पर आ पहुँचा है कि तुझे विवेक की प्राप्ति हुई है—ज्ञान मिला है। फिर क्या यहाँ से नीचे जायगा? अगर ऐसा हो तो ज्ञान की प्रशंसा की जाय या अज्ञान की? अतएव तुझे देखना चाहिए कि ज्ञान पाकर तू क्या करता है। तू अपनी असलियत को—स्वरूप को भूल रहा है और वाहियात वस्तुओं का लालची बन रहा है। किसी समय निगोद का निवासी तू विकास पाते-पाते यहाँ तक आया है। तुझे मानव-शरीर मिला है, जो संसार का समस्त वैभव देने पर भी नहीं मिल सकता। सम्पूर्ण संसार की विभूति एकत्र की जाय और उसके बदले यह स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय तो क्या ऐसा होना सम्भव है? नहीं। त्रैलोक्य के राज्य के बदले भी कोई एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय नहीं बन सकता। इतनी अनमोल स्थिति तुझे मिली है। इस स्थिति की महिमा समझ और ऐसा प्रयत्न कर, कि अब पीछे लौटने का समय न आवे। साथ ही अपनी उस पहली स्थिति को भी स्मरण रख, जिसके विषय में कहा जाता है :—

काल अनन्ता तिहां गयो,
ते दुख आगमथी सम्हाल रे जीवा !..

जिस काल की गिनती करना भी असम्भव है, जो अनंत कहलाता है, उतने काल तक तू वहाँ रहा। फिर उसे आज कैसे भूल रहा है ? उस पर विचार क्यों नहीं करता ? और आगे ही आगे बढ़ने का दृढ़ संकल्प और कार्य करने में किस लिए हिचक रहा है ?

प्रश्न हो सकता है—अगर वह काल अनन्त था तो उसका अन्त कैसे आ गया ? उत्तर यह है कि—एक अनन्त तो ऐसा होता है कि जिसका अन्त कभी आ ही नहीं सकता, दूसरे अनन्त का अन्त तो आ जाता है, लेकिन अन्त कब आएगा, यह बात ज्ञानी ही जानते हैं। एक अनन्त वह भी है, जिसका अन्त आता है फिर भी उनकी प्रचुरता के कारण गिनती नहीं हो सकती। दांत की चूड़ी को सभी देखते हैं, लेकिन यह नहीं बतलाया जा सकता कि उसका मुँह कहाँ है ? उसके आरम्भ और अन्त का पता नहीं लगता। इसी प्रकार उस काल को ज्ञानियों ने तो देखा था, लेकिन उसकी गणना नहीं हो सकने के कारण उसे अनन्त कहा है।

हे जीव ! उस निगोद के निबिड़तर अन्धकार से परिपूर्ण कारागार में न मालूम किस भवस्थिति का उदय हुआ, जिससे तू साधारण निगोद से निकल कर प्रत्येक में आया। उसके बाद फिर पुण्य में वृद्धि हुई और तू एकेन्द्रिय दशा त्याग कर द्वीन्द्रिय दशा प्राप्त कर सका। तत्पश्चात् क्रमशः अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर तू मनुष्य हुआ। अनन्त पुण्य के प्रभाव से मनुष्य होने पर तुझे जो जीभ मिली, उसे तू किस काम में लगा रहा है ?

उसके द्वारा तू क्या फल ले रहा है ? क्या यह भागशालिनी जिह्वा तुझे परनिन्दा, मिथ्याभाषण कटुक वचन अथवा उत्पात करने कराने के लिए मिली है ? अगर नहीं, तो क्या तुझसे यह आशा करूँ कि तू झूठ नहीं बोलेगा ?

लोगों में आज दया का जितना विचार है, उतना सत्य का विचार नहीं है, सत्य की ओर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है।

आपको एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि अनन्त पर्यायें पार करने के पश्चात् मनुष्य भव मिला है। अपना अहोभाग्य समझिए कि आप श्रेष्ठ धर्म और उसके उपदेशक त्यागी गुरु भी प्राप्त कर सके हैं। मगर इसकी प्राप्ति का लाभ क्या है ? यही कि जो कुछ मिला है, उसे अच्छे काम में लगाया जाय। बुरे काम में न लगाया जाय। असत्य न बोले, किसी को बुरी नजर से न देखे, किसी की निन्दा-बुराई न सुने। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय को बुरे काम से बचा कर परमात्मा की प्रार्थना में लगा दिया जाय तो मनुष्य-जन्म सफल हो सकता है। इसीलिए कहा है—

विमल जिनेश्वर सेविये, थारी बुध निर्मल हो जाय रे जीवा।
विषय-विकार निवारने, तूँ तो मोहनीकर्म खपाय रे जीवा ॥१॥

रे चिदानन्द ! अब देखता क्या है ? जिस प्रभु ने तुझे तेरी भवस्थिति बतलाई है, उसकी सेवा में तन्मय हो जा। उसकी सेवा से तुझे क्या मिलेगा ? संसार के लोगों की यह हालत है कि किसी भी काम में लोभ या भय के बिना प्रवृत्त नहीं होते। विचार करो कि जो भवस्थिति तूने सुनी है, उससे बड़ा भय या लाभ और क्या हो सकता है ? भय यह है कि कहीं ऊँची स्थिति से गिरकर नीची स्थिति में न पड़ जाऊँ। इस प्रकार का भय रखने से तुझमें परमात्मा की सेवा करने की रुचि उत्पन्न होगी। यही बड़ा लाभ है।

१४ श्री अनन्तनाथजी



प्रार्थना।

अनन्त जिनेश्वर नित नमूँ, अद्भुत जोत अलेख।
ना कहिये ना देखिये, जाके रूप न रेख ॥ १ ॥

सूक्ष्म थी सूक्ष्म प्रभु, चिदानन्द चिद्रूप।
पवन शब्द आकाशथी, सूक्ष्म ज्ञान सरूप ॥ २ ॥

सकल पदार्थ चिन्तवूं, जे-जे सूक्ष्म होय।
तिणथी तू सूक्ष्म महा, तो सम अवर न कोय ॥ ३ ॥

कवि पण्डित कही-कही थके, आगम अरथ विचार।
तो पण तुम अनुभव तिको, न सके रसना उचार ॥४॥

आप भणे मुख सरस्वती, देवी आपो आप।
कही न सके प्रभु तुम सता, अलख अजल्पा जाप ॥ ५ ॥

मन बुध वाणी तो वपे, पहुँचे नहीं लगार।
साखी लोकालोकनी, निर्विकल्प निर्विकार ॥ ६ ॥

मा 'सुजसा' 'सिद्दरथ' पिता, तस सुत 'अनन्त' जिनन्द।
'विनयचन्द' अब ओलख्यो, साहिब सहजानन्द ॥ ७ ॥



आज सर्वव्यापी परमात्मा के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। जिन शब्दों में इस विषय को कहना और निश्चय करना चाहिए, उन शब्दों में कहना और निश्चय करना कठिन है। उन शब्दों में आपका समझना भी मुश्किल है। फिर भी यथाशक्ति कहने और समझने का प्रयत्न करना ही योग्य है।

परमात्मा की सत्ता और महत्ता को पहिचान लेने पर सारे संसार के सुख और वैभव तुच्छ हैं। जो ऐसा समझेगा अर्थात् परमात्मा की सत्ता के आगे सांसारिक सुखों को तुच्छ जानेगा, उसी की गति परमात्मा की ओर होगी।

प्रार्थना में कहा है—'अनन्त जिनेश्वर नित नमूँ।' यहाँ आप कह सकते हैं कि जब तक परमात्मा के स्वरूप को पहचान न लें तब तक उन्हे नमस्कार कैसे करें? साधु को तो वेष से पहचान कर नमस्कार करते हैं, पर परमात्मा को कैसे पहचानें? और पहचाने विना नमस्कार कैसे करें? अगर विना पहचाने नमस्कार कर भी लिया तो उससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? ऐसा करने पर वास्तविक प्रीति तो नहीं हो सकती।

मैं आपसे कह चुका हूँ—

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या ।

जब तक हृदय में चाह न हो और सिर्फ ऊपर से किसी शुभ काम को किया जाय तो उसका यथेष्ट फल नहीं होता। अतएव जब तक परमात्मा को पहचान न लिया जाय, परमात्मा के प्रति भावना उत्पन्न न हो जाय तब तक उसे नमन करना भी विशेष लाभदायक नहीं! अतएव परमात्मा को पहचानना बहुत

आवश्यक है। एक बार परमात्मा को पहचान लिया तो फिर वह नहीं भूलेगा। एक बार हृदय में वह घुस गया तो फिर नहीं निकलेगा॥ मगर परमात्मा को पहचाना कैसे जाय ?

रत्न की परीक्षा एकदम कोई नहीं सीख सकता। जो जौहरी की दुकान पर बैठा करता है वह कभी न कभी रत्नपरीक्षक हो ही जाता है। लोग पहले-पहल जब व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तभी व्यापार को नहीं समझ लेते। धीरे-धीरे अनुभव प्राप्त करके ही निष्णात बनते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे व्यावहारिक बातें साधना से सीखी जाती हैं, वैसे ही परमात्मा की पहचान भी साधना से ही हो सकती है। साधना बडी चीज है। आप बचपन में ऐसी पगड़ी और धोती बाँधना नहीं जानते थे, लेकिन अभ्यास करते-करते साधना द्वारा अच्छी पगडी बाँधना और धोती पहनना सीख गये हैं। इसी प्रकार परमात्मा से प्रेम करने की साधना करो, उसके लिए उद्योग करो तो उसका स्वरूप पहचान लेना असम्भव नहीं रहेगा।

अनन्त जिनेश्वर नित नमूं, अद्भुत ज्योति अलेख।
ना कहिए ना देखिये, जाके रूप न रेख॥ अनन्त॥

उस परमात्मा की ज्योति ऐसी अद्भुत है, जो मुख से कही नहीं जा सकती और आँख से देखी नहीं जा सकती। उसका न कोई रूप है, न रेख है, उसको नमस्कार कर।

अब आप सोचेंगे कि हम तो और भी चक्कर में पड़ गये! जिसकी कोई रूप-रेखा नहीं है, उसे किस प्रकार पहचाना जाय ?

मित्रो! शंका करने की कोई बात नहीं है। हृदय को प्रसन्न करने वाली चीज रूप-रंग वाली नहीं होती। रूप-रंग

वाली चीज नाशवान् है और जिसमें रूप-रंग नहीं है वह अविनाशी है। नाशवान् चीज हृदय को प्रसन्नता नहीं पहुँचा सकती, इसलिए अविनाशी से प्रीति करो। अविनाशी से प्रेम करोगे तो कल्याण होगा।

सकल पदारथ चिंतवूं, जे जे सूक्ष्म होय।
ते थी तू सूक्ष्म महा, तो सम अवर न कोय।

संसार के समस्त सूक्ष्म पदार्थों पर अगर मैं विचार करूँ तो सब से सूक्ष्म तू ही मिलेगा। तेरे समान सूक्ष्म और कोई नहीं है।

शरीर में आँख, कान, नाक, आदि दिखाई देते हैं, पर क्या श्वास दिखता है ?

'नहीं!'

अर्थात् श्वास इन स्थूल इन्द्रियों से सूक्ष्म है। अब इनमें अधिक प्रिय कौन है ?

'श्वास!'

क्योंकि श्वास के विना आँख, कान आदि कुछ भी नहीं कर सकते। तो जिस तरह श्वास दीखता नहीं है, फिर भी उसे प्यार करते हो, उसी प्रकार अदृश्य परमात्मा को भी प्यार करो। उससे प्रार्थना करो—हे प्रभु! जैसे श्वास के चले जाने पर शरीर बेकाम रह जाता है, उसी तरह तुम्हे भूलने से यह संसार मुर्दा है। इसमें अगर तू न रहे तो यह किसी काम का नहीं।

आप श्वास की करामात समझते हैं। यद्यपि श्वास सूक्ष्म है तथापि सब उसी का खेल है। उसी सूक्ष्म पर स्थूल

टिका है। श्वास अगर स्थूल शरीर से पृथक् हो जाय तो सब स्थूल इन्द्रियाँ मुर्दा हो जाएँ। इससे निश्चय हुआ कि स्थूल, सूक्ष्म के विना नहीं टिक सकता।

अब जरा आगे चलिए। सोचिये कि श्वास को श्वास के रूप में पहचानने वाला कौन है? श्वास के इस महत्व को कौन समझता है?

'ज्ञान!'

मै सुखी हूँ या दुखी हूँ, श्वास चलता है या नहीं चलता, यह सब बातें पहचानने वाला ज्ञान है। ज्ञान न हो तो जीने और मरने में क्या अन्तर रह जाय?

तो ज्ञान, श्वास से भी सूक्ष्म है। श्वास तो क्रिया से भी जाना जा सकता है पर ज्ञान आत्मा से ही जानने योग्य है। ज्ञान को देखने या जानने के लिए दूसरी चीज की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान के लिए ज्ञान ही प्रमाण है। जिस प्रकार सूर्य को देखने के लिए दीपक आदि की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान को देखने के लिए किसी और चीज की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान के लिए किसी और से पूछना मूर्खता है।

जैसे श्वास से सूक्ष्म ज्ञान है, वैसे ही सूक्ष्म परमात्मा है। कहा है—

सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभु, चिदानन्द चिद्रूप।
पवन शब्द आकाशथी, सूक्ष्म ज्ञान-स्वरूप।

अतएव जिस प्रकार तुम ज्ञान को जानते और मानते हो, उसी प्रकार ईश्वर को मानो। ईश्वर अनन्तज्ञानी है। जैसे

ज्ञान अपने हृदय की सब बातें जानता है, उसी तरह परमात्मा संसार की सब बातें जानता है। कोई बात उससे छिपी नहीं। वह अनन्त ज्ञान का प्रकाशमय पुँज है।

मित्रो ! यदि मनुष्य ईश्वर के इस रूप को जान लें तो कदापि कपट न करें। जो यह बात समझ जायगा कि ईश्वर सब जगह देखता है और सब कुछ जानता है, उसे कपट करने की इच्छा ही नहीं होगी। जो ईश्वर की इस सत्ता को जानता है वह साफ कह देगा कि मुझसे कपट न होगा। आपको ऐसा ज्ञान हो जाय तो अज्ञान का पर्दा हट जायगा और परम शान्ति प्राप्त होगी। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर आप स्वयं कहने लगेंगे कि—'भगवन् ! तुझे रिझाकर, तेरी भक्ति करके मैं यही चाहता हूँ कि मुझे शान्ति प्राप्त हो। तुझे पहचान लेने पर, तेरी भक्ति करने पर मुझे किसी वस्तु की कमी नहीं रह जायगी।'

[ख]

अनन्त जिनेश्वर नित नमूँ।

कवि ने भगवान् अनन्तनाथ की प्रार्थना की है। यह केवल कल्पना नहीं है किन्तु इस प्रार्थना में भगवान् का यथार्थ स्वरूप बतलाया गया है। परमात्मा का स्वरूप और उस स्वरूप का विचार अगाध है। अनायास वह समझ में नहीं आ सकता। बहुत-से लोग कहते हैं कि आजकल भगवान् का विरह है। वह सीमंधर स्वामी तेरह करोड़ कोस दूर महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं। इतनी दूर होने से इस शरीर और इस जिन्दगी में उनसे भेंट कैसे हो ? ऐसा सोचकर वे ईश्वर का बोध नहीं लेते और ईश्वर का बोध न लेने से, पाप से बचने की उन्हें छाया नहीं मिलती।

परमात्मा का बोध कराने से पहले मैं यह पूछना चाहता हूँ कि आप परमात्मा को क्यों चाहते हैं ?

'आत्मा की शुद्धि के लिए।'

तो यह मालूम हुआ कि आत्मा अशुद्ध है और उसकी शुद्धि के लिए परमात्मा की जरूरत है। पर आपने आत्म-शुद्धि के सम्बन्ध में कुछ विचार भी किया है या यों ही परमात्मा को चाहते हैं ?

अकसर लोग कहते हैं कि आत्मा की शुद्धि के लिए ही हम परमात्मा को चाहते हैं, परन्तु वे अपने अन्तःकरण को टटोलें तो उनमें से बहुतों की कामना निराली-निराली होगी। कई लोग साधु होने पर भी दिखावे के लिए परमात्मा का भजन करते हैं, कोई निस्सन्तान होने से पुत्र की प्राप्ति के लिए, कई निर्धन होने से धन पाने के लिए, कोई दूसरों के सामने अपनी प्रामाणिकता प्रकट करने के लिए और कई इस डर से कि चार आदमियों में बैठकर-भगवान् का भजन न करेंगे तो नास्तिक समझे जाएँगे, परमात्मा का भजन करते हैं। ऐसे लोगों में क्या आत्मशुद्धि के लिए परमात्मा को भजने का भाव रहा ?

'नहीं।'

जो आत्मा की शुद्धि के लिए परमात्मा को भजेगा, उसे पहले परमात्मा और आत्मा का स्वरूप तथा दोनों का सम्बन्ध समझ लेना होगा। उसके बाद यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि परमात्मा से भेंट किस प्रकार हो सकती है ? वास्तव में परमात्मा बहुत समीप है परन्तु स्वरूप को न समझने से वह दूर

मालूम होते हैं। परमात्मा का स्वरूप समझने के लिए, पहले जो वस्तुएँ प्रतिदिन आपके संसर्ग मे आती हैं, उनसे पूछताछ कर लेनी चाहिए। प्रतिदिन काम मे आने वाली प्रथम तो इन्द्रियाँ हैं, फिर मन है, फिर बुद्धि और फिर आत्मा या ज्ञान है। इस प्रकार पहले इन्द्रियों से पूछना चाहिए।

स्पर्शनेन्द्रिय सिर्फ स्पर्श को जानती है। यह वस्तु ठंडी है या गरम, हल्की है या भारी, कोमल है या कठोर, चिकनी है या रूखी, यहीं तक इसकी सीमा है। तो क्या परमात्मा हल्का-भारी आदि है?

'नहीं।'

अर्थात् परमात्मा इन आठों स्वभावों से रहित है। अन्य शास्त्र भी कहते हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयान्, इत्यादि।

अर्थात् वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल है, पर उसमें हल्कापन या भारीपन नहीं है। तब स्पर्शनेन्द्रिय उसे कैसे पहचानेगी?

आगे चलकर जीभ से पूछा—तेरे से भगवान् को मिलाऊँ तो तू पहचान लेगी? जीभ ने उत्तर दिया—परमात्मा खट्टा-मीठा होगा तो पहचान लूँगी। नहीं तो कैसे पहचानूँगी? पर क्या परमात्मा खट्टा-मीठा है?

'नहीं।'

इस प्रकार दो इन्द्रियों से जवाब मिल जाने पर तीसरी इन्द्रिय नाक के पास पहुँचे। उसने उत्तर दिया—मेरा काम

सुगन्ध और दुर्गन्ध बतलाने का है। इसके सिवाय और कुछ भी जानना मेरे बूते से बाहर की बात है। पर क्या परमात्मा सुगंध या दुर्गन्ध है ?

'नहीं।'

चलो, नाक से भी साफ उत्तर मिल गया। अब आँख के पास आकर पूछा—तू दूर-दूर तक देखती है तो क्या परमात्मा को भी देख सकती है ? आँख ने कहा—'अगर परमात्मा काला, पीला, नीला, हरा या लाल हो तो मैं बतला दू।' मगर क्या परमात्मा उपर्युक्त रंगों वाला है ?

'नहीं।'

चलो, आँखों से भी छुट्टी मिली। अब रहा गया कान। कान से कहा—भाई, तू ही जरा अनन्तनाथ भगवान् का पता बता। तब कान कहता है—मैं केवल शब्द सुन सकता हूँ। पर परमात्मा क्या शब्द है ?

'नहीं।'

तब इन इन्द्रियों से परमात्मा का पता लगना सम्भव नहीं है। ऐसा सोचना कि परमात्मा का पता इन्द्रियाँ लगाएँगी, वृथा है। जब वहाँ तक इनकी पहुँच ही नहीं है तो यह उन्हें कैसे पहचान सकेंगी ? ऐसी स्थिति में जो लोग यह कहते हैं कि परमात्मा दीखता नहीं है, इसलिए उसकी सत्ता भी नहीं है, उनका कथन मिथ्या है, दंभ है। उन्होंने ऐसा कहकर लोगों को भ्रम में डाल रक्खा है।

इन्द्रियों से निराश होकर मन के पास पहुँचे। मन से कहा—तेरी गति सर्वत्र मानी जाती है। तू बहुत तेज दौड़ता है। क्षण मे स्वर्ग में तो दूसरे क्षण पाताल में जा सकता है। तू सूक्ष्म है। तेरी गति में कोई रुकावट नहीं डाल सकता। तू तो अनन्त-नाथ भगवान् का पता दे। मन बेचारा गया, दूर तक गया। और उसने लौटकर उत्तर दिया—मैं वहाँ तक तो नहीं पहुँच सकता। मेरी गति वहाँ तक नहीं है।

मन बुद्धि वाणी तो विषे,
पहुँचे नाहिं लिगार।
साक्षी लोकालोक नो,
निर्विकल्प निरविकार ।।अनन्त०।।

अर्थात्—हे प्रभो ! मन, बुद्धि और वाणी तेरे पास तक नहीं पहुँच सकते।

मन इन्द्रियो द्वारा जाने हुए पदार्थों को ही ग्रहण करता है और परमात्मा इन्द्रियों का अगोचर है। ऐसी स्थिति में वह परमात्मा को जान ही नहीं सकता।

मन से निराश होकर बुद्धि के घर आते हैं और उससे परमात्मा के विषय में जानना चाहते हैं तो वह भी टका-सा जवाब दे देती है। वह इतनी मन्द है कि संसार के तर्क-वितर्कों में ही पड़ी रहती है। उसे परमात्मा का क्या पता ? सूत्र में कहा है :—

तक्का तत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया।
—श्री आचारांग सूत्र।

उस परम तत्त्व तक तर्क नहीं पहुँचता और मति भी वहाँ प्रवेश नहीं करती। वह परम तत्त्व तर्क और बुद्धि से परे है।

आप कहेंगे—तब तो परमात्मा को समझना और भी कठिन हो गया! मगर मैं कहता हूँ—कठिन नहीं, सरल हो गया। मैं पूछता हूँ—इन्द्रियों से, मन से और बुद्धि से काम लेने वाला कौन है?

'आत्मा!'

इन सबको चलाने वाले आत्मा—जो इस शरीर में विराजमान है—इसका और भगवान् अनन्तनाथ का स्वरूप एक है। तुम भ्रम में क्यों पड़ते हो?

फिर उससे मिलन कैसे हो? आप अपनी बुद्धि को, मन को और इन्द्रियों को अलग करके आत्मा और परमात्मा के एकत्व का सुदृढ़ संकल्प कीजिये। परमात्मा अवश्य मिल जायगा।

इतने विवेचन से यह तो सिद्ध हुआ कि परमात्मा, आत्मा के द्वारा ही मिल सकता है, इन्द्रियों या मन से नहीं।

इन्द्रियों को अलग कर देने का अभिप्राय यह नहीं है कि आँखें फोड़ ली जाएँ या कान मूँद लिये जाएँ। इन इन्द्रियों के बहकाने में न आना ही इन्द्रियों को अलग कर देना है। इन्द्रियाँ किस प्रकार बहकाती हैं, यह समझ लीजिए।

आप इन्द्रियों के स्वामी हैं या दास हैं? आप भले चुप हों, मगर उत्तर देंगे तो यही देंगे हम स्वामी हैं। अगर आप इन्द्रियों के सचमुच स्वामी हैं तो जीभ से कहिए कि तू परमात्मा

का भजन किया कर। कान से कहिए तू परमात्मा का भजन सुन। मन से कह दीजिए कि तू इन्द्रियों को बहका मत।

बेचारी इन्द्रियाँ भी क्या करें? उनको बहकाने वाला भी तो मन है। अगर आप कहते हैं कि—हाँ, बात बुरी है। हम जानते हैं, किन्तु छूटती नहीं। तो आप मन के गुलाम ही हुए न? तुम मन के स्वामी हो या मन तुम्हारा स्वामी है, अब यह विचार देखो। इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त लीजिए:—

किसी बादशाह के पास एक दिलखुश गुलाम था। बादशाह को हमेशा खुश रखना उसका काम था। गुलाम ने बादशाह को ऐसा मोहित किया कि बादशाह उसी के अधीन हो गया। गुलाम समझ गया कि बादशाह मेरे अधीन हो गया है। मैं इसे जैसा नचाऊँगा यह नाचेगा। यह विचार कर गुलाम एक दिन रूठ गया। भक्त तुकाराम ने कहा है:—

रुसला गुलाम, धणी करितो सलाम।
त्याला पै तारचा चे काम, अधमा सी अधम।

अधम से अधम गुलाम के रूसने पर बादशाह उसे सलाम करे तो हम लोग उसकी आलोचना करें या नहीं?

'हाँ!'

बादशाह उस दिलखुश गुलाम को मनाने गया। गुलाम बादशाह को आया देख और अधिक रूठ गया। बादशाह कहने लगा—बेटा, प्यारे, तू नाराज क्यों है? मैं तुझे रूठा नहीं देख सकता। तू जो कहे, देने को तैयार हूँ।

गुलाम ने सोचा—रूठने से मान बढ़ता है। वह और ज्यादा रूठ गया। बादशाह ने उसे अपनी गोद में बिठलाया और अपने गले का कंठा उसके गले मे पहना दिया। फिर कहा—जा, अमुक-अमुक गाँव जागीरी में देकर तुझे नवाब बनाया। गुलाम ने विचार किया—इतना रूसने से नवाब बन गया तो थोड़ा और रूसने पर शायद बादशाह बन जाऊँगा!

इस प्रकार बादशाह गुलाम को समझा रहा है और गुलाम अकड़ता ही जा रहा है। उधर वज़ीर जब दरबार मे आया तो उसने तख्त खाली देखकर किसी सरदार से बादशाह के विषय मे पूछा। उसे मालूम हुआ कि बादशाह सलामत गुलाम को मनाने गये हैं। वज़ीर को बादशाह की बुद्धि पर तरस आया और वह बादशाह के पास पहुँचा। बादशाह ने वज़ीर से कहा—देखो, यह रूस गया है। मैंने जागीर देने तक के लिए कह दिया, फिर भी यह राजी नहीं होता।

वजीर बोला—बादशाह सलामत, यह जिस बात से समझने वाला है, वह बात मुझे मालूम है। आप चलकर तख़्त पर बैठिये। मैं इसे अभी समझाये देता हूँ। यह अभी खुश हो जायगा और आपके पैरों में पड़ेगा।

गुलाम मन ही मन कहने लगा—चला है मुझे समझाने! मैं समझूँगा ही नहीं। देखें यह क्या करता है।

बादशाह चला गया। इधर वज़ीर ने हाथ मे कोड़ा लेकर कहा—बोल, समझता है कि नहीं? मगर गुलाम तो गुलाम ही ठहरा। जब बादशाह से ही न समझा तो सीधी तरह वज़ीर से कब समझने वाला था? जब वज़ीर ने देखा कि यह

यों न मानेगा तो उसने कोड़े फटकारने शुरू किये। वज़ीर कोड़ा मारता जाता था और कहता जाता था कि खुश हो; खुश हो। खबरदार जो रोया! तू खुश होकर बादशाह के पास चल और उनसे कह दे कि मैं खुश हूँ।

कोड़े खाकर गुलाम की अक्ल ठिकाने आ गई। वह बादशाह के पास दौड़कर गया और कहने लगा—मैं बहुत खुश हूँ।

बादशाह ने वज़ीर की प्रशंसा करके पूछा—तुमने इसे क्या दिया?

वज़ीर—इसे जिस चीज़ की आवश्यकता थी वही।

बादशाह—उसका कुछ नाम भी तो होगा?

वज़ीर—यह गुलाम हैं। खुशामद करने से सिर चढ़ते और बिगड़ते हैं। उन्हे कोड़ो की जरूरत रहती है। कोड़े देने से यह खुश हो गया।

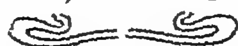
बादशाह—दरअसल मैं ने गलती की थी।

आप यह तो समझ गये होंगे की गुलाम के रूसने पर बादशाह को उसे मनाने की आवश्यकता नहीं थी। मगर इस दृष्टान्त के असली आशय पर आप ध्यान दीजिए। आपका मन आपका गुलाम है और आप बादशाह है। यह मन आपको सलाम करे या आप मन को सलाम करें? कौन किसके आगे घुटने टेके?

मराठी भाषा में जो कविता कही थी, उसका अर्थ समझाने को बहुत समय की आवश्यकता है। सिर्फ इतना कहना

चाहता हूँ कि आप मन के गुलाम बनकर सुख-चैन चाहते हैं। आपसे रंग-रंगीले चश्मों की और बीडी-सिगरेट आदि की भी गुलामी नहीं छूटती है। आखिर इस गुलामी को कहाँ तक भुगतोगे, कुछ पता है? बीडी पीने से ताकत आती है? देश या समाज का कुछ भला होता है? आप कहेंगे—नहीं, पर मन नहीं मानता। तो आप मन के गुलाम ही हुए न? अगर आज बीड़ी पीने का त्याग करने की हिम्मत करो तो मैं समझूँगा कि मन की थोड़ी-सी गुलामी तो छोड़ी! *

मित्रो! ऐसी बातें छोटी मालूम होती हैं, पर गहराई से विचार करो तो मालूम होगा कि यह आपकी कसौटी है। जो पूरी तरह मन का गुलाम है उसकी आत्मा किस प्रकार शुद्ध हो सकती है? मन की गुलामी के कारण आज बोलने-चालने और खाने-पीने तक का भान नहीं रह गया है। यह खट्टे-मीठे और चरचरे बाजारू पदार्थ आप इसी गुलामी के वशीभूत होकर ही खाते हैं। इन्हें खाकर ब्रह्मचर्य का पालन कैसे किया जा सकता है? अगर आप स्वादों की गुलामी छोड़ें, तो मन की गुलामी छूटे और मन की गुलामी छूटे तो मन वशीभूत हो। मन वशीभूत हो तो आत्मा का चिन्तन करने की भावना उत्पन्न हो और तब परमात्मा की पहिचान हो। अगर आप इतना कर लें तो परमात्मा को पहचानना तनिक भी कठिन न होगा। अपने आपको सही रूप में पहचान लेना ही परमात्मा को पहचान लेना है। आपमें यह शक्ति आवे, यही मेरी शुभ कामना है।



* बहुत-से श्रोताओं ने हाथ ऊँचे करके बीड़ी पीने का त्याग करने की सूचना दी।

१५ श्री धर्मनाथजी

प्रार्थना ।

धरम जिनेश्वर मुझ हिवडे बसो, प्यारो प्राण समान ।
कबहुँ न विसरूँ हो चितारूँ नहीं, सदा अखंडित ध्यान ॥ १ ॥

ज्यूँ पनिहारी कुम्भ न विसरे, नटवो नृत्य निदान ।
पलक न विसरे हो पदमनी पियु भणी, चकवी न विसरे भान ॥ २ ॥

ज्यूँ लोभी मन धन की लालसा, भोगी के मन भोग ।
रोगी के मन मानो औषधी, जोगी के मन जोग ॥ ३ ॥

इण पर लागी हो पूरण प्रीतड़ी, जावे जीव परियन्त ।
भव-भव चाहूं हो न पड़े आंतरो, भव भंजन भगवंत ॥ ४ ॥

काम-क्रोध मद मत्सर लोभथी, कपटी कुटिल कठोर ।
इत्यादिक अवगुण कर हूं भर्यो, उदय कर्म के जोर ॥ ५ ॥

तेज प्रताप तुम्हारो प्रगटे, मुज हिवड़ा में आय ।
तो हूं आतम निज गुण संभालने, अनन्त बली कहिवाय ॥ ६ ॥

'भानू' नृप 'सुव्रता' जननी तणो, अङ्गजात अभिराम ।
'विनयचन्द' ने वल्लभ तू प्रभु, सुध चेतन गुण धाम ॥ ७ ॥



धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े वसो,
प्यारा प्राण समान

वास्तव में प्रेम के विना कोई काम नहीं हो सकता। प्रेम के प्रभाव से कठिन से कठिन काम सरल हो जाते हैं और प्रेम के अभाव में छोटा-सा काम भी पहाड़ सरीखा जान पड़ता है। प्रेम के विना भक्ति-मार्ग मे भी प्रवेश करना कठिन है। अतएव आज प्रेम के सम्बन्ध मे ही कुछ विचार प्रकट किए जाते हैं।

प्रेम ने ससार में क्या-क्या क्रान्तियाँ की हैं, इसने कैसे-कैसे विकट मार्गों को सरल बना दिया है, इसके उदाहरण कम नहीं हैं। शास्त्र के उदाहरणों को तो लोग प्रायः यों ही उड़ा देते हैं, परन्तु प्रेम के प्रखर विचार के उदाहरण इतिहास में भी कम नहीं हैं। आधुनिक समय के भी ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनसे प्रतीत होगा कि प्रेम के कारण कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं।

एक अत्यन्त सुकुमार स्त्री का वन में जाना क्या सरल कार्य है ?

'नहीं !'

परन्तु प्रेम के प्रभाव से वन को जाना भी उसे आनन्ददायक मालूम हुआ और घर मे रहना अग्नि में रहने के समान जान पड़ा। राम को वन मे जाना आवश्यक था, मगर सीता को किसी ने वन जाने के लिए नहीं कहा था। बल्कि कौशल्या के कहने पर राम ने सीता को समझाया भी था कि तुम घर पर ही रहो। मगर सीता को राजप्रासाद अग्नि के समान संतापजनक और वन स्वर्ग के समान सुखदायी प्रतीत हुआ।

प्रेम की लीला निराली है। पर भोग की गन्दी प्रथा का नाम प्रेम नहीं है। प्रेम एक अलौकिक वस्तु है। जिसके हृदय में प्रेम होता है वह सुख को तिलांजलि दे देता है और दुःख को प्रिय मानता है। इसी कारण कवि ने कहा है—

अद्भुत अनूप ऐसी यह प्रेम की कली है,
दुर्गम विपिन के कष्टों को इसने सुख बनाया।
दमयंती द्रौपदी ने सीता ने है लखाया,
सीने पै शैल सहकर सौमित्र ने बताया।
भाई के हेतु जिसने निज प्राण तन लगाया,
मिलती उसे सजीवन क्या मौत की चली है,
अद्भुत अनूप ऐसी यह प्रेम की कली है॥

इस कविता पर पूरी तरह विचार किया जाय तो वह बहुत लम्बा होगा। इस समय सिर्फ इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस प्रेम की कली ने वन के घोर दुःखों को आनन्द की लहर के रूप में परिणत कर दिया है। द्रौपदी, सीता, मदनरेखा और कमलावती को इसी कली ने मुग्ध बनाया था। उन पर प्रेम का रंग छा गया था। इस कारण इन्हे सब दुःख, सुख हो गये।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा का नाम प्रेम से लेना चाहिए, बाजारू तौर से नही अर्थात् लौकिक स्वार्थ से नहीं। यह प्रेम अलौकिक वस्तु है। यह बाजारू भाव से नहीं मिल सकता। इसे वही पा सकता है जो शीष उतार कर रख सकता है।

प्रेम न वाड़ी नीपजे, प्रेम न हाट विकाय।
शीश उतार्या वो मिले, दिल चाहे ले जाय॥

प्रेम न किसी बगीचे मे पैदा होता है और न बाजार में बिकता है। प्रेम प्रेमी के हृदय में उत्पन्न होता है। वह उसी को ...ती है जो अपने जीवन को उस पर न्यौछावर कर दे।

आप कहेंगे प्रेम क्या भैरव देव है जो जीव की बलि लेता है? नहीं, प्रेम में यह बात नहीं है। प्रेम केवल परीक्षा लेता है कि अगर तुझे अपने शरीर से मोह नहीं है तो मेरे पास आ। प्रेम सिर को काट कर पृथक् करने के लिए नहीं कहता है, वह सिर्फ यही आदेश देता है कि तुम्हारे सिर पर पाप रूपी जो सुख है उसे उतार कर फैंक दो! मैं ने अभी जो प्रार्थना की है, वह समझने योग्य है।

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवडे वसो, प्यारा प्राण समान।
कबहुं न विसरूँ चितारूँ नहीं, सदा अखण्डित ध्यान।

अर्थात्—मुझको और किसी चीज की जरूरत नहीं है, केवल तू अखण्ड रूप से मेरे हृदय में बस। हे धर्मजिनेश्वर! तेरा ध्यान कभी भंग न हो। तेरी याद न भूल जाय, इस तरह से मेरे हृदय में तू बस। मैं यह नहीं चाहता कि तू केवल माला फेरने के समय मुझे याद आए। मैं चाहता हूँ कि तेरा कभी स्मरण ही न करना पड़े। जब तू कभी विस्मृत ही न होगा तो स्मरण करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख मांय।
मनडा तो चहुं दिशि फिरे, यह तो सुमिरन नाय।

माला कहीं फिर रही है और मन कहीं फिर रहा है। पर ईश्वर इस प्रकार नहीं मिलता और न यह ईश्वर-स्मरण ही कहला सकता है।

भक्त कहते हैं—जैसे सांसारिक जीवों की प्रीति संसार के पदार्थों पर होती है, ऐसी ही प्रीति मैं तुझ पर रक्खूँ। जब तक तेरे से मुझे यह नहीं मिलेगा, मैं तुझे छोड़ूंगा नहीं।

ज्यों पनिहारी कुम्भ न विसरें, नटवो वृत्त निधान।

मैं पहले भी कह चुका हूँ कि पनिहारी सिर पर घड़े रखे होती है, फिर भी पैर में चुभा हुआ काँटा निकाल लेती है। क्या मजाल कि घडा गिर जाय! इसे कहते हैं अखण्ड ध्यान! भक्त जनों की भावना यही रहती है कि हमारे पीछे भले दुनियादारी के झगड़े बने रहे, पर मेरा अनन्य ध्यान पनिहारी की तरह तुझ पर ही केन्द्रित रहे।

दत्तात्रेय ने चौवीस गुरु किये थे। अर्थात्—चौवीस जगह से शिक्षा प्राप्त की थी। एक जगह वे भिक्षा लेने गये। वहाँ एक लड़की ऊखल में चावल कूट रही थी। एक हाथ मे मूसल लेकर वह चावल कूटती जाती थी और दूसरे हाथ से ऊखल में पड़े हुए चावलों को चलाती जाती थी। इतने मे उसका छोटा भाई रोता हुआ वहाँ आया। लड़की ने चावल कूटना जारी रक्खा और उसे मुँह से मीठी-मीठी बातें कह कर चुप कर दिया। वह एक हाथ चावल कूटती है, दूसरे हाथ से चावल चलाती है और मुँह से भाई को प्यार की बातें कह कर बहलाती है। पर क्या मजाल कि उसके दूसरे हाथ को मूसल से कोई चोट पहुँच सके! दत्तात्रेय ने लड़की का यह हाल देखकर सोचा-ध्यान में यह लगती है या मै लगता हूँ? यह काम करती हुई भी मूसल पर कैसा ध्यान जमाये है! अगर मेरा ध्यान परमात्मा से इसी तरह लगा जाय तो मेरा कल्याण हो जाय।

अपने यहाँ भी कहा है—

ज्यों पनिहारी कुम्भ न विसरे, नटवो वृत्त निधान।

नट को देखो। दोनों पाँव थाली पर रख कर मुँह और हाथ में तलवार पकड़े हुए रस्सी पर चढ़कर बाँस पर थाली चढ़ाते-चढ़ाते जाता है और बांस पर नाभि को टिकाकर कुंभार के चाक की तरह घुमता है। वह न अपने हाथ-पाँव आदि किसी अंग को कटने देता है और न बांस से गिरता है। भक्त जनों का कथन है कि जैसे नट का ध्यान बांस पर लगा रहता है, इसी तरह मेरा ध्यान तुझमें लग जाय !

मित्रो ! परमात्मा के ऐसे ध्यान के भूखे हम भी हैं। आप भी इसकी आकांक्षा रक्खो। इस पर किसी का ठेका नहीं है। कौन जाने किसे इसकी प्राप्ति हो जाय ? जिसमें प्रबल भावना होगी वही इसे पा लेगा।

पलक न विसरे हो पदमणी पिऊ भणी,
चकवी न विसरे भाण * ॥

भक्त कहते हैं कि हमारा प्रेम परमात्मा से ऐसा हो जैसा पतिव्रता स्त्री का प्रेम अपने पति से होता है। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री खाना-पीना, पहनना आदि गृहकार्य करती हुई भी अपने पति को विस्मृत नहीं करती, बल्कि उसके अन्तःकरण से निरन्तर पतिप्रेम की विमल धारा प्रवाहित होती रहती है, इसी प्रकार मेरे हृदय से भी परमात्मप्रेम का पावन प्रवाह बहता रहे। एक क्षण के लिए भी वह प्रवाह बंद न हो—क्षण भर भी मैं परमात्मा को विस्मृत न होने दूं।

पतिव्रता अपने पति को किस प्रकार चाहती है, इसकी साक्षी जड़ पदार्थ भी देने लगते हैं। सीता ने अपनी अग्निपरीक्षा

* भाण (भानु)—सूर्य।

के समय अग्नि से कहा था—'हे अग्नि ! तेरा स्वभाव भस्म करने का है। अगर मेरे हृदय से राम का ध्यान दूर हुआ हो, और दूसरे पुरुष को मैंने पुरुष के रूप में देखा हो तो तू मुझे जलाकर भस्म कर दे।' पर क्या अग्नि ने सीता को जलाया ?

'नहीं।'

बल्कि उसने साक्षी दी कि तेरा पतिव्रत धर्म अखंडित है। सीता की आज्ञा को पतिव्रत धर्म के प्रभाव से अग्नि ने स्वीकार किया। जब पतिप्रेम की यह सीमा है तो परमात्मा के प्रेम की क्या सीमा होनी चाहिए ?

पतिव्रता स्त्रियाँ यह नहीं सोचतीं कि पति की याद में ही बैठी रहे तो संसार कैसे चलेगा ? ऐसा सोचकर वे पतिप्रेम से वंचित नहीं रहतीं। इसी प्रकार आप भी परमात्मा के प्रेम में डूब जाओ। संसार के कार्यों का जो होना होगा, हो जायगा।

पर लोगों में इतनी आस्था नहीं है। वे सोचते हैं—ईश्वर के प्रेम में लगे रहें तो फिर संसार का कार्य कब और कैसे करें ? मगर जो लोग ऐसा सोचते हैं वे ईश्वरप्रेम की महिमा समझ ही नहीं सके हैं। क्या अपने पति में निरन्तर निष्ठा रखने वाली पतिव्रता के घर का कोई काम बिगड़ जाता है ? उसका घर उजड़ जाता है ?

'नहीं।'

क्यों ? उसे विश्वास है कि मेरा ध्यान पति में रहने से मेरा घर सुधरेगा। सुना है, अमेरिका में एक महिला प्रेम का ही रूप है। वह यद्यपि ८० वर्ष की हो चुकी है तथापि उसके

बाल काले ही हैं और वह ३०-३५ वर्ष की जान पड़ती है। ऐसा होने का कारण हो सकता है—एकनिष्ठा। आपका शरीर असमय में ही नष्ट क्यों हो रहा है? इसलिए कि आप एकनिष्ठा नहीं रखते। एकनिष्ठ प्रेम से संसार बिगड़ नहीं सकता। पति-व्रता स्त्री अपने पति में एकनिष्ठ प्रेम रखती है और वह अपने गृह का कार्य भी व्यवस्थित रखती है। अगर वह बिखरे मन से काम करे अर्थात् एकनिष्ठ न रह सके तो शायद ही ऐसा कर सके।

एकनिष्ठा के कारण तेज भव्य हो जाता है। एकनिष्ठा रखने वाले की दृष्टि मात्र से रोग भड़ जाते हैं। लक्ष्मण को जब शक्ति लगी थी तो सब ने यही सलाह दी थी कि विशल्या के स्नान का जल इन पर छिड़क दिया जाय तो मूर्छा दूर हो जायगी। विशल्या से जब यह कहा गया तो वह स्वयं आई और उसने लक्ष्मण की सेवा की। उसका हाथ लगते ही शक्ति भाग गई। अब बताइए, शक्ति बड़ी रही या प्रेम बड़ा रहा?

'प्रेम!'

जब पति के प्रेम में डूब जाने से भी इतना चमत्कार आ जाता है तो ईश्वर-प्रेम में कितना चमत्कार होना चाहिए? फिर एकनिष्ठा रखने से संसार कैसे बिगड़ जायगा? अरे! संसार तो उसी समय सुधर जायगा जिस समय ईश्वर से एक-निष्ठ प्रेम होगा।

अब इस प्रार्थना के अगले भाग पर ध्यान दीजिए:—

चकवी न बिसरे भाण।

चकवी को सूर्य के प्रकाश के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रकाश नहीं रुचता। इसका कारण है, सूर्य के प्रति उसका एकनिष्ठ प्रेम। आपका सूर्य के प्रति एकनिष्ठ प्रेम नहीं है, इसलिए आपको बिजली की आवश्यकता पड़ती है। आप यह नहीं सोचते कि बिजली से आपके स्वास्थ्य को कितनी हानि पहुँचती है। आपको भवका चाहिए, इस कारण सूर्य के प्रकाश से आपको सन्तोष नहीं है। भक्त लोग कहते हैं कि जैसे चकवी सूर्य के प्रकाश के सिवाय दूसरा प्रकाश नहीं चाहती, उसी प्रकार मैं तेरे सिवाय और किसी को न चाहूँ।

लोभी के मन धन की लालसा।

जिस प्रकार लोभी को 'भज कल्दार' का ही ध्यान रहता है, इसी प्रकार हमारी आत्मा का ध्यान तुझमें ही रहे। जैसे लोभी का चक्रवृद्धि व्याज चलता है, ऐसे ही मेरा ध्यान तुझ पर चलता रहे। अर्थात् जैसे चक्रवृद्धि व्याज बन्द नहीं होता, ऐसे ही मेरा ध्यान तेरी ओर से बन्द न हो।

भोगी के मन भोग।

जैसे भोगी को भोगों की ही तृष्णा लगी रहती है, टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी वह भोगों को नहीं छोड़ना चाहता, इसी प्रकार भले मेरे टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ, परन्तु तुझसे प्रेम न हटे।

रोगी के मन मानै औषधि।

बीमार को दवा दो तो बुरी लगेगी ?

'नहीं।'

बल्कि उसे प्यारी लगेगी। औषध लेकर वह शान्ति पाता है। औषध उसे शान्तिदायक प्रतीत होती है। इसी प्रकार भक्त जन कहते हैं—हे प्रभो! तू मेरे लिए शान्ति-रूप बन जा। जैसे रोगी को दवा प्यारी लगती है, ऐसे ही तू मुझे प्रिय लग।

जोगी के मन जोग।

जिस प्रकार योगी समाधि में लीन होकर किसी और की याद नहीं करता इसी प्रकार तू मुझे याद रह।

भक्तों ने भगवान् से यह प्रार्थना की है। प्रार्थना सबकी एक है। आप सब मेरे साथ बोलिए :—

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवडे बसो,
प्यारा प्राण समान ॥

[ख]

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवडो बसो।

भगवान् के अनेक नामों में से कोई-सा भी नाम लेकर प्रार्थना की जाय, उसका प्रयोजन तो परमात्मपद की प्राप्ति करना ही होता है। परमात्मपद कहाँ से आता है और कैसे प्राप्त होता है, यह समझ लेने की आवश्यकता है। मैं कह चुका हूँ कि परमात्मा कहीं दूर नहीं है। उसे खोजने के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता भी नहीं है। परमात्मा का मन्दिर कहाँ है, यह और कहीं न खोज कर आत्मा में ही खोजो। इन्द्रियाँ अल्प हैं और इनका स्वामी—इन्द्र अर्थात् आत्मा महान है। महान शक्ति को पहचानने के लिए अल्पशक्ति पर ध्यान देना पड़ता है। परन्तु आत्मा महाशक्ति है, इसका पता कैसे लगे?

मैंने रसायन जानने वालों से सुना है कि शक्कर का एक तोला सत तीन सौ या पाँच सौ तोला शक्कर की मिठास के बराबर होता है। लोग समझते होंगे कि शक्कर का वह सत शक्कर से निकाला गया होगा। परन्तु वास्तव में वह शक्कर से नहीं निकाला जाता, बल्कि एंजिन आदि मे जले हुए कोयले की जो राख फैंक दी जाती है, उससे निकलता है। एक जर्मन डाक्टर रसायन खोज रहा था। उसने इस कूड़े-करकट की छान-बीन की कि इसमें भी कोई वस्तु है या नहीं? संयोग से उसी कूड़े-करकट में से शक्कर का सत निकला। डॉक्टर को पता नहीं था कि इसमें से शक्कर का सत निकला है। वह यों ही भरे हाथों भोजन करने बैठा। रोटी उसे मीठी लगी। उसने पूछा—क्या रोटी मे मीठा मिलाया है? रसोइये ने कहा—नहीं तो, जैसी रोटियाँ रोज बनाता हूँ वैसी ही आज भी बनाई हैं। डाक्टर ने अपना हाथ चाटा तो उसे अपना हाथ मीठा लगा। उसने हाथ धोकर फिर चाटा तो हाथ फिर भी मीठा लगा। तब डाक्टर समझ गया कि इस कचरे में रसायन है। उसने जाकर अनुसन्धान किया तो वह शक्कर का सत निकला। क्या आप अनुमान कर सकते हैं कि कूड़ा-करकट में मिठास मौजूद है।

'नहीं।'

कूड़े-करकट को चखने से मिठास मालूम होती है?

'नहीं'!

परन्तु रासायनिक विश्लेषण से विदित हुआ कि उसमें भी मिठास है। इसी प्रकार आत्मा की खोज करने की आवश्यकता। उसमें परमात्मा अवश्य मिलेगा।

आँख, कान आदि को इन्द्रिय-प्राण कहा जाता है। पर ये बिखरे हुए हैं। जब इस बिखरी हुई अल्प शक्ति के द्वारा इतना आनन्द मिलता है तो इनके स्वामी इन्द्र में कितनी शक्ति होगी और उसके द्वारा कितना आनन्द प्राप्त होगा, इसका विचार तो करो! आप लोग राख अर्थात् इन इन्द्रियों पर ही प्रसन्न हो गये हैं, परन्तु इस राख के भीतर विद्यमान रसायन अर्थात् आत्मा को नहीं पहचान सके हैं। परमात्मा को आप पुकारते हैं, उसे पहचानना चाहते हैं, परन्तु खोजते नहीं हैं। यदि इन्द्रियों को वश में करके, इन्द्रियों के स्वामी आत्मा को पहचानने का काम करो तो परमात्मा से भी पहचान हो जाय।

मैं कह चुका हूँ कि आत्मा स्वामी है और इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि उसके सेवक हैं। आत्मा की आज्ञा से इन्द्रियाँ काम करती हैं। आँखें देखने का काम करती हैं, परन्तु देखने-देखने में बड़ा अन्तर है। कोई नाटक और सिनेमा में रात बिताते हैं और दूसरे, जो आत्मा के खोजी हैं, इन्द्रियों के स्वरूप को भूल कर अद्भुत आत्मा का रूप देखते हैं। रात में जगते दोनों हैं और देखते भी दोनों हैं, पर एक नाटक देखता है और दूसरा ईश्वर को देखता है। आप इन दोनों में से किसे देखना पसन्द करते हैं?

'ईश्वर को'

लोग चाहते यही हैं, परन्तु मक्खी को मिश्री की डली मिल जाने पर भी वह न-मालूम क्यों अशुचि पर चली जाती है?

आप यह न समझ लें कि इन्द्रियों से ईश्वर देखा जा सकता है। ईश्वर इन्द्रियों से नहीं मिलेगा, बल्कि इन्द्रियों को वश में करने से मिलेगा। सर्वप्रथम यह निश्चय कर लेना चाहिए

कि परमात्मा हमारे हृदय-मन्दिर में ही बसता है और सच्चे तत्त्वों को पहचानने से ही वह दिखाई दे सकता है। गीता में कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु .।

इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय अलग-अलग वस्तुएँ हैं। ठंडी या गर्म वस्तु अलग है और उसका स्पर्श करने वाली इन्द्रिय अलग है। अब दोनों में बड़ा कौन है ?

'इन्द्रिय !'

शास्त्र कहता है कि स्पर्श से, इन्द्रिय बड़ी है और इन्द्रिय से मन बड़ा है। मन बहुत चालाक है और यही इन्द्रियों को इधर-उधर लगाता है। परन्तु इस मन से भी बडी बुद्धि है और बुद्धि से भी जो परे है वह आत्मा और ईश्वर एक है।

आप मुँह से तो कहते हैं कि पदार्थ छोटे और इन्द्रिय बड़ी है, परन्तु वास्तव मे आप लोग पदार्थ को बड़ा समझकर उन्हीं को प्रधानता देते हैं। आप पदार्थों को इन्द्रिय से तुच्छ समझते हो, यह जानते हो कि यह पदार्थ इन्द्रियों से कम कीमती हैं, इनके खाने, सूंघने और देखने आदि से इन्द्रियों का नाश होगा, फिर भी पदार्थों के पीछे लगे रहते हो। तुच्छ के बदले महान् का नाश करते समय आपका विवेक कहाँ चला जाता है ? कालीदास कवि ने कहा है—

अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्,
विचारमूढ़: प्रतिभासि मे त्वम्।

अर्थात्—जो अल्प के लिए बहुत का नाश करता है वह मूढ़ है।

व्यवहार मे आप मान लेते हैं कि आत्मा की चाहे जो गति हो, हमें तो गहने और कपडे बढ़िया मिलने चाहिए। इन चीज़ों के लिए नरक जाना पडे तो भी कोई परवाह नहीं।

आप हीरे की अपेक्षा कान को बडा समझते हैं, फिर भी अगर हीरों के लिए कानों को नष्ट करो तो आपको क्या समझा जाय ? आप नहीं जानते कि हम अपने ही हक़ में क्या कर रहे हैं, इसी से भ्रम में पड़े हुए हैं। आपने आत्मा को विस्मृत करके इन्द्रिय, मन और बुद्धि को खान-पान आदि मे लगा रक्खा है। इसी कारण परमात्मा को पहचानने में भूल हो रही है।

मेरा आशय यह नहीं है कि भोजन किया ही न जाय। धर्म और भक्ति की साधना के लिए शरीर की रक्षा आवश्यक है और वह भोजन के बिना नहीं हो सकती। मगर खाने का उद्देश्य सही होना चाहिए। कई लोग खाने के लिए जीते हैं और कई जीने के लिए खाते हैं।

इनमें से आप किसे अच्छा समझेंगे ? निस्सन्देह आप जीने के लिए खाने वाले को अच्छा समझेंगे। इसका आशय यही हुआ कि भोजन करने का उद्देश्य जीवन को कायम रखना ही होना चाहिए। परन्तु आज उलटी ही बात दिखाई दे रही है। तरह-तरह की मिठाइयाँ चटनियाँ और आचार आदि का आविष्कार किस उद्देश्य से हुआ है ? इसीलिए तो कि लोग खाने के लिए जी रहे हैं और इन चीज़ों के सहारे खूब खाया जा सकता है।

कपड़ों के विषय में भी यही बात दिखाई देती है। शरीर की रक्षा के बदले आज कपड़े शृङ्गार के साधन बन गये हैं।

ऐसी बहिर्दृष्टि जब तक आपकी बनी रहेगी तब तक आप अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकते। अगर आप इन्द्रियों को और मन को वश में करोगे, इन्हे पदार्थों से श्रेष्ठ मानोगे तो आत्मा प्रसन्न रहकर गति पकड़ेगी।

जिस हृदय मे काम, क्रोध, मोह, मात्सर्य आदि का निवास है, उसमें परमात्मा का ध्यान नहीं टिक सकता। आप चौबीस घंटों में एक भी खोटा विचार न आने दीजिए और पन्द्रह दिनों तक ऐसी ही सावधानी एवं सतर्कता रखिए। फिर देखिए कि आत्मा मे कैसी शक्ति आती है! जब तक मन की बिजली बिखरी रहेगी, परमात्मा नहीं मिलेगा। अतएव मन की बिजली को एकत्रित करो। अगर यह सोचते होओ कि मन को स्थिर रखने के लिए कोई अवलम्बन होना चाहिए, तो मैं कहता हूँ–

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े वसो,
प्यारा प्राण समान



१६ श्री शान्तिनाथजी



प्रार्थना।

'विश्वसेन' नृप 'अचला' पटरानी, तस सुत कुल सिणगार हो सुभागी।
जनमत शान्ति करी निज देश में, मरी मार निवार हो सुभागी ॥१॥

शान्ति जिनेश्वर साहिब सोलमां, शान्तिदायक तुम नाम हो सुभागी।
तन मन वचन सुध कर ध्यावतां, पूरे सघली आस हो सुभागी ॥२॥

विघन न व्यापे तुम सुमरन कियां, नासे दारिद्र दुःख हो सुभागी।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि पग-पग मिले, प्रगटे सघला सुख हो सुभागी ॥३॥

जेहने सहायक शान्ति जिनन्द तू, तेहने कमीय न काय हो सुभागी।
जे-जे कारज मन में तेवडे, ते-ते सफला थाय हो सुभागी ॥४॥

दूर दिसावर देश प्रदेश में, भटके भोला लोग हो सुभागी।
सानिधकारी सुमरन आपरो, सहज मिटे सहू शोक हो सुभागी ॥५॥

आगम-साख सुणी छे एहवी, जे जिण-सेवक होय हो सुभागी।
तेहनी आशा पूरे देवता, चौसठ इन्द्रादिक सोय हो सुभागी ॥६॥

भव-भव अन्तरजामी तुम प्रभु, हमने छे आधार हो सुभागी।
चेकर जोड "विनयचन्द" विनवे, आपो सुख श्री कार हो सुभागी ॥७॥



विश्व के असंख्य प्राणी निरन्तर प्रवृत्ति में रत रहते हैं। अगर सामान्य रूप से उनकी प्रवृत्तियों के मूल उद्देश्य को खोजा जाय तो इसी परिणाम पर पहुँचना होगा कि सभी प्राणी शान्ति प्राप्त करने के एक मात्र ध्येय की पूर्ति करने के लिए उद्योग में लगे हैं। जिसके पास धन नहीं है या कम है वह धनप्राप्ति के लिए आकाश-पाताल एक करता है। जिसे मकान की आवश्यकता है वह मकान खड़ा करने के लिए नाना प्रयत्न करता है। जिसके हृदय में सत्ता की भूख जागी है वह सत्ता हथियाने की चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार प्राणियों के उद्योग चाहे भिन्न भिन्न हों पर उन सबका एक मात्र उद्देश्य शान्ति प्राप्त करना ही है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश प्राणी वास्तविक ज्ञान न होने के कारण ऐसे प्रयत्न करते हैं कि उन्हे अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप शान्ति के बदले उलटी अशान्ति ही प्राप्त होती है, लेकिन अशान्ति कोई चाहता नहीं। चाहते हैं सभी शान्ति।

शान्ति के लिए प्रयत्न करने पर भी अधिकांश प्राणियों को अशान्ति क्यों प्राप्त होती है, इसका कारण यही है कि उन्होंने शान्ति के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझा है। वास्तविक शान्ति क्या है? कहाँ है? उसे प्राप्त करने का साधन क्या है? इन बातों को ठीक-ठीक न जानने के कारण ही प्रायः शांति के बदले अशान्ति पल्ले पड़ती है। अतएव यह आवश्यक है कि भगवान् शांतिनाथ की शरण लेकर शांति का सच्चा स्वरूप समझ लिया जाय और फिर शांति प्राप्त करने के लिए उद्योग किया जाय।

भगवान् शान्तिनाथ का स्वरूप समझ लेना ही शान्ति के स्वरूप को समझ लेना है। गणधरों ने भगवान् शान्तिनाथ के स्वरूप को ऊँचा बतलाया है। उस स्वरूप मे चित्त को एकाग्र

करके लगा दिया जाय तो कभी अशान्ति न हो। मित्रो! आओ, आज हम लोग मिलकर भगवान् के स्वरूप का विचार करें और सच्ची शान्ति प्राप्त करने का मार्ग खोजे।

भगवान् शान्तिनाथ के सम्बन्ध मे शास्त्र का कथन है—

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महड्ढिओ।
सन्तो सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तर।।

यहाँ भगवान् के विषय में कहा गया है—'संती संतीकरे लोए।' अर्थात् शान्तिनाथ भगवान् लोक में शान्ति करने वाले हैं। वाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह छोटा-सा वाक्य इतना पूर्ण है कि मानों सब ज्ञान इसी में समाप्त हो जाता है। शान्ति क्या है और वह किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, इस विषय पर मैं कोई बार कह चुका हूँ और आज फिर इसी विषय में कह रहा हूँ, क्योंकि शान्ति प्राप्त करना ही जगत् के प्राणियों का एकमात्र ध्येय है।

कई लोग विषमभाव मे—पक्षपात में शान्ति देखते हैं। लेकिन जहां विषमभाव है वहाँ वास्तविक शांति नहीं रह सकती। वास्तविक शांति तो समभाव के साथ ही रहती है।

वहुत-से लोग अपनी कुशल के आगे दूसरे की कुशल की कोई कीमत ही नहीं समझते। वे दूसरों की कुशल की उपेक्षा ही नहीं करते वरन् अपनी कुशल के लिए दूसरो की अकुशल भी कर डालते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि शान्ति प्राप्त करने का मार्ग यह नहीं है। यह तो शान्ति के घात करने का ही तरीका है। सच्ची शान्ति तो भगवान् शान्तिनाथ को पहिचानने से ही

प्राप्त की जा सकती है। जिस शान्ति में से अशान्ति का अंकुर न फूटे, जो सदा के लिए अशान्ति का अन्त करदे, वही सच्ची शान्ति है। सच्ची शान्ति प्राप्त करने के लिए 'सर्वभूतहिते रतः' अर्थात् प्राणी मात्र के कल्याण में रत होना पड़ता है।

कुछ लोग दुर्गापाठ आदि करके, होम करके, यहाँ तक कि जीवों का बलिदान तक करके शांति प्राप्त करना चाहते हैं। दुःखविपाक सूत्र देखने से पता चलता है कि कुछ लोग तो अपने लड़के का होम करके भी शांति प्राप्त करना चाहते थे। कुछ लोग आज भी पशुबलि, यहाँ तक कि नरबलि में शांति बतलाते हैं। इस प्रकार शांति के नाम पर न जाने कितनी उपाधियाँ खड़ी कर दी गई हैं। लेकिन गणधरों ने एक ही वाक्य में वास्तविक शांति का सच्चा चित्र अंकित कर दिया है—

संती संतिकरे लोए।

नरमेध करने वालों ने नरमेध में ही शांति मान रक्खी है। लेकिन नरमेध से क्या कभी संसार में शांति हो सकती है? मारने वाला और मरने वाला—दोनों ही मनुष्य हैं। मारने वाला शांति चाहता है तो क्या मरने वाले को शान्ति की अभिलाषा नहीं है? फिर उसे अशान्ति पहुँचा कर शान्ति की आशा करना कितनी मूर्खतापूर्ण बात है!

नरमेध करने वाले से पूछा जाय कि तू ईश्वर के नाम पर दूसरे मनुष्य का वध करता है तो क्या ईश्वर तेरा ही है? ईश्वर मरने वाला का नहीं है? अगर मरने वाले से पूछा जाय कि हम ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए तेरा बलिदान करना चाहते हैं तो वह क्या उत्तर देगा? क्या वह बलि चढ़ना पसंद करेगा?

क्या वह स्वीकार करेगा कि जो इस प्रकार की बलि लेकर प्रसन्न होता है वह ईश्वर है ? और इस बलि का विधान जिसमें किया गया है वह क्या शास्त्र है ? वह तो यही कहेगा कि ऐसी बलि को आज्ञा देने वाला ईश्वर नहीं हो सकता, कोई हिंसा-लोलुप अनार्य ही हो सकता है और ऐसा शास्त्र भी किसी अनार्य का ही कहा हुआ है।

किसी भी जीव का हवन करने से शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है ! आज तो जैनपरम्परा के अनुयायी भी नाना प्रकार से आरंभ-समारंभ करते हैं और होम आदि करते हैं मगर उसमे वास्तविक शान्ति नहीं है। लोगों ने शान्ति प्राप्त करने के उपायो को गलत समझ लिया है और इसी कारण शान्ति प्राप्त करने के लिए यज्ञ, होम आदि करने पर भी सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं होती। सच्ची शान्ति प्राणीमात्र की कल्याण-साधना में है। किसी का अकल्याण करने में शान्ति नही है। भगवान् शान्तिनाथ के नाम पर जो शान्ति-दीपक जलाया जाता है, क्या उसमें अग्नि नहीं होती ! इस प्रकार अग्नि से लगाया हुआ दीपक शान्तिदीपक नहीं है। शान्तिदीपक वह है जिसमें ज्ञान से उजाला किया जाता है।

ऐसी आरती करो मन मेरा,
जन्म मरण मिट जाय देख तेरा।
ज्ञानदीपक का कर उजियाला,
शांति स्वरूप निहारो तुम्हारा ॥ऐसी॥

मित्रो ! शान्तिनाथ भगवान की आराधना करने का अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए शांतिनाथ भगवान् की

आराधना करो। अग्नि से दीपक जलाकर 'शांति-शांति' भले करते रहो पर इस उपाय से शांतिनाथ को नहीं पा सकते। ज्ञान का दीपक जलाकर उजेला करोगे तो शांतिनाथ भगवान् का स्वरूप स्पष्ट रूप से देख सकोगे। इस बात पर मनन करो और इसे हृदय में उतार लो तो शांतिनाथ हृदय में ही प्रकट हो जाएँगे। प्राचीन ऋषियों ने कहा है—

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥

यह देह देवालय है। इसमें आज का नहीं सनातन का, कृत्रिम नहीं अकृत्रिम, जीव परमेश्वर है।

तुम्हारी देह अगर मन्दिर है तो दूसरे जीवों की देह भी मन्दिर है या नहीं?

'है!'

यदि केवल अपनी ही देह को मन्दिर माना, दूसरे की देह को मन्दिर नहीं माना तो तुम पक्षपात में पड़े होने के कारण ईश्वर को नहीं जान सकते। ईश्वर ज्ञानस्वरूप सर्वव्यापी और सबकी शान्ति चाहने वाला है। अगर आप भी सबकी शान्ति चाहते हैं, सबकी देह को देवालय मानते हैं तो आपकी देह भी देवालय है, अन्यथा नहीं।

जिस मकान को देवालय मान लिया, उस मकान के ईंट पत्थर कोई विवेकी खोदना चाहेगा?

'नहीं!'

अगर कोई खोदता है तो कहा जायगा कि इसने देवालय की आसातना की। लेकिन जब सभी जीवों के शरीर को देवालय मान लिया तो फिर किसी के शरीर को तोड़ना-फोड़ना क्या देवालय को तोड़ना-फोड़ना नहीं कहलाएगा ?

मित्रो ! परमात्मा से शान्ति चाहने के लिए दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाना, उनका घात करना कहाँ तक उचित है ? देवालय के पत्थर निकालकर कोई आसपास दीवाल बनावे और कहे कि हम देवालय की रक्षा करते हैं तो क्या यह रक्षा करना कहलाएगा ? इसी प्रकार शान्ति के लिए जीवो की घात करना क्या शान्ति प्राप्त करना है ? शान्ति तो उसी समय प्राप्त होगी जब ज्ञान-दीपक से उजेला करके आत्मा को वैर-विकार से रहित बताओगे। सर्वदेशीय शांति ही वास्तविक शांति है।

शांतिनाथ भगवान् की प्रार्थना में कहा गया है—

श्री शान्ति जिनेश्वर सायब सोलवाँ,
जनमत शान्ति करी निज देश में।
मिरगी मार निवार हो सुभागी॥
तन मन वचना शुध करि ध्यावता,
पूरे सगली हाम हो सुभागी ॥श्री०॥

उन शान्तिनाथ भगवान् को पहिचानो, जिन्होंने माता के उदर में आते ही संसार मे शांति का प्रसार कर दिया था। उस समय की शांति, सूर्योदय से पहले होने वाली उषा के समान थी।

उषा प्रातःकाल लालिमा फैलने और उजेला होने को कहते हैं। भगवान् शांतिनाथ का जन्मकाल शांतिप्रसार का

उषाकाल था। इस उषाकाल के दर्शन कब और कैसे हुए, इत्यादि बातें समझाने के लिए शांतिनाथ भगवान् का जन्म-चरित संक्षेप में बतला देना आवश्यक है। जिस प्रकार सूर्योदय की उषा से सूर्य का सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान् शांतिनाथ के उषाकाल से उनका सम्बन्ध है। अतएव उसे जान लेना आवश्यक है।

हस्तिनापुर में महाराज अश्वसेन और महारानी अचला का अखण्ड राज्य था। हस्तिनापुर नगर अधिकतर राजधानी रहा है। प्राचीन काल में उसकी बहुत प्रसिद्धि थी। आजकल हस्तिनापुर का स्थान देहली ने ले लिया है।*

भगवान् शान्तिनाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत होकर महारानी अचला के गर्भ में आये। गर्भ में आते समय महारानी अचला ने जो दिव्य स्वप्न देखे, वे सब उस उषाकाल की सूचना देने वाले थे। मानो स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों में कोई भी स्वार्थी नहीं है। हाथी, वृषभ, सिंह और पुष्पमाला कहते हैं कि आप हमें अपने में स्थान दीजिए। चन्द्रमा और सूर्य निवेदन कर रहे हैं कि हमारी शान्ति और तेज, हे प्रभो! तेरे में ही है।

उग्गए विमले भाणू

हे प्रभो! हमारे प्रकाश से अन्धकार नहीं मिटता है, अतएव आप ही प्रकाश कीजिए।

*हस्तिनापुर के परिचय के लिए देखिए, किरण १७, (पांडवचरित)

उधर फहराती हुई ध्वजा कहती है—मैं तीन लोक की विजयपताका हूँ। मुझे अपनाइये। मंगलकलश कहता है—मेरा नाम तभी सार्थक है जब आप मुझे ग्रहण कर लें। मानसरोवर कहता है—यह मंगल कलश मेरे से ही बना है। मैं और किसके पास जाऊँ? मैं संसार के मानस का प्रतिनिधि होकर आया हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि तू सबके मानस में प्रवेश कर और उसे उज्ज्वल बना। क्षीरसागर कहता है—यह सरोवर तो छोटा-सा है। लेकिन अगर आप मुझे न धारण करेंगे तो मैं कहाँ रहूँगा? प्रभो! इस संसार को अमृतमय कर दो। संसार मुझसे अतृप्त है, अतः आप उसे तृप्त कीजिए।

इस प्रकार उषाकाल की सूचना देकर भगवान् शान्तिनाथ सर्वार्थसिद्ध विमान से महारानी अचला के गर्भ में आये। सब देवी-देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना की—प्रभो! सब लोग अपने-अपने पक्ष में पड़े हुए हैं। आप संसार का उद्धार कीजिये। हमारे सिर पर भी आशीर्वाद का हाथ फेरिये।

लोकोत्तर स्वप्नों ने मानों अचला महारानी को बधाई दी। उसके बाद अचला महारानी के गर्भ मे भगवान् का आगमन हुआ। क्रमशः गर्भ की वृद्धि होने लगी।

जिन दिनो भगवान् शान्तिनाथ गर्भ मे थे, उन्हीं दिनों महाराज अश्वसेन के राज्य मे महामारी का रोग फैल गया।

प्रश्न हो सकता है कि जब भगवान् गर्भ मे आये तो रोग क्यों फैला? मगर वह रोग नहीं, उषाकाल की महिमा को प्रकट करने वाला अन्धकार था। जैसे उषाकाल से पहले रात्रि होती है और उस रात्रि से ही उषाकाल की महिमा जानी जाती

है, उसी प्रकार वह महामारी भगवान् शान्तिनाथ के उषाकाल के पहले की रात्रि थी। उसका निवारण करने के कारण ही भगवान् 'शान्तिनाथ' पद को प्राप्त हुए। यद्यपि भगवान् गर्भ में आ चुके थे और उस समय रोग फैलना नहीं चाहिए था, फिर भी रोग के फैलने के बाद भगवान् के निमित्त से उसकी शान्ति होने के कारण भगवान् की महिमा का प्रकाश हुआ। इससे भगवान् के आने की सूचना और भगवान् के प्रताप का परिचय उनके माता पिता को मिल गया।

राज्य में मरी रोग फैलने की सूचना महाराज अश्वसेन को मिली। महाराज ने यह जानकर कि मरी रोग के कारण लोग मर रहे हैं, रोग की उपशान्ति के अनेक उपाय किये। मगर शान्ति न मिली।

यह मरी लोगों की कसौटी थी। इसी से पता चलता था कि लोग मार्ग पर हैं या मार्ग भूले हुए हैं। यह मरी शान्ति से पहले होने वाली क्रान्ति थी।

उपाय करने पर भी शान्ति न होने के कारण महाराज बड़े दुःखी हुए। वह सोचने लगे—'जिस प्रजा का मैंने पुत्र के समान पालन किया है, जिसे मैंने अज्ञान से सज्ञान, निर्धन से धनवान और निरुद्योगी से उद्योगवान् बनाया है, वह मेरी प्रजा असमय में ही मर रही है! मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ हो रहा है! मेरे राजा रहते प्रजा को कष्ट होना मेरे पाप का कारण है।' पहले के राजा, राज्य में दुष्काल पड़ना, रोग फैलना, प्रजा का दुःखी होना आदि अपने पाप का ही फल समझते थे।

रामायण में लिखा है कि एक ब्राह्मण का लड़का बचपन में ही मर गया। ब्राह्मण उस लड़के को लेकर रामचन्द्रजी के पास गया और बोला—आपने क्या पाप किया है कि मेरा लडका मर गया ?

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि पहले के राजा, प्रजा के कष्ट का कारण अपना ही पाप समझते थे। इसी भावना के अनुसार महाराज अश्वसेन मरी फैलने को अपना ही दोष मान-कर दु'खी हुए। उन्होंने एकान्त में जाकर निश्चय किया कि जब तक प्रजा का दुःख दूर न होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

सुदृढ़ निश्चय में बड़ा बल होता है। भक्त तुकाराम ने कहा है :—

निश्चयाचा बल तुका म्हणे तो च फल।

निश्चय के विना फल की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार निश्चय करके महाराज अश्वसेन ध्यान लगा कर बैठ गये। भोजन का समय होने पर महारानी अचला ने दासी को भेजा कि वह महाराज को भोजन करने के लिए बुला लावे। दासी गई, किन्तु महाराज को ध्यानमुद्रा में बैठा देखकर वह सहम गई। भला उसका साहस कैसे हो सकता था कि वह महाराज के ध्यान के भङ्ग करने का प्रयत्न करे! वह धीमे-धीमे स्वर से पुकार कर लौट गई। उसके बाद दूसरी दासी आई, फिर तीसरी आई मगर ध्यान भग करने का किसी को साहस न हुआ। महारानी अचला बार-बार दासियों को भेजने के अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करके कहने लगी—स्वामी को बुलाने

महाराज सोचने लगे—जिस उपद्रव को मैं दूर नही कर सकता, उसे महारानी स्त्री होकर कैसे दूर कर सकती है ? फिर अपनी चिन्ता का कारण कह कर उन्हे दुखी करने से क्या लाभ है ? इस प्रकार विचार कर वह चुप ही रहे। कुछ न बोले।

पति को मौन देख महारानी ने कहा—जान पड़ता है, आप किसी ऐसी चिन्ता में डूबे हैं, जिसे सुनने के लिए मैं अयोग्य हूँ। सम्भवतः इसी कारण आप बात छिपा रहे हैं। यदि मेरा अनुमान सत्य है तो आज्ञा दीजिए कि मैं यहाँ से टल जाऊँ! ऐसा न हो तो कृपया अपनी चिन्ता का कारण बतलाइए। आपकी पत्नी होने के कारण आपके हर्ष-शोक में समान रूप से भाग लेना मेरा कर्त्तव्य है।

महाराज अश्वसेन ने कहा—मेरे पास कोई चीज नहीं है जो तुम से छिपाने योग्य हो। मैं ऐसा पति नहीं कि अपनी पत्नी से किसी प्रकार का दुराव रक्खूँ। मगर मैं सोचता हूँ कि मेरी चिन्ता का कारण सुन लेने से मेरी चिन्ता तो दूर होगी नहीं, तुम्हें भी चिन्ता हो जायगी। इससे लाभ क्या होगा ?

महारानी—अगर बात कहने से दु.ख नहीं मिटेगा तो उदास होने से भी नहीं मिटेगा। इस समय सारा दुःख आप उठा रहे हैं, लेकिन जब आप, अपनी इस अर्धाङ्गिनी से दुःख का कारण कह देंगे तो आपका आधा दु.ख कम हो जायगा।

महाराज—तुम्हारी इच्छा है तो सुन लो। इस समय सारी प्रजा महामारी की बीमारी से पीड़ित है। मुझसे ही कोई अपराध बन गया है, जिसके कारण प्रजा को कष्ट भुगतना पड़ रहा है। ऐसा न होता तो मेरे सामने प्रजा क्यों दुखी होती ?

महारानी—जिस पाप के कारण प्रजा दुःख पा रही है, वह आपका ही नहीं है, मेरा भी है।

महारानी की यह बात सुनकर महाराज को आश्चर्य हुआ। फिर उन्होंने कुछ सोचकर कहा—ठीक है। आप प्रजा की माता हैं। आपका ऐसा सोचना ठीक ही है। मगर विचारणीय बात तो यह है कि यह दुःख किस प्रकार दूर किया जाय ?

महारानी—पहले आप भोजन कर लीजिए। कोई न कोई उपाय निकलेगा ही।

महाराज—मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि जब तक प्रजा का दुःख दूर न होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

महारानी—जिस नरेश में इतनी दृढ़ता है, जो प्रजाहित के लिए आत्मबलिदान करने को उद्यत है, उसकी प्रजा कदापि दुखी नहीं रह सकती। लेकिन जब तक आप भोजन नहीं कर लेते, मैं भी भोजन नहीं कर सकती।

महाराज—तुम अगर स्वतंत्र होतीं और भोजन न करतीं, तब तो कोई बात ही नहीं थी। लेकिन तुम गर्भवती हो। तुम्हारे भूखे रहने से गर्भ को भी भूखा रहना होगा और यह अत्यन्त ही अनुचित होगा।

गर्भ की याद आते ही अचला महारानी ने कहा—नाथ ! अब मैं महामारी के मिटाने का उपाय समझ गई। यह महामारी उषा के पूर्व का अंधकार है। मैं इसे मिटाने का उपाय करती हूँ।

महारानी अचला महल के ऊपर चढ़ गई और अमृतदृष्टि से चारों ओर देखकर कहने लगीं—प्रभो! यदि यह महामारी शान्त न हुई तो पति जीवित नहीं रहेंगे। पति के जीवित न रहने पर मैं भी जीवित नहीं रह सकूँगी। और इस प्रकार यह गर्भ भी नष्ट हो जायगा। इसलिए हे महामारी! मेरे पति के लिए, मेरे लिए और इस गर्भ के लिए इस राज्य को शीघ्र छोड़ दे।

उषा के आगे अंधकार कैसे ठहर सकता है? महारानी के चारों ओर देखते ही महामारी हट गई। उसके बाद महाराज अश्वसेन को सूचना मिली कि राज्य में शान्ति हो गई है। महाराज आश्चर्यचकित रह गये। वे महारानी के महल में आये। मालूम हुआ कि वे महल के ऊपर हैं। महाराज वहीं पहुँचे। उन्होंने देखा कि अचला महारानी अचल ध्यान में खड़ी है। चारों ओर अपनी दिव्य दृष्टि फिराती हैं, किन्तु मन को नहीं फिरने देती।

महाराज अश्वसेन ने थोड़ी देर यह दृश्य देखा। उसके बाद स्नेह की गम्भीरता के साथ कहा—'देवी, शान्त होओ!

पति को आया जान महारानी ने उनका सत्कार किया। महाराज ने अतिशय संतोष और प्रेम के साथ कहा—समझ में नहीं आया कि तुम रानी हो या देवी? तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। तुम्हारे होने से ही मेरा बड़प्पन है। तुम्हारी मौजूदगी से ही मेरा कल्याण-मंगल हुआ। तुमने देश में शान्ति का प्रसार करके प्रजा के और मेरे प्राणों की रक्षा की है।

पति के मुख से अपनी अलंकारमय प्रशंसा सुनकर रानी कुछ लज्जित हुई। फिर रानी ने कहा—नाथ! यह अलंकार

मुझे शोभा नहीं देते। ये इतने भारी हैं कि मैं इनका बोझ नहीं उठा सकती। मुझमें इतनी शक्ति है कहाँ, जितनी आप कर रहे हैं? थोड़ी सी शक्ति ही तो वह आपकी ही शक्ति है। काच की हंडी में दीपक रखने पर जो प्रकाश होता है वह काच की हंडी का नहीं, दीपक का ही है। इसलिए आपने प्रशसा के जो अलंकार मुझे प्रदान किये हैं, उन्हें आभार के साथ मैं आपको ही समर्पित करती हूँ। आप ही इनके योग्य हैं। आप ही इन्हें धारण कीजिये।

महाराज—रानी, यह भी तुम्हारा एक गुण है कि तुम्हें अपनी शक्ति की खबर ही नहीं! वास्तव में जो अपनी शक्ति का घमंड नहीं करता वही शक्तिमान् होता है। जो शक्ति का अभिमान करता है उसमें शक्ति रहती ही नहीं! बडे-बड़े ज्ञानी, ध्यानी और वीरों की यही आदत होती है कि वे अपनी शक्ति की खबर भी नहीं रखते। मैंने तुम्हें जो अलंकार दिये हैं उन्हें तुम मेरे लिए लौटा रही हो किन्तु पुरुष होने के कारण मैं उन्हें पहिन नहीं सकता। साथ ही मुझे खयाल आता है कि वह शक्ति न तुम्हारी है, न हमारी है। हमारी और तुम्हारी भावना पूरी करने वाले त्रिलोकीनाथ का ही यह प्रताप है। वह नाथ, जन्म धारण करके सारे संसार को सनाथ करेगा। आज के इस चमत्कार को देखते हुए, इन अलंकारो को गर्भस्थ प्रभु के लिए सुरक्षित रहने दो। जन्म होने पर इनका 'शान्तिनाथ' नाम रक्खेंगे। 'शान्तिनाथ' नाम एक सिद्ध मन्त्र होगा, जिसे सारा ससार जपेगा और शान्ति-लाभ करेगा। देवी, तुम कृतार्थ हो कि संसार को शान्ति देने वाले शान्तिनाथ तुम्हारे पुत्र होंगे।

रानी—नाथ! आपने यथार्थ कहा। वास्तव में बात

यही है। यह अपनी शक्ति नहीं, उसी की शक्ति है! उसी का प्रताप है, जिसे मैंने गर्भ मे धारण किया है।

प्रार्थना में कहा गया है :—

अश्वसेन नृप अचला पट रानी,
तस सुत कुल सिंगार हो सुभागी।
जन्मत शान्ति थई निज देश में,
मिरगी मार निवार हो सुभागी॥

इस प्रकार शान्तिनाथ भगवान रूपी सूर्य के जन्म धारण करने से पहले होने वाली उषा का चमत्कार आपने देख लिया! अब शान्तिनाथ-सूर्य के उदय होने का वृत्तान्त कहना है। मगर समय कम होने के कारण थोड़े ही शब्दों में कहता हूँ।

शान्तिनाथ भगवान् को गर्भ में रहने या जन्म धारण करने के कारण आप वन्दना नहीं करते हैं। वे इस कारण वन्दनीय हैं कि उन्होंने दीक्षा धारण करके, केवल-ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में मुक्ति प्राप्त की।

भगवान् शान्तिनाथ ने लम्बे काल तक संसार में रहकर अद्वितीय काम कर दिखाया। उन्होंने स्वयं राज्य करके राज्य करने का आदर्श जनता के समक्ष उपस्थित किया। राज्य करके उन्होंने अहंकार नहीं सिखलाया। उनमें ऐसी-ऐसी अलौकिक शक्तियाँ थीं कि जिनकी कल्पना भी हमारे हृदय में आश्चर्य उत्पन्न करती है। लेकिन उन्होंने ऐसी शक्तियों का कभी प्रयोग नहीं किया। माता अपने बालक को कामधेनु का दूध पिलाकर तृप्त कर सकती हो तो भी उसे अपना दूध पिलाने में जिस सुख का अनुभव होता है, कामधेनु का दूध पिलाने में वह सुख

कहाँ ? इसी प्रकार शान्तिनाथ शक्ति का प्रयोग कर सकते थे परन्तु उन्हें शान्ति और प्रेम से काम लेने में ही आनन्द आता था।

शान्तिनाथ भगवान् ने संसार को क्या-क्या सिखाया और किस प्रकार महारम्भ से निकाल कर अल्पारम्भ में लाये, यह कथा लम्बी है। अतएव इतनी सूचना करके ही सन्तोष करता हूँ।

प्रभो ! आप जन्म, जरा और मरण, इन तीन बातों में ही उलझे रहते तो आप शान्तिनाथ न बनते ! लेकिन आप तो संसार को शान्ति पहुँचाने वाले और शान्ति का अनुभव-पाठ पढ़ाने वाले हुए, इस कारण हम आपकी भक्तिपूर्वक वन्दना करते हैं। आपने कौन-सी शान्ति सिखलाई है, इस सम्बन्ध में कहा है :—

'चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महड्ढिओ ।'

चक्रवर्ती की विशाल समृद्धि प्राप्त करके भी आपने विचार किया कि ससार को शान्ति किस प्रकार पहुँचाई जा सकती है ! इस प्रकार विचार कर आपने शान्ति का मार्ग खोजा और संसार को दिखलाया। जैसे माता, कामधेनु का नहीं वरन अपना ही दूध बालक को पिलाती है, उसी प्रकार आपने शान्ति के लिए यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र आदि का उपयोग नहीं किया किन्तु स्वयं शान्तिस्वरूप बनकर ससार के समक्ष शान्ति का आदर्श प्रस्तुत किया। आपके आदर्श से संसार ने सीखा कि त्याग के बिना शान्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। आपने संसार को अपने ही उदाहरण से बतलाया है कि सच्ची शान्ति भोग में नहीं, त्याग में है और मनुष्य सच्चे हृदय से ज्यों-ज्यों त्याग की ओर बढ़ता जायगा त्यों-त्यों शान्ति उसके समीप आती जाएगी।

त्याग का अर्थ यदि आप संसार छोड़कर साधु बनना समझें तो वह गलत अर्थ नहीं होगा। परन्तु यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि कस्तूरी किसी के घर हजार मन हो और किसी के घर एक कन हो तो चिन्ता नहीं, पर चाहिए सच्ची कस्तूरी। एक तोला रेडियम धातु का मूल्य साढ़े चार करोड़ रुपया सुना जाता है। उसके एक कण से भी बहुत-सा काम निकल सकता है, पर शर्त यही है कि वह नकली नहीं, असली हो। इसी प्रकार पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिए आप पूर्ण त्याग कर सकें तो अच्छा ही है। अगर पूर्ण त्याग करने की आप में शक्ति नहीं है तो आंशिक त्याग तो करना ही चाहिए। मगर ध्यान रखना कि जो त्याग करो, वह सच्चा त्याग होना चाहिए। लोक-दिखावे का द्रव्य-त्याग आत्मा के उत्थान में सहायक नहीं होगा। आत्मा के अन्तरतर से उद्भूत होने वाली त्यागभावना ही आत्मा को ऊँचा उठाती है। त्याग भले ही शक्ति के अनुसार थोड़ा हो परन्तु असली हो और शुद्ध हो जो कि भगवान् शान्तिनाथ को चढ़ सकता हो।

जिन देवों ने त्याग करके शान्ति नहीं प्राप्त की उन्होंने संसार को शान्ति नहीं सिखाई। महापुरुषों ने स्वयं त्याग करके फिर त्याग का उपदेश दिया है और सच्ची शान्ति सिखाई है। महापुरुष -त्याग के इस अद्भुत रेडियम को यथाशक्ति ग्रहण करने के लिए उपदेश देते हैं। अतएव आप पापों का भी त्याग करो। जिस समय कोई आप पर क्रोध की ज्वालाएँ फेंके उस समय आप शान्ति के सागर बन जाइए। शान्तिनाथ भगवान् का नाम लीजिये। फिर आप देखेंगे कि क्रोध करने वाला किस प्रकार परास्त हो जाता है?

भगवान् शान्तिनाथ का जाप तो लोग आज भी करते हैं, परन्तु उसका प्रयोजन दूसरा होता है। कोई मुकदमा जीत लेने के लिए शान्तिनाथ को जपते हैं तो कोई किसी दूसरी झूठी वात को सच्ची सिद्ध करने के लिए। इस प्रकार अशान्ति के लिए शान्तिनाथ को जपने से कोई लाभ नहीं होगा। कोई भी अशान्ति उत्पन्न करने वाली चीज भगवान् शान्तिनाथ को स्वीकृत नहीं हो सकती।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या विवाह आदि के अवसर पर भगवान् शान्तिनाथ का स्मरण नहीं करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि स्मरण तो करना चाहिये लेकिन यह समझकर कि विवाह बन्धन की चीज है, इसलिए हे प्रभो ! तू ऐसी शक्ति मुझे प्रदान कर कि मैं इस बन्धन में ही न रहूँ। गृहस्थावस्था में विवाह से फलित होने वाले चतुर्थ अणुव्रत का पालन कर सकूँ और शक्ति आने पर भोग को निस्सार समझ कर पूर्ण ब्रह्मचर्य को धारण कर सकूँ। इस प्रकार की धर्मभावना के साथ भगवान् का नाम जपने से आपका कल्याण ही होगा।

व्यापार के निमित्त बाहर जाते समय आप मांगलिक सुनते हैं और मुनि सुनाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि व्यापार में खूब धन कमाने के लिए आप सुनें और मुनि सुनावें। व्यापार करते समय आप धन के चक्कर में पड़कर धर्म को न भूल जाएँ। आपको धन ही शरणभूत, मंगलमय और उत्तम न दिखाई दे वरन् धर्म को उस समय भी आप मंगलमय मानें। इसी भावना से मुनि आपको मंगलपाठ सुनाते हैं और आपको भी इसी भावना से उसे सुनना चाहिए।

भोजन करते समय भी भगवान् शान्तिनाथ को स्मरण रक्खो और विचार करो कि—'प्रभो ! मुझे भिक्षा-अभिक्षा का

विचार रहे।' मगर आज ऐसा कौन करता है ? लोग बेभान होकर अभक्ष्य भक्षण करते हैं और ठूँस-ठूँस कर आवश्यकता से अधिक खा लेते हैं। वे सोचते हैं—अजीर्ण होगा तो औषधों की क्या कमी है ! मगर औषध के भरोसे न रहकर भगवान् शान्तिनाथ को याद करो और सोचो कि मैं शरीर का ढाँचा रखने के लिए ही खाऊँ और खाने में बेभान न हो जाऊँ

एक प्रोफेसर का कहना है कि मैं जब उपवास करता हूँ तो मेरी एकाग्रता बढ़ जाती है और मैं अवधान कर सकता हूँ। अगर उपवास न करूँ तो अवधान नहीं कर सकता।

अगर आप अधिक उपवास कर सके तो महीने में चार उपवास तो किया करें। चार उपवास करने से भी औषध लेने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अगर प्रसन्नता और सद्भावना से उपवास करोगे तो धर्म का भी लाभ होगा। अगर आपने स्वेच्छा से उपवास न किये तो प्रकृति दूसरी तरह से उपवास करने के लिए आपको बाध्य करेगी। ज्वर आदि होने पर भोजन त्यागना पड़ेगा।

भगवान शान्तिनाथ ने छह खण्ड का राज्य त्याग कर संसार को सिखाया है कि त्याग कैसे किया जाता है और त्याग में कितनी निराकुलता तथा शान्ति है। मगर तुमसे और कुछ नहीं बन पड़ता तो शान्तिनाथ भगवान् के नाम पर क्रोध करने का ही त्याग कर दो। जहाँ क्रोध का अभाव है वहाँ ईश्वरीय शान्ति उपस्थित रहती है। आप शान्ति चाहते हैं तो उसे पाने का कुछ उपाय भी करो। एक भक्त कहते हैं :—

कठिन कर्म लेहिं जाहिं मोहि जहाँ
तहाँ-तहाँ जन छिन, ...

प्रभो ! क्रूर कर्म न जाने कहाँ-कहाँ मुझे घसीट कर ले जाते हैं। इसलिए हे देव ! मैं आपसे यह याचना करता हूँ कि जब कर्म मुझे परायी स्त्री और पराये धन आदि की ओर ले जावें तब मैं आपको भूल न जाऊँ। आपकी दृष्टि मुझ पर उसी प्रकार बनी रहे जिस प्रकार मगर या कछुई की दृष्टि अपने अंडों पर उन्हे पालने के लिए बनी रहती है।

गांधीजी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि मेरी माता जैनधर्मी सन्त की भक्त थी। विलायत जाते समय मेरी माता मुझे उन सन्त के पास ले गई। वहाँ उसने कहा—मेरा यह लड़का दारू, माँस और परस्त्री का त्याग करे तब तो मैं इसे विलायत जाने दे सकती हूँ, अन्यथा नहीं जाने दूंगी। गांधीजी माता की आज्ञा को पर्वत से भी उच्च मानते थे। इसलिए उन्होंने महात्मा के सामने मदिरा, मांस और परस्त्री का त्याग किया।

गांधीजी लिखते हैं कि उस त्याग के प्रभाव से वे कई बार भ्रष्ट होने से बचे। एक बार जब वे जहाज से सफर कर रहे थे, अपनी इस प्रतिज्ञा के कारण ही बच सके। गांधीजी जहाज से उतरे थे, कि उन्हे उनके एक मित्र मिल गए। उन मित्र ने दो-एक स्त्रियाँ रख छोड़ी थीं, जिन्हे जहाज से उतरने वाले लोगों के पास भेजकर उन्हे भ्रष्ट कराते और इस प्रकार अपनी आजीविका चलाते थे। उन मित्र ने पैसे कमाने के उद्देश्य से तो नहीं पर मेरा आतिथ्य करने के लिए एक स्त्री को मेरे यहाँ भी भेजा। वह स्त्री मेरे कमरे में आकर खड़ी रही। मैं उस समय ऐसा पागल-सा हो गया, मानों मुझे बचाने के लिए साक्षात परमात्मा आ गये हों। वह कुछ देर खड़ी रही और फिर निराश होकर लौट गई। उसने मेरे मित्र को उलहना भी दिया कि तुमने

मुझे किस पागल के पास भेज दिया ! उस बाई के चले जाने पर जब मेरा पागलपन दूर हुआ तब मैं बहुत प्रसन्न हुआ और परमात्मा को धन्यवाद देने लगा कि—प्रभो ! तुम धन्य हो। तुम्हारी कृपा से मैं बच गया।

भक्त लोग कहते हैं—नाथ, तू इसी प्रकार मुझ पर दृष्टि रखकर मेरी रक्षा कर।

गांधीजी ने एक घटना और लिखी है। वे जिस घर में रहते थे उस घर की स्त्री का आचरण वेश्या सरीखा था। एक मित्र का उसके साथ अनुचित सम्बन्ध था। उन मित्र के आग्रह से मैं उस स्त्री के साथ तास खेलने बैठा। खेलते खेलते नीयत बिगड़ने लगी। पर उन मित्र के मन मे आया कि मैं तो भ्रष्ट हूँ ही इन्हें क्यों भ्रष्ट होने दूं ! इन्होंने अपनी माता के सामने जो प्रतिज्ञा की है वह भंग हो जायगी। आखिर उन्होंने गांधीजी को वहाँ से उठा लिया। उस समय मुझे बुरा तो अवश्य लगा लेकिन विचार करने पर बाद में बहुत आनन्द हुआ।

मित्रो ! अपने त्याग की दृढ़ता के कारण ही गांधीजी दुष्कर्मों से बचे रहे और इसी कारण आज सारे संसार में उनकी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा है। उन्होंने गुरु से त्याग की बानगी ही ली थी। उसका यह फल निकला तो पूरे त्याग का कितना फल न होगा ? आप पूरा त्याग कर सकें तो कीजिए। न कर सकें तो त्याग की बानगी ही लीजिये और फिर देखिए कि जीवन कितना पवित्र और आनन्दमय बनता है।

गांधीजी लिखते हैं कि मुझ पर आये हुए संकट टल जाने से मुझे मालूम हुआ कि परमात्मा की सत्ता अवश्य है। अगर

आप लोग भी शान्तिनाथ भगवान् को याद रक्खें तो आपको भी परमात्मा के साक्षात् दर्शन होंगे।

भाइयो और बहिनो ! कुकर्म जहर से बढ़कर है। जब इनकी ओर आपका चित्त खिचने लगे तब आप भगवान् शान्तिनाथ का स्मरण किया करो। ऐसा करने से आपका चित्त स्वस्थ होगा, विकार हट जाएगा और पवित्र भावना उत्पन्न होगी। आप कुकर्म से बच सकोगे और आपका जीवन पवित्र रहेगा। भगवान् शान्तिनाथ का नाम पापों से बचने का महामन्त्र है।

शान्तिनाथ भगवान् ने केवल-ज्ञान प्राप्त करके पच्चीस हजार वर्ष तक सब जीवों को शान्ति प्रदान की। आप भी अपनी योग्यता के अनुसार दूसरों को शान्ति पहुँचाएँ। कोई काम ऐसा मत कीजिए जिससे किसी को अशान्ति पहुँचती हो। आपका ज्ञान, ध्यान, पठन-पाठन आदि सब ऐसे होने चाहिए जो शान्तिनाथ को पसन्द हो। अगर आप शान्तिनाथ भगवान् को हृदय में धारण करके प्राणीमात्र को शान्ति पहुँचाएँगे तो आपको भी लोकोत्तर शान्ति प्राप्त होगी।

आज भगवान् शान्तिनाथ की प्रार्थना की है। शान्तिनाथ भगवान् के नाम से शान्ति प्राप्त होती है। अतएव यह समझ लेना आवश्यक है कि भक्ति और शान्ति में क्या सम्बन्ध है? और सच्ची शान्ति क्या है तथा वह कैसे प्राप्त हो सकती है? आज इसी विषय पर कुछ विचार प्रकट करूँगा।

प्रेमी, जिसके हृदय में प्रेम-भक्ति है, शान्ति इसलिए चाहते हैं कि मेरे प्रेम में कोई बाधा उपस्थित न हो। जैसे किसान चाहता है कि मेरी खेती में कोई विघ्न उपस्थित न हो

जाय, खेती को कीड़े या मृग आदि पशु न खा जाएँ और किसी प्रकार की उपाधि खड़ी न हो जाय, इसी प्रकार जिसने प्रेम-भक्ति की खेती उपजाई है, वह परमात्मा से प्रार्थना करता है कि मेरी इस खेती मे कोई विघ्न उपस्थित न हो। वह कहता है— परमात्मा ! यह संसार विघ्नों का मूल है। इसमें विघ्न ही विघ्न भरे हैं। मुझे इन विघ्नों से बचा। इन दुःखों से मेरी रक्षा कर।

विघ्न क्या है ? और विघ्नों की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? यह समझ लेना भी आवश्यक है। विघ्न तीन प्रकार के होते हैं— (१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक

भौतिक पदार्थों से दुःख होना, जैसे कांटा लग जाना, किसी दूसरे पदार्थ से चोट लग जाना, कपड़ा, अन्न, घर आदि न मिलना या इच्छा के विरुद्ध मिलना अधिभौतिक विघ्न कहलाता है।

जो विघ्न अनायास आ पड़ता है, वह आधिदैविक कहलाता है। जैसे अतिवृष्टि होना, अनावृष्टि होना, अग्नि, वायु आदि के द्वारा आपत्ति होना आदि।

तीसरा विघ्न आध्यात्मिक है। यह इन दोनों से बहुत गम्भीर और बड़ा है। यह आध्यात्मिक विचारो से उत्पन्न होता है। क्रोध, अहकार, लोभ, तृष्णा आदि से कष्ट पाना, भविष्य की आशा या भूतकाल के विचारो से, चिन्ताओं से आत्मा को दुःख होना आध्यात्मिक विघ्न कहलाता है। इसके समान और कोई दुःख नहीं है।

इन विघ्नों से आत्मा दुर्बल हो जाता है और दुर्बल हो जाने के कारण प्रायः अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है।

इससे भक्ति मे शान्ति नहीं मिलती । यही कारण है कि भक्त जन परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि—भगवन् ! तू हमें शान्ति दे, जिससे भक्ति में उपस्थित होने वाले विघ्न शान्त हो जाएँ । भक्त प्रार्थना करते हैं—

शान्ति जिनेश्वर साहब सोलमां
शान्तिदायक तुम नाम हो सुभागी ।
विघन न व्यापे तुम सुमिरन थकी,
नासै दारिद्रय दुःख हो सुभागी ॥

इस प्रकार सभी संसारी जीव शान्ति चाहते हैं । पर उनका उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता है । अधर्मी पुरुष अधर्माचरण में और धार्मिक पुरुष धर्माचरण मे विघ्न न होने की कामना से शान्ति की इच्छा करता है । चोर भी अपने काम में विघ्न न आने की ही इच्छा से शकुन देखता है ।

धर्मनिष्ठ पुरुष परमात्मा से शान्ति चाहता है, क्योंकि उससे मिली हुई शान्ति से किसी को दुःख नहीं होता । दूसरों से चाही हुई शान्ति द्वारा यदि एक को सुख होता है तो दूसरे को दुःख होता है । मगर परमात्मा से चाही हुई शान्ति से किसी को भी दुःख नहीं होता ।

शान्ति के अनेक रूप हैं । एक शान्ति ऐसी होती है जिसके मिलने से मनुष्य अधिक गफलत में पड़ जाता है आलसी बनकर पाप में डूबा रहता है और दुष्कर्म करता है ऐसी शान्ति वास्तविक शान्ति नहीं, घोर नरक में ले जाने वाली अशान्ति है । दूसरे प्रकार की शान्ति के मिलने से आत्मा उत्कर्ष की ओर बढ़ता जाता है । शास्त्र में इसी लिए पुण्य के दो भेद किये हैं—(१) पापानुबन्धी पुण्य (२) पुण्यानुबन्धी पुण्य ।

ब्रह्मदत्त -चक्रवर्ती को सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का साम्राज्य मिला और सभी प्रकार के सांसारिक वैभव भी प्राप्त हुए, परन्तु वह साम्राज्य और वैभव उसे सातवें नरक में ले गया। इसके विपरीत चित्र मुनि, जो उसके पूर्व भव के भाई थे, आनन्द भोग कर मोक्ष में पधारे। चित्र मुनि कितनी सम्पत्ति के स्वामी थे, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि वे एक करोड़ सोनैया प्रति-दिन दान देते थे। ऐसी अक्षय सम्पत्ति होने पर भी वे उसमें आसक्त नहीं हुए। इसी कारण इस लोक का आनन्द-सुख भोग कर वे शाश्वत सुख के अधिकारी भी बने। तात्पर्य यह है कि संसार के भोग भोगने वाले प्राणी दो प्रकार के होते हैं—एक तो मिश्री की मक्खी सरीखे जो मिश्री का रस को चूस लेती है पर उसमें फँसती नहीं—चूस कर उड़ जाती है। दूसरे लोग नाक से निकालने वाले बलगम पर बैठने वाली मक्खी के समान होते है। जैसे इस मक्खी को यथेष्ट रस भी नहीं मिलता, बलगम में उसके पख भी फँस जाते हैं और अन्त में मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता है। इसलिए भक्त जन कहते हैं कि पर-मात्मा की भक्ति करके मिश्री की मक्खी की तरह रहो। इससे संसार का ऐश्वर्य भोगने के बाद भी कल्याण का मार्ग प्राप्त कर सकोगे। सार यह है कि अगर आप भोगोपभोगों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते तो भी कम से कम उसमे लिप्त-गृद्ध-मूर्छित मत बनो।

भक्त कहते हैं, हे शान्तिनाथ भगवान्! मैं तेरी ही सहा-यता से शान्ति पाने की आशा करता हूँ।

जेने सहायक शान्ति जिनन्द तू,
तेने कभी न कांय हो सुभागी।

जिसे तेरी सहायता प्राप्त है उसे किस चीज़ की कमी है? उसका इच्छित कार्य तो सिद्ध हुआ ही समझना चाहिए।

कई कहते हैं कि हम परमात्मा को भजते हैं, फिर भी हमारी आकांक्षाएँ पूरी नहीं होतीं। पर ऐसा कहने वालों को अपनी आकांक्षाओं का ही पता नही है। उन्हे पहले यह तो समझ लेना चाहिए कि वे कल्पवृक्ष या चिन्तामणि से माँगना क्या चाहते हैं—विष या अमृत? जब मन यही निश्चय करने में असमर्थ है तो फिर उन्हें शान्ति मिले कैसे? अगर आप यह निश्चय करेंगे कि मैं किसी का बुरा नहीं चाहता, उद्योगी बनना चाहता हूँ तो आपको अवश्य ही शान्तिनाथ भगवान् से सहायता मिलेगी। मगर आप तो यह चाहते हैं कि हमें मसनद के सहारे पड़े-पड़े ही सब-कुछ मिल जाय। उद्योग तनिक भी न करना पड़े। किन्तु भक्त जन आलसी बनने के लिए परमात्मा से सहायता नहीं चाहते। वे आलस्यमय विचार नहीं करते। वे आलस्यपूर्ण जीवन को धिक्कारते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त लीजिए :—

मुसलमानों के एक पैगम्बर एकान्त जंगल में बैठकर, पीपल का एक-एक पत्ता जलाकर पुस्तक को याद करते थे। जब एक पत्ता जल जाता तो दूसरा पत्ता जलाकर वह फिर पढ़ने लगते। इस कार्य में वह इतने मग्न थे कि दूसरी ओर उनका ध्यान ही न जाता था। वह इसी प्रकार उद्योत करते रहे।

पैगम्बर की यह तल्लीनता देखकर उसके पास खज्रा खज़र अर्थात् भूले को राह बताने वाला फरिश्ता आया। वह आकर पैगम्बर के पास खड़ा हुआ, परन्तु पैगम्बर बोला नहीं। वह अपने काम में तल्लीन रहा, फरिश्ते की ओर आँख उठाकर

भी उसने न देखा। आखिर फरिश्ते ने स्वयं ही उससे कहा—क्या कर रहे हो ?

पैगम्बर—क्या देखते नहीं हो ?

फरिश्ता—देखता हूँ कि तुम पढ़ रहे हो। मगर मैं कहता हूँ कि तुम इस प्रकार एक-एक पत्ता जलाकर कब तक पढ़ा करोगे ? तुम मुझसे प्रार्थना करो तो मैं अभी तुम्हें आलिम फाजिल बना दूं।

पैगम्बर—तुम्हारा नाम क्या है ?

फरिश्ता—ख्वाजा खजर, अर्थात् भूले को राह बताने वाला।

पैगम्बर—तुम अपने काम पर जाओ। जो भूला हो उसे राह बताओ। मैं भूला नहीं हूँ। अपनी राह पर ही हूँ।

फरिश्ता—तुम राह पर कैसे हो ?

पैगम्बर—मै इस प्रकार उद्योग करके पढ़ रहा हूँ सो यही विद्या मेरे काम आने वाली है। तुम्हारे दिमाग का बताया हुआ इल्म मेरे काम का नहीं है। मेरे काम तो वही इल्म आएगा जो मैं अपने उद्योग से सीखूँगा। तुम्हारी दी हुई विद्या अनायास मेरे पास आएगी तो अनायास ही चली भी जाएगी। इसलिए तुम वहाँ जाओ जहाँ कोई गफलत मे पड़ा हो, आलस्य में डूबा हो।

मित्रो! अधिकांश लोग चाहते हैं कि हमें कोई काम न करना पडे। मगर आलस्य में जीवन व्यतीत करने वाले परमात्मा के नाम की महिमा नहीं जानते। परमात्मा के नाम की महिमा गम्भीर है और उसको समझे बिना काम नहीं चल सकता।

परमात्मा के नाम की महिमा को आलसियों ने विकृत कर दिया है। वे आलसी बनने के लिए उसके नाम का स्मरण करते हैं। ज्ञानी पुरुष आलस्य में पड़े रहने के लिए परमात्मा के नाम का स्मरण नहीं करते, बल्कि उद्योगी बनने के लिए उसकी सहायता चाहते हैं।

[ख]

परमात्मा की प्रार्थना करना मुख्य धर्म है। वह प्रार्थना दो प्रकार की होती है—एक अन्तर्मुखी, दूसरी बहिर्मुखी। अभी शान्तिनाथ भगवान् की जो प्रार्थना की गई है, उसका अर्थ भी दोनों प्रकार से हो सकता है। अधिकांश लोग प्रार्थना का बहिर्मुख अर्थ ही समझते हैं। सास-बहू की लड़ाई हो तो सास चाहती है, बहू पर विजय प्राप्त हो और बहू चाहती है कि सास पर विजय प्राप्त हो। भाई-भाई मे लड़ाई होने पर एक-दूसरे पर विजय पाने के लिए दोनो भगवान् से प्रार्थना करते हैं। बाप-बेटा, पति-पत्नी और गुरु-चेला आदि सब का यही हाल है। ऐसी अवस्था में परमात्मा को क्या करना चाहिए? अर्थात् परमात्मा किसकी सहायता करे और किसकी न करे? उसके भक्त दोनो हैं। वह किस पर प्रसन्न हो और किस पर क्रुद्ध हो? परमात्मा की वास्तविकता न समझ कर आपस में लड़ती-झगड़ती एक स्त्री, दूसरी से कहती है—'भगवान् तेरा नाश करे।' इस लड़ाई के समय परमात्मा का नाम आने से लोग समझते हैं कि परमात्मा कोई है और वह किसी का भला और किसी का बुरा करता है। इस तरह वे परमात्मा का नाम तो अवश्य सीख लेते हैं, परन्तु उसका यथार्थ स्वरूप नहीं समझ पाते।

बहिर्मुखी प्रार्थना के विषय मे अधिक न कहकर मैं आज अन्तर्मुखी प्रार्थना के विषय मे ही कुछ कहना चाहता हूँ।

अन्तर्मुखी प्रार्थना में सब एक हो जाते हैं। कोई बड़ा या छोटा नहीं रहता। समदृष्टि की दिव्य ज्योति जगाने के लिए, अन्तर्मुखी प्रार्थना करने पर कोई विघ्न नहीं रहता।

बहिर्मुखी प्रार्थना करने वाले दूसरे का नाश चाहकर या दूसरे पर विजय प्राप्त करने की इच्छा करके शान्ति चाहते हैं, किन्तु अन्तर्मुखी प्रार्थना करने वाले यह चाहते हैं कि—मुझमें क्रोध की अशान्ति है, अतः मेरा क्रोध नष्ट हो जाय। पग-पग पर मुझे अभिमान छलता है। इस अभिमान के कारण बड़ी अशान्ति रहती है, यहाँ तक कि खाना-पीना भी अच्छा नहीं लगता, नींद भी नहीं आती। रावण और दुर्योधन को सब सुख प्राप्त होने पर भी इसी अभिमान ने चैन नहीं लेने दी। इसलिए हे प्रभो! मेरे अभिमान का नाश हो जाय।

एक माँ के दो बेटे हों और वे दोनों आपस में झगड़ते हों तो माँ किसकी विजय चाहेगी? वह तो यही चाहेगी कि दोनों शान्त हो जाएँ। जब माता का प्रेम ऐसा है तो क्या परमात्मा, माता से छोटा है? वह एक का पक्ष लेकर दूसरे का नाश चाहेगा? इसलिए परमात्मा की अन्तर्मुखी प्रार्थना करनी चाहिए, जिससे वास्तविक शान्ति प्राप्त हो।

ईश्वर की स्तुति करना और धर्मपालन करना एक ही बात है। धर्म का पालन करके ईश्वर की स्तुति करना अन्तर्मुखी स्तुति है और धर्म का पालन न करते हुए स्तुति करना बहिर्मुखी स्तुति है। आत्मा का शाश्वत कल्याण अन्तर्मुखी प्रार्थना से ही हो सकता है।

१७ श्री कुंथुनाथजी



प्रार्थना ।

कुंथु जिनराज तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो ।
त्रिलोकीनाथ तू कहिये, हमारी बांह दृढ गहिये ॥ १॥

भवोदधि डूबतां तारो, कृपानिधि आसरो थारो ।
भरोसा आपको भारी, विचारो विरुद उपकारी ।२॥

उमाहो मिलन को तोसे, न राखो आतरो मोसे ।
जैसी सिद्ध अवस्था तेरी, तैसी चैतन्यता मेरी ॥ ३॥

करम-भ्रम जाल को दपट्यो, विषय सुख ममत में लपट्यो ।
भ्रम्यो हुँ चहूं गति माहीं, उदयकर्म भ्रम की छाँहीं ॥४॥

उदय को जोर है जौलों, न छूटे विषय सुख तौलों ।
कृपा गुरुदेव की पाई, निजामत भावना भाई ॥५॥

अजब अनुभूति उर जागी, सुरत निज रूप में लागी ।
तुम्हीं हम एकता जाणूं—, द्वैत भ्रम-कल्पना मानूं ॥६॥

"श्रीदेवी" 'सूर' नृप नन्दा, अहो सरवज्ञ सुखकन्दा ।
"विनयचन्द" लीन तुम गुन में, न व्यापे अविद्या मन में ॥७

परमात्मा की प्रार्थना करने से आत्मा का विकास होता है। परमात्मा और आत्मा में कितना सम्बन्ध है, आज इस पर थोड़ा विचार करना है। यद्यपि यह विषय ऐसा नहीं है कि जल्दी ही समझ में आ जाय और एकदम कार्यरूप में परिणत कर दिया जाय। फिर भी धीरे-धीरे उस ओर लक्ष्य देने और आगे बढ़ने से मनुष्य कभी ध्येय पर पहुँच ही जाता है।

कुन्थु जिनराज ! तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो।

हे कुन्थुनाथ प्रभु ! तेरे समान और कोई देवता मुझे दिखाई नहीं देता।

त्रिलोकीनाथ तू कहिये, हमारी बांह दृढ़ गहिये।

तू त्रिलोकीनाथ है। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरी बाँह पकड़। तेरे सिवाय मैं अपनी बाँह किसके हाथ में दूं ? संसार में तेरे समान और कोई भी देव भरोसा देने वाला नहीं। मैं सबको ढूँढ-खोजकर तेरे पास आया हूँ। तू मेरी बाँह दृढ़ता से पकड।

मित्रो ! भगवान से यह कहने का हक्क किसको है ? जब तक ऐसा कहने का अधिकार प्राप्त न हो, ऐसा कहना उचित नहीं है। अगर आप अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करके भगवान् से इस प्रकार निवेदन करें तो आपकी इच्छा पूर्ण हुए बिना नहीं रहेगी।

आप अपने अन्तःकरण को टटोल-कर कहिये कि क्या इस समय आपको ऐसा कहने का अधिकार है कि—'यदि तू त्रिलोकीनाथ बना है तो मेरा हाथ पकड़, नहीं तो तू त्रिलोकीनाथ मत कहला ! तेरा और मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। इसलिए साहसपूर्वक कहता हूँ कि मेरा हाथ पकड़' ऐसा

कहने से पहले आपको अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए।

आश्रय उसका लिया जाता है जिसमें आश्रय देने की शक्ति हो। परन्तु आश्रय लेने पर ही आश्रय मिलेगा, अन्यथा नहीं। पवन सर्वदेशीय शक्ति वाला है अर्थात् वह सब के साथ समान वर्त्ताव करता है। साँप, मनुष्य, पशु आदि सभी को वह श्वास देता है। किसी से यह नहीं कहता कि मैं तेरे पास नहीं आऊँगा। फिर भी श्वास तो तभी मिलेगा जब उसे खींचा जायगा। बिना खींचे वह भी नहीं आ सकता। पवन को सर्व-व्यापक मान कर अगर कोई श्वास न खींचे और नाक बन्द कर ले तो वह मर जायगा या जीता रहेगा ?

'मर जायगा।'

सर्वव्यापी होने पर भी जो पवन को अपना कर ग्रहण करता है, वह उसी के पास जाता है। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ भगवान् यद्यपि सर्वदेशीय हैं, तथापि जिसने उन्हें अपना लिया उसी ने उन्हें पाया है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि भगवान् वीतराग हैं। उन्हें किसी से राग-द्वेष नहीं है। वह किसकी बाँह पकड़े और किसकी न पकड़े ? इसके अतिरिक्त अगर वह अरूपी सच्चिदानंद है तो किसी की बाँह नहीं पकड़ता है। फिर उसकी प्रार्थना अनावश्यक है। इसका समाधान करना आवश्यक है। कल्याण-मन्दिर स्तोत्र में कहा है—

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त ।
यद्वा दृतिस्तरति तज्जलमेव नून—
मन्तर्गतस्य पवनस्य किलानुभाव ॥

कौन कहता है—कि तू जगत् का तारक है? अगर तू जगत् का तारक होता तो जगत् डूबता ही क्यों? धन्वन्तरि के होते हुए कोई रोगी रहे और क्षीर समुद्र की मौजूदगी में कोई प्यासा बना रहे तो आश्चर्य की बात है। इससे तो यही अनुमान होता है कि तू तारक नहीं है। मगर इसमें भी संदेह नहीं कि तू तारता अवश्य है। जो तेरा आश्रय लेते हैं अर्थात् अपने हृदय में तुझे धारण करते हैं, वे अवश्य तिर जाते हैं।

संसार की ओर दृष्टि लगाकर देखो तो मालूम हो जायगा कि परमात्मा किस प्रकार तारता है? मशक को यों ही पानी में डाल दो तो वह डूब जायगी। अगर उसमें पवन भर दिया जाय और मुँह बन्द कर दिया जाय तो वह डूबेगी नहीं, पानी पर तैरेगी।

निश्चय ही मशक पवन के प्रभाव से तरती है। इसी प्रकार मशक में वायु की तरह जिसके हृदय मे परमात्मा विराजमान होगा, वही संसार-सागर से तिर सकता है। यद्यपि भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वव्यापक हैं, पर जब तक हम अपनी बाँह उन्हें दृढ़ता से न गहा दें अर्थात् उनकी भक्ति पर विश्वास करके उसमे तल्लीन न हो जाएँ, तब तक हम तिरने की आशा कैसे कर सकते हैं? इसीलिए ज्ञानी जन कहते हैं—मशक के लिए जैसा पवन है, मेरे लिए वैसा ही तू है।

भरोसो आपको भारी,
विचारो विरुद उपकारी।

मुझे केवल आपका ही भरोसा है। मेरी बाँह आप पकड़ लीजिए। किसी भी समय, कैसे भी कर्म उदय में आवें, मुझे तेरा ही ध्यान बना रहे।

मशक पर चाहे जैसे चित्र बने हों और चाहे जैसे रंग चढ़ा हो, वह तब तक नहीं डूबेगी जब तक उसमें से हवा बाहर न निकल जाय। इसी प्रकार संसार में चाहे सुख हो या दुःख हो, गरीबी हो अथवा अमीरी हो या कंगाली हो, इन बातों की मुझे चिन्ता नहीं है। केवल तू अपनी अनन्य ज्योति के साथ मेरे हृदय में विराजमान रहे, बस यही मैं चाहता हूँ। संसार के सब पदार्थों के होने या न होने से काम चल जाय, परन्तु तेरे बिना काम न चले। ऐसा दृढ़ विश्वास मुझे प्रदान कर।

मेरे हृदय में एक बात और आई है। वह भी कह देता हूँ। एक कवि सरोवर के किनारे खड़ा था। उसने देखा कि सूर्य के ताप से सरोवर का जल सूख रहा है। कई पक्षी सरोवर के किनारे के वृक्षों पर बैठे हैं और भ्रमर कमल-रस पीने के लिए उड़ रहे हैं। सरोवर में मछलियाँ भी हैं। यह सब देखकर कवि ने सोचा—सरोवर सूख जाय या न सूखे, इन पक्षियों को इस बात की परवाह नहीं है। अगर सूख गया तो पक्षियों का क्या बिगड़ेगा? वे अपने पखों से आकाश में उड़कर दूसरे सरोवर पर चले जाएँगे। और यह भौंरें, जो इस समय सरोवर के कमलों का मधुपान कर रहे हैं, सरोवर के सूखने पर उड़ कर दूसरे फूलों पर चले जाएँगे। परन्तु बेचारी यह मछलियाँ कहाँ जाएँगी? ऐसा विचार कर कवि सरोवर से अनुनय करने लगा—हे सर! तेरे सूख जाने की चिन्ता इन पक्षियों और भँवरों को नहीं है, परन्तु इन दीन और अनन्यशरण मछलियों की क्या गति होगी? यह तेरे ही साथ जन्मी हैं और तेरे ही साथ मरेंगी। इसलिए तू इनके वास्ते सजल बना रह। इनके लिए तेरे सिवाय और कोई गति नहीं है।

कवि की इस उक्ति को सुनाने का अभिप्राय यह है कि आज लोग पक्षियों और भौंरों की तो मनुहार करते हैं पर बेचारी मछलियों को कोई पूछता तक नहीं। जो लोग झूठी प्रशंसा करना जानते हैं उनका सत्कार होता है और अपने आश्रितों को दुत्कारा जाता है। किन्तु याद रखना चाहिए कि झूठी प्रशंसा करने वाले पक्षियों और भौंरो की तरह उड़ जाएँगे और जल को निर्मल रखने वाली तथा जल की शोभा बढ़ाने वाली मछली के समान आश्रित लोग, मछली की ही तरह मिट जाएँगे। ऐसा समझ कर आश्रित लोगों के साथ प्रेम रखने में ही बड़प्पन है।

मित्रो! परमात्मा से प्रार्थना करो कि मैं मीन हूँ और तू सरोवर है। मैं अपने शरीर के लिए प्रार्थना नहीं करता। पौद्-गलिक शरीर तो अनन्त बार मिला है। पर यह दीन आत्मा रूपी मीन तेरे ही आश्रित है। अतएव तेरे प्रेम का पानी न सूखे, यही प्रार्थना है।

[ख]

कुन्थु जिनराज तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो।

भगवान् कुन्थुनाथ की यह प्रार्थना है। परमात्मा की प्रार्थना मे अमोघ शक्ति है। अमोघ उसे कहते हैं जो निष्फल न जावे। परमात्मा की प्रार्थना की शक्ति सदैव सफल है। दुनियाँ में कोई लोग अपनी बड़ाई के लिए यह विज्ञापन किया करते हैं कि हमारी दवा राम बाण है। हमारा इलाज और कार्य राम बाण है। अर्थात् राम का बाण चूके तो हमारी दवा का भी लक्ष्य चूके—लाभ न करे। कई लोग रामबाण के नाम पर इस प्रकार का विज्ञापन करके अपना व्यवसाय चलाते हैं। मगर मै कहता हूँ कि परमात्मा की प्रार्थना अमोघ है।

शंका हो सकती है कि जिस प्रकार व्यवसायी अपना-व्यवसाय चलाने के लिए दवा को रामबाण—अमोघ—कहते हैं, उसी प्रकार प्रार्थना के विषय में भी तो नहीं कहा जाता है? शंकाशील के लिए सर्वत्र शंका को स्थान है किन्तु परीक्षा और पहचान करने से शंका का निवारण भी हो सकता है। परमात्म-प्रार्थना की शक्ति अमोघ और सफल है, यह बात मिथ्या प्रशंसा में नहीं कही गई है। और यह भी स्पष्ट है कि ऐसा कहने वाले का इसमें कोई स्वार्थ नहीं है। यह बात सर्वथा सत्य है और जिन्होंने परीक्षा की है उन्हें किसी तरह का सन्देह भी नहीं है।

राम के बाण हमने नहीं देखे। केवल ग्रन्थों मे उनकी अमोघता का वर्णन आया है और इसी आधार पर हम विश्वास करते हैं कि राम के बाण व्यर्थ नहीं जाते थे। वह ग्रन्थ सत्पुरुषों ने निःस्वार्थ भावना से बनाये हैं, इस कारण उन पर विश्वास किया जाता है। वास्तव में चाहे चन्द्र से आग गिरने लगे और पृथ्वी उलट जाय, किन्तु सत्पुरुष झूठ कदापि नहीं लिख सकते। उनके वचन किसी भी अवस्था में झूठे नहीं हो सकते। ऐसे सत्पुरुष जब राम का बाण अचूक कहते हैं तो समझना चाहिए कि वे राम-बाण के सम्बन्ध में उतना नहीं कह रहे हैं, जितना राम के नाम की शक्ति के विषय मे कह रहे हैं। ऐसी स्थिति में बाण के विषय में कही गई उनकी बात पर विश्वास करने और नाम के विषय मे कही गई बात पर अविश्वास करने का क्या कारण हो सकता है? नाम के विषय में वह मिथ्या कथन क्यों करेंगे? अगर आप नाम के विषय में कही गई उनकी बात सत्य मानते हैं तो जो बात उन्होंने कही है वही बात परमात्मा की प्रार्थना के विषय में भी कही गई है। जिस तरह उनकी कही बात पर विश्वास करते हो, उसी तरह परमात्मा की प्रार्थना

की शक्ति के विषय में भी पूर्वकालीन अनेक महात्माओं ने जो कुछ कहा है, उस पर विश्वास करो। प्रार्थना की शक्ति के विषय में हम अपनी ओर से कुछ नहीं कहते हैं, पूर्वकाल के महात्माओ का कथन दोहराते हैं। हम उनकी उच्छिष्ट वाणी ही सुनाते है। अतएव प्रार्थना की शक्ति के विषय मे सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

परमात्मा की प्रार्थना में अमोघ शक्ति है, यह बात कहना तो सरल है, लेकिन उसे प्राप्त करना कठिन मालूम होगा। परन्तु महापुरुष को कोई बात कहना तो कठिन जान पड़ता है, करना उतना कठिन नहीं जान पड़ता। इसलिए हमें सावधान होकर वे ही शब्द निकालने चाहिए, जिन्हे हम अमल मे ला सकते हो। जितना कर सकते हो, उतना ही कहो और जो कुछ कहते हो उसके करने की अपने ऊपर जिम्मेवारी समझो। इस तरह स्वच्छ चित्त होकर एकाग्रतापूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करने वाला और परमात्म-प्रार्थना द्वारा उसकी अमोघ शक्ति प्राप्त करने वाला सुकृति का भण्डार बन जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है—आपने परमात्मा की प्रार्थना के विषय में जो कुछ कहा है सो ठीक, मगर परमात्मा कहाँ है? उसका स्वरूप क्या है? साम्प्रदायिक भेद के कारण परमात्मा के स्वरूप में इतनी भिन्नता मालूम होती है और उसकी प्रार्थना करने की रीति मे भी इतनी विभिन्नता है कि इस दशा मे परमात्मा के किस रूप को और प्रार्थना की किस विधि को सत्य मानें? इन बातो का ठीक-ठीक पता कैसे लग सकता है?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए महापुरुषों ने बहुत सरल मार्ग बताया है। इसी प्रार्थना में कहा है:—

तुम्हीं-हम एकता मानूं, द्वैत भ्रम कल्पना मानूं।

हे प्रभो ! जो तू है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही तू है। 'यः परमात्मा स एवाहं योऽहं सः परमस्तथा।' सोऽहं और हं-स। इस प्रकार हे प्रभो ! तुझमें और मुझ में कुछ अन्तर ही नहीं है।

यह कथन ऊपरी नहीं, भक्तों की गहरी आत्मानुभूति का उद्गार है। जो आत्मा औपाधिक मलिनता को एक ओर हटाकर, अन्तर्दृष्टि होकर—अनन्यभाव से अपने विशुद्ध स्वरूप का अवलोकन करता है और समस्त विभावों को आत्मा से भिन्न देखता है, उसे सोऽहं के तत्त्व की प्रतीति होने लगती है। बहिरात्मा पुरुष की दृष्टि में स्थूलता होती है अतएव वह शरीर तक, इन्द्रियों तक या मन तक पहुँच कर रह जाती है, और उसे इन शरीर आदि में ही आत्मत्व का भान होता है, मगर अन्तरात्मा पुरुष अपनी पैनी नजर से शरीर आदि से परे सूक्ष्म आत्मा को देखता है। उस आत्मा में असीम तेजस्विता, असीम बल, अनन्त ज्ञानशक्ति और अनन्त दर्शनशक्ति देख कर वह विस्मित-सा हो रहता है। उसके आनन्द का पार नहीं रहता। ऐसी ही अवस्था में उसकी वाणी से फूट पड़ता है—

सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणतणाणादि-गुणसमिद्धोऽहं।

अर्थात्—मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अनन्त ज्ञानादि गुणों से समृद्ध हूँ।

इस प्रकार जब परमात्मा में और आत्मा में अन्तर ही नहीं है, तब उसके रूप आदि के विषय में किसी प्रकार का सन्देह होने का क्या कारण है ?

लेकिन फिर यह प्रश्न खड़ा हो सकता है कि कहाँ तो मोह के चक्कर में पड़कर नाना प्रकार की अनुचित चेष्टा करने वाले और घृणित काम करने वाले हम लोग और कहाँ शुद्ध-स्वरूप परमात्मा ! हमारी और उसकी समानता भी नहीं हो सकती तो एकता तो होगी ही कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से ऊपर आ गया है। मतलब यह है कि इस तरह उपाधि-भेद तो अवश्य है, लेकिन वस्तु का शुद्ध स्वरूप देखने वाले निश्चय नय के अभिप्राय से और संग्रह नय के अनुसार 'एगे आया' आगम वाक्य से परमात्मा एवं आत्मा मे कोई अन्तर नही है। 'एगे आया' इस कथन में सिद्ध भी आ जाते हैं और समस्त संसारी जीव भी आजाते है। जो कुछ भेद है, उपाधि मे है, आत्मा में कोई भेद नहीं है। मूलद्रव्य के रूप में परमात्मा और आत्मा का कोई भेद होता तो आत्मा समस्त विकारों और आवरणों को दूर करके परमात्मा नहीं बन सकता था। अगर कोई भी आत्मा, परमात्मा नहीं बन सकता होता तो समस्त साधना निष्प्रयोजन हो जाती। मगर ऐसा नहीं है। साधक पुरुष अपनी साधना द्वारा आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास करता हुआ और विकारों को क्षीण करता हुआ अन्त मे पूर्णता और निर्विकारता प्राप्त कर लेता है और वही परमात्म-दशा है। उपाधि के कारण आत्मा और परमात्मा मे जो भेद है उसी को मिटाने के लिए प्रार्थना करनी होती है। अतएव उपाधि का भेद होने पर भी यह समझने की आवश्यकता नहीं कि मुझ में और परमात्मा में मूल से ही कोई वास्तविक भेद है।

एक बात और है। कर्म करने वाला तथा कर्म का फल भोगने वाला यह आत्मा ही है। फिर प्रार्थना करने वाला और

प्रार्थना का फल पाने वाला भी आत्मा ही ठहरता है या नहीं? ऐसी अवस्था में शंका का कारण ही क्या है?

भावनिक्षेप दो प्रकार का है—आगम भावनिक्षेप और नोआगम भावनिक्षेप। आगम भावनिक्षेप के अनुसार भगवान् महावीर में तल्लीन रहने वाला स्वयं ही महावीर है। जब क्रोध का स्मरण करने वाला अर्थात् क्रोध के उपयोग में उपयुक्त आत्मा क्रोध, मान मे उपयुक्त आत्मा मान, उच्च में उपयुक्त आत्मा उच्च और नीच के उपयोग मे उपयुक्त आत्मा नीच माना जाता है तो भगवान् के उपयोग मे उपयुक्त (तल्लीन) आत्मा भगवान् ही है, ऐसा मानने में सदेह कैसे किया जा सकता है? ऐसी अवस्था मे जिस पानी से मोती निपजता है, उसे कीचड़ मे डालकर खराब क्यों करना चाहिए? प्रार्थना के उस पवित्र पानी को आत्मा में क्यों न उतारना चाहिए कि जिससे बहुमूल्य मोती बने।

जिस प्रार्थना की शक्ति अमोघ है, वह प्रार्थना करने की तबीयत किसकी न होगी? ऐसी प्रार्थना सभी करना चाहेंगे, मगर देखना यह है कि अन्तराय कहाँ है? वस्तु भेद से तो अन्तराय के अनेक प्रकार है मगर सामान्य रूप से स्वार्थबुद्धि आने से अन्तराय होता है। यों तो संसार मे स्वार्थों की सीमा नहीं है, किन्तु जहाँ स्वार्थ नहीं है वहाँ पर भी लोग काल्पनिक विचारों मे पड़कर ऐसे विचार कर बैठता है, जो प्रार्थना के मार्ग में अन्तराय करने वाले हो जाते हैं। काल्पनिक विचारों में घुल जाना, उन पर आरूढ हो जाना प्रार्थना के मार्ग में बड़ा अन्तराय है। इस अन्तराय की चिन्ता अनेक कवियों और शक्तिशाली पुरुषों को भी हुई है। सर्वसाधारण के ऐसे काल्पनिक विचार देखकर उन्हें भी चिन्तित होना पड़ा है। कहा जा

सकता है कि किसी में अगर कोई बुराई है तो उन्हें चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ? दूसरा कोई कुमार्ग में जाता है तो जाय, हम उसके लिए चिन्तित क्यों हों ? मगर बेटा के बिगड़ने पर बाप को चिन्ता होती है या नहीं ? बिगड़े बेटे की चिन्ता करना बाप का फर्ज माना जाता है। आप स्वयं अपने बेटे की चिन्ता करते हैं। यह बात दूसरी है कि आपने अपनी आत्मीयता का दायरा संकीर्ण बना लिया है। आप अपने बेटे-पोते आदि घर वालों को ही अपना समझते हैं और उनके अतिरिक्त दूसरों को गैर समझते हैं। मगर जिनका ममत्व फैल कर प्राणीमात्र तक पहुँच गया है, संसार के समस्त प्राणियों को जो आत्मवत् मानते हैं, जिन्होंने 'एगे आया' का सिद्धान्त अपने जीवन में घटाया है, उनके लिए तो सभी जीव अपने हैं, कोई पराया नहीं है। ऐसी दशा मे जैसे आप अपने बेटे की चिन्ता करते हैं उसी प्रकार उदार भाव वाले ज्ञानी पुरुष प्रत्येक जीव की चिन्ता करते हैं। इस प्रकार की चिन्ता के कारण ही उन्होंने परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहा है :—

> कौन जतन विनती करिये ।
> निज आचरण विचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ।। कौन० ।।
> जानत हूँ मन वचन कर्म करि परहित कीने तरिये ।
> सो विपरीत देखि कै पर सुख बिन कारण ही जरिये ।। कौन० ।।

वह कहते हैं—हे नाथ ! हे प्रभो ! मैं आपकी विनती कैसे करूँ ? कहाँ तो तुम्हारे समान मेरा स्वरूप, कहाँ 'एगे आया' मानकर तेरे और मेरे स्वरूप को एक मानने वाला मैं और कहाँ मेरे आचरण ? मैं इन आचरणों को देखकर विचार में पड़ जाता

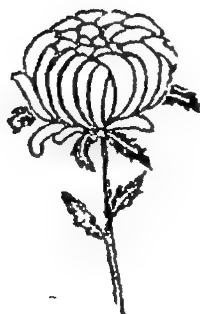
हूँ कि, हे नाथ ! किस प्रकार तेरी प्रार्थना करूँ ! किस मुँह से मैं तेरे सामने आऊँ ?

जो मनुष्य राजा की चोरी करता है या राजा की आज्ञा तथा उसके बनाये नियमों की अवज्ञा करता है, उसे राजा के सामने जाने में संकोच होगा या नहीं ? अवश्य होगा ! क्योंकि उसका आचरण उसे भयभीत करेगा । इसी प्रकार भक्त कहता है—प्रभो ! मैं अपना आचरण देखकर स्वयं ही डरता हूँ । मेरा आचरण ही प्रकट कर रहा है कि मैंने तेरी सत्ता को नहीं माना और तेरी चोरी की है ।

भक्त अपने में ऐसी क्या कमी देखते हैं ? यह तो सभी जानते हैं कि तन, मन, धन और जन से जितना भी बन सके, परोपकार करना चाहिए । परोपकार करना धर्म है, यह कौन नहीं जानता ? 'परोपकाराय सतां विभूतयः' और 'परोपकारः पुण्याय' इत्यादि उपदेश वाक्य भी बहुत-से लोगों ने सुने हैं । भक्त जन कहते हैं—'मुझ से परोपकार होना तो दरकिनार, मैं इससे विपरीत ही वर्त्ताव करता हूँ । मैंने किसी को सुखी नहीं बनाया, इतना ही नहीं, बल्कि मेरी करतूत तो यह है कि दूसरे को सुखी देखकर मेरे दिल में ईर्षा का दावानल सुलगने लगता है । इस प्रकार मेरे हृदय में उपकार की भावना के बदले अपकार की भावना उत्पन्न होती है । दूसरे ने मुझसे सुख नहीं पाया, सम्पत्ति नहीं पाई, फिर भी मुझसे उसकी सुख-सम्पत्ति नहीं देखी जाती । जब मेरा यह स्वभाव है तो मैं परोपकार क्या करूँगा ? और अपनी इस निकृष्ट दशा में तेरी क्या प्रार्थना करूँ ?

प्रभु की प्रार्थना में यह अन्तराय सबसे बड़ा है । अगर आप किसी का उपकार नहीं कर सकते तो न सही, मगर कम

से कम इतना तो करो कि दूसरों को देख कर जलो मत। स्वयं किसी का उपकार नहीं कर पाते या प्रत्युपकार नहीं कर सकते तो खैर, लेकिन जिन्होंने आपके ऊपर उपकार किया है, उनका उपकार तो मत भूलो। इतना तो कर ही सकते हो। इतना करने मे भी कल्याण है।



१८ श्री अरहनाथ



प्रार्थना

अरहनाथ अविनाशी शिव सुख लीधो,
विमल विज्ञान विलासी साहब सीधो ॥१॥

चेतन भज तू अरहनाथ ने, ते प्रभु त्रिभुवन राय ।
तात 'सुदर्शन' 'देवी' माता, तेहनो पुत्र कहाय ॥२॥

कोड़ जतन करता नहीं पामें, एहवो मोटी माम ।
ते जिन भक्ति करो ने लहिये, मुक्ति अमोलक ठाम ॥३॥

समकित सहित किया जिन भगती, ज्ञान दर्शन चारित्र ।
तप वीरज उपयोग तिहारा, प्रगटे परम पवित्र ॥४॥

स्व उपयोग सरूप चिदानन्द, जिनवर ने तू एक ।
द्वैत अविद्या विभ्रम मेटो, वाधे शुद्ध विवेक ॥५॥

अलख अरूप अखण्डित अविचल, अगम अगोचर आप ।
निरविकल्प निकलंक निरंजन, अद्भुत ज्योति अमाप ॥६॥

ओलग्व अनुभव अमृत याको, प्रेम सहित रस पीजे ।
हूं-तू छोड 'विनयचन्द' अन्तर, आतमराम रमीजे ॥७॥



आज भक्ति के रूप में परमात्मा की प्रार्थना की जाती है। भक्ति में क्या शक्ति है और भक्ति करने से किस शान्ति की प्राप्ति होती है, यह बातें समझ लेना अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु इन्हें समझने के लिए विस्तार की अपेक्षा है। थोड़े-से समय में और शब्दों में इनका पर्याप्त विवेचन होना सम्भव नहीं है। फिर भी संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया जाएगा।

जो भक्ति करता है, जिसने भक्ति की है या जिसे भक्ति का अनुभव है, उसके लिए कुछ कहना और न कहना—दोनों बराबर हैं। हाँ, जो भक्ति की शक्ति से अनभिज्ञ हैं, उनके लिए ही कुछ कहने की आवश्यकता है।

जो वस्तु करोड़ों उपाय करने पर भी नहीं मिल सकती वह परमात्मा की भक्ति से सहज ही मिल जाती है। प्राणी साधारण वस्तु से भी प्रेम के द्वारा ही लाभ उठा सकता है, दूसरे उपाय से नहीं। प्रेम-भक्ति ही ऐसी चीज है जो पराये को अपना बना लेती है।

बिना भक्ति के बाप बेटे का और बेटा बाप का नहीं होता। बेटा बाप की भक्ति न करे, उसकी सेवा न करे तो वह अधिकारी होने पर भी पिता की सम्पत्ति से वंचित रह जाता है। इसके विपरीत जो भक्ति करता है वह सम्बन्धी न होने पर भी उसके सर्वस्व का स्वामी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि हृदय का दुराव न रख कर अगर सेवा-भक्ति की जाती है तो जिसकी भक्ति की जाती है वह खुशी-खुशी अपने प्राण तक दे देता है।

जिस प्रकार पिता को भक्ति से प्रसन्न करके पुत्र उसकी सम्पत्ति को प्राप्त करता है, उसी प्रकार परमात्मा की भक्ति से हमें सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

व्रत करो, नियम करो, तपस्या की अग्नि में शरीर को सुखा डालो, लेकिन आपके हृदय में अगर विश्वास नहीं है तो यह सब निरर्थक है। विश्वास करने और उसमें तल्लीन होने से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। अतएव भक्ति में तल्लीनता होनी चाहिए।

[ख]

प्रार्थना का विषय अगाध है। जिस प्रकार गोताखोर को एक-एक मोती मिल जाने से उसे लत पड़ जाती है और वह लत फिर गोता लगाने की प्रेरणा करती है; उसी प्रकार भक्त जन परमात्मा की अनन्त गुणराशि रूपी महासागर में गोता लगाते हैं और गुण-रत्न उपलब्ध करके निहाल हो जाते हैं। इस प्रार्थना में कहा है—

चेतन! भज तू अरहनाथ को।

अर्थात्—हे चेतन! तू अरहनाथ भगवान् का भजन कर। चेतन का अर्थ आत्मा है। मैं आत्मा हूँ, तुम आत्मा हो और सभी जीवधारी आत्मा हैं। चैतन्य की अपेक्षा से सभी जीव एक हैं। फिर भी मनुष्य योनि में चेतना का विकास अपेक्षाकृत अधिक होता है। अतः मनुष्य की योनि पाकर विशेष रूप से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। जिसने मनुष्यजन्म पाकर परमात्मा का भजन नहीं किया और जड़ को भजा, उसने, मानों चिन्तामणि रत्न को पाकर वृथा गँवा दिया।

परमात्मा के ध्यान में एक विशाल वस्तु खड़ी है। उसे मैं आप लोगों को कैसे समझाऊँ? वहाँ पहुँच कर वाणी मूक हो जाती है। इस कारण जानते हुए भी कहने मे असमर्थ हूँ। जब मेरी यह दशा है तो महाज्ञानी के मन मे यह वस्तु कैसी होगी?

ससार मे तुम विचित्र रचना देखते हो, पुरुष तथा स्त्री की चेष्टा देखकर खुश हो जाते हो, पर यह क्यों नहीं सोचते कि यह चेष्टा किसकी है? ऊपर को देखकर भीतर को मत भूलो। मुर्दा कुछ नहीं कर सकता। जो कुछ करता है, आत्मा ही करता है। चित्रकार चित्र बनाता है, पर दोनों में कौन बड़ा है? चित्र बड़ा है या चित्रकार?

'चित्रकार।'

फिर भी लोग चित्र पर मुग्ध होजाते हैं, और चित्रकार को भूल जाते हैं। इसलिए भक्त जन प्रेरणा करते हैं:—

चेतन! भज तू अरहनाथ को,
ते प्रभु त्रिभुवन-राया।

भाइयो! यह चिदानन्द कौन है, जिसकी रचना से यह संसार ऐसा है?

मकड़ी अपने शरीर में से तन्तु निकाल कर जाल बनाती है। वह जाल बनाती है दूसरे जीवों को फँसाने के लिए, परन्तु भान भूल कर आप स्वयं ही उसमे उलझकर मर जाती है। ऐसी ही दशा इस ससार की हो रही है। मनुष्य अपनी चित् शक्ति से सुख प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं किन्तु उन्हे सुख के बदले दुःख

की प्राप्ति होती है। जीव को अनादि काल से ऐसी आदत पड़ रही है। इस आदत को सुधारने के लिए ही ज्ञानी जन कहते हैं कि अगर तू चेतन है तो परमात्मा को भज। आत्मा और परमात्मा की जाति एक ही है। इस कारण परमात्मा जिस पद पर पहुँच चुके हैं, उस पर तू भी पहुँच सकता है। एक कवि ने कहा है—

आतम परमातम पद पावे;
जो परमातम में लौ लावे।
सुन के शब्द कीट भृंगी का,
निज तन मन की सुधि विसरावे।
देखहु प्रकट ध्यान की महिमा,
सोऊ कीट भृंग होय जावे ॥

पृथ्वी पर पेट घिस-घिस कर चलने वाला एक कीड़ा है। वह पृथ्वी से पांच अंगुल भी ऊपर नहीं उठ सकता। उसे एक भँवरी मिल गई। भँवरी ने उसे उठा कर अपने घर में रख लिया और घर को मिट्टी से मूँद दिया। कहते हैं, १७ दिन में वह कीड़ा परिपक्व हो जाता है। तब तक भँवरी उस कीड़े के आसपास गुन-गुन करके मंत्र सा सुनाया करती है। वह लट भँवरी की संगति से आसमान में उड़ने लगती है। तो हे आत्मा! तू विश्वास कर, परमात्मा की संगति से तू आकाश में इस तरह उड़ने लगेगा कि तेरी गति का ओर-छोर नहीं होगा।

आप लोगों को पेट-घिसनी आदत बुरी लगती है अर्थात् बार-बार जन्म-मरण करने से अगर आप ऊबता गये हों तो उससे छूटने का उपाय यही है। यदि बुरा न लगता हो तो फिर क्या कहा जाय?

कवि ने कहा है—

कोड़ जतन करता नहीं लहिये,
एवी मोटी माम।

अर्थात् करोड़ों यत्न करने से भी जो काम नहीं होता, वह काम आत्मा को परमात्मा के समर्पण कर देने से हो जाते हैं।

मित्रो ! आप पेट घिसते रहना चाहते है या आकाश में उडना चाहते हैं ? आप मेरे पास आये हो तो जो मैं कहता हूँ वह करो। आपको पेट घिसते नहीं रहना है, आकाश मे उड़ना है तो आत्मा को थोड़ी-थोड़ी ऊँची करो। ऐसा करने से वह धीरे-धीरे ऊँची ही ऊँची उठती चली जायगी।

आकाश में उड़ने का अर्थ यह नहीं है कि आप पक्षियों की तरह उड़ने लगें, बल्कि सांसारिक पुद्गलों का मोह त्यागना आकाश में उड़ना है। किसी दूसरे ने तुम्हे बंधन मे नहीं बाँधा है, वरन् तुमने आप ही अपने को बधन से जकड़ लिया है। सासारिक पदार्थों से जब आत्मा चिपट जाती है तो उसे परमात्मा नहीं दीखता। जिस दिन आपके अन्तःकरण मे यह भाव जागेंगे कि आप भूल कर रहे हैं—पुद्गलों से प्रेम कर रहे हैं—उसी दिन आत्मा को परमात्मा मिलते देर नहीं लगेगी। एक कवि की कविता से मैं इस बात को समझाने का प्रयत्न करूँगा उसका आशय यह है कि :—सखी, तेरे उदास रहने का कारण मैं समझ गई। तेरे पति को किसी नीच ने भरमा दिया है। इस कारण वह तुझे कष्ट देता है। तेरे पति का कोई दोष नहीं है। वह तो सगति से भरम रहा है।

इसके उत्तर मे सखी कहती है—उस भरमाने वाले का अपराध नहीं। भूल तो मेरे पति की ही है जो खुशी से उसके पास जाता है।

इस बात को आप भलीभांति समझे नहीं होंगे। मैं चिदानन्द के विषय में यह बात कह रहा हूँ। चिदानन्द की दो स्त्रियाँ हैं—एक सुमति और दूसरी कुमति। कुमति, सुमति से कहती है—इस चिदानन्द को छह में से एक ने बहकाया है। इस कारण यह पुद्गल द्रव्य के इशारे पर नाचता है। पुद्गल इसे नाना प्रकार से नाच नचाता है।

सुमति ने कहा—पुद्गल जड़ है। उसकी क्या ताकत कि वह चैतन्य को नचा सके। यह तो चिदानन्द की ही भूल है जो अपने स्वरूप को न पहचान कर पुद्गल के भ्रम मे पड़ रहा है।

ससार का यह मायाजाल वास्तव मे पुद्गल की ही रचना है। पुद्गल जड़ है और मिलना तथा बिछुड़ना उसका धर्म है। मगर चिदानन्द ने उस मायाजाल को अपना मान लिया है। ज्ञान होने पर माया चिदानन्द के पास ठहर नहीं सकती, परन्तु जब तक अज्ञान है तब तक वह भ्रम में पड़ा हुआ है। जड़ वस्तुओं का कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है। फिर भी चिदानन्द वास्तविकता के मर्म को नहीं समझता और 'यह मेरा यह मेरा' इस प्रकार की ममता के जाल मे फँसा हुआ है।

मित्रो ! अगर आपको पेट-घिमनी आदत छोड़नी हो तो विचार करो कि यह शरीर तुम्हारा है या तुम इस शरीर के हो ? इस शरीर को शरीर नाम देने वाला चिदानन्द ही है। तुम मोती

को अपना कहते हो परन्तु अपना कहने वाला चिदानन्द है। अतएव मोती के तुम न बनो। भलीभाँति समझ लो कि तुम मोती के नहीं हो, मोती तुम्हारा है। इन दोनो प्रकार के कथन में क्या अन्तर है ?

अगर तुम मोती के होओगे तो मोती तुम को नहीं छोड़ेगा और तुम मोती की रक्षा के लिए अपने को निछावर कर दोगे। मोती के लिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, नीति-अनीति और पुण्य-पाप आदि का भी विचार न करोगे। इसके विपरीत अगर मोती मेरा है, ऐसा सोचोगे तो मोती के लिए धर्म का त्याग नहीं करोगे। मोती जाय तो जाय, मगर धर्म न चला जाय, इस बात का पूरा ध्यान रक्खोगे।

जैनधर्म की यह विशिष्टता है कि उसकी छत्र छाया में आश्रय लेने वाला कोई भी पुरुष हजार रुपया देने पर भी किसी क्षुद्र जीव को भी मारने के लिए तैयार न होगा। मगर यह तुम्हारी उपज नहीं है। बल्कि पूर्वाचार्यों ने कुल—धर्म में इस मर्यादा को सम्मिलित कर दिया है। तुम्हारी कमाई तो तब समझे जब झूठ न बोलो। आज लोग एक दमड़ी के लिए झूठ बोलने में सकोच नहीं करते। यह कितने दुःख की बात है ! यह बात सिर्फ गृहस्थों मे ही नहीं, बल्कि कतिपय साधु भी धर्म का मर्म न समझ कर असत्य भाषण करने से नहीं डरते। लोकमान्यता और प्रतिष्ठा चले जाने के भय से साधु होकर भी धर्म के कार्य मे सत्य पर नहीं टिकते हैं !

अगर कोई गृहस्थ कीड़ी को न मारे किन्तु गरीब का कचूमर निकाल डाले तो उसे क्या दयावान् कहा जा सकता है !

यह सब पुद्गल के मायाजाल का प्रताप है। अगर वास्तविक कल्याण चाहते हैं तो आपको इस मायाजाल से नाता तोड़ना होगा। स्व-पर का भेदज्ञान करना होगा। भेद-विज्ञान हो जाने पर कल्याण का मार्ग आपके लिए खुल जायगा और अन्त में आप आत्मा के बदले परमात्मा बन जाएँगे।



१९ श्री मल्लिनाथजी



प्रार्थना

मल्लि जिन बालब्रह्मचारी, "कुम्भ" पिता "परभावती" मइया
तिनकी कुँवारी ॥ टेर ॥

मा नी कूँख कन्दरा मांही उपना अवतारी ।
मालती कुसुम-मालानी वाञ्छा, जननी उर धारी ॥ १ ॥

तिणथी नाम मल्लि जिन थाप्यो, त्रिभुवन प्रियकारी ।
अद्भुत चरित तुम्हारो प्रभुजी, वेद धर्यो नारी ॥ २ ॥

परणन काज जान सज आए, भूपति छह भारी ।
मिथिला पुर घेरी चौतरफा, सेना विस्तारी ॥ ३ ॥

राजा "कुम्भ" प्रकाशी तुम पै, बीती विधि सारी ।
छहुँ नृप जान सजी तो परणन, आया अहङ्कारी ॥ ४ ॥

श्रीमुख धीरज दियो पिता ने, राखो हुशियारी ।
पुतली एक रची निज आकृति, थोथी ढकवारी ॥ ५ ॥

भोजन सरस भरी सा पुतली, श्री जिन सिणगारी ।
भूपति छ' बुलवाया मन्दिर, थिच बहु दिन टारी ॥ ६ ॥

पुतली देख छहुँ नृप मोह्या, अवसर विचारी ।
ढंक उघार दियो पुतली को, भभक्यो अन्न भारी ॥ ७ ॥

दुसह दुगन्ध सही ना जावे, उठ्या नृप हारी ।
तब उपदेश दियो श्रीमुख से, मोह दशा टारी ॥ ८ ॥

महा असार उदारिक देही, पुतली इव प्यारी ।
संग किया भटके भव-दुःख में, नारी नरक-वारी ॥ ६ ॥

भूपित छः प्रतिबोध मुनि हो, सिद्धगति सम्भारी ।
"विनयचन्द" चाहत भव-भव में, भक्ति प्रभू थारी ॥१० ॥

यह भगवान् मल्लिनाथ की प्रार्थना की गई है। परमात्मा की प्रार्थना जीवन के उच्च होने की डोरी है। प्रार्थना से आत्मा ऊर्ध्वगामी बनता है। प्रार्थना करने वाला और जिसकी प्रार्थना की जाय वह, कैसे हों, इसमें मतभेद हो सकता है। यों तो प्रत्येक आस्तिक किसी न किसी रूप में परमात्मा की प्रार्थना करता है और प्रार्थना द्वारा आत्मा को ऊपर चढ़ाने की इच्छा रखता है, परन्तु सब प्रार्थनाओं में विशेष प्रार्थना कौन-सी है, यह विचारणीय बात है।

आर्य देश के निवासियों द्वारा की जाने वाली परमात्मा की प्रार्थना मे और आर्य देश से बाहर वालों की प्रार्थना में बहुत अन्तर है। वह अन्तर इतना अधिक है जितना आकाश और पृथ्वी मे है। आर्य देश से बाहर के लोगों की प्रार्थना में गुलामी का भाव भरा रहता है। वे समझते हैं कि ईश्वर एक व्यक्ति विशेष है और हम सब उसके अधीनस्थ जीव हैं। हम अपनी सहायता करने के लिए उससे प्रार्थना करते हैं। जैसे राजा के सामने किसी चीज की याचना करने से राजा सहायता देता है, उसी प्रकार ईश्वर हम से बड़ा है, हम उसकी प्रार्थना करेंगे तो वह हमारी कुछ मदद करेगा।

आर्य देश से बाहर के लोगों की प्रार्थना की मूल दृष्टि यह है। जब इङ्गलैंड और जर्मनी में युद्ध चला था तब बादशाह तथा अन्य ईसाई लोग गिर्जाघर में जाकर प्रार्थना करते थे। वह प्रार्थना क्या थी ? बस, यही कि–'हे परमात्मा ! जर्मनी को हरा दे और हमें विजय दे ।' मगर यह बात विचारणीय है कि परमात्मा ऐसा क्यों करेगा ? क्या वह इङ्गलैंड का ही है ? जर्मन प्रजा क्या उसकी प्रजा नहीं है ? इसके सिवा जैसे इङ्गलैंड ने

परमात्मा से अपनी विजय की और जर्मनी के पराजय की प्रार्थना की है, उसी प्रकार जर्मनी में भी तो अपनी विजय और शत्रु के पराजय की प्रार्थना की जाती थी। ऐसी दशा में तुम्हीं सोचो कि परमात्मा किसकी प्रार्थना स्वीकार करे और किसकी अस्वीकार करे? वह कहाँ जाए? किसे जय दिलावे और किसे पराजय दिलावे? ईश्वर के लिए तो दोनों देश समान हैं। अगर यह खयाल किया जाता हो कि ईश्वर तुम्हारा ही है, वह शत्रु-देश का नहीं है, तब तो तुम ईश्वर के ईश्वरत्व में ही बट्टा लगाते हो इस मान्यता से ईश्वर का ईश्वरत्व छिन जाता है। फिर या तो कोई ईश्वर न ठहर सकेगा या अलग-अलग देशों के अलग-अलग ईश्वर मान लेने पड़ेंगे।

फिर भी यह बीमारी इतने से ही शांत न होगी। जब किसी एक ही देश के दो प्रांतों में झगड़ा खड़ा होगा तब प्रान्त-प्रान्त का ईश्वर भी अलग-अलग हो जाएगा। इस प्रकार ईश्वर की अनेकता का रोग फैलते-फैलते व्यक्तियों तक पहुँचेगा और एक-एक व्यक्ति का ईश्वर भी अलग-अलग कल्पित करना पड़ेगा। अब सोचना चाहिए कि ऐसा ईश्वर क्या दरअसल ईश्वर कहलाएगा? लोगों में आपस में लड़ने की पाशविक वृत्ति इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि वे अपने साथ अपने भगवान् को भी अछूना नहीं छोड़ना चाहते। ईश्वर को भी लड़ाई में शामिल करना चाहते हैं। अगर उनका वश चले तो वे सांड़ों की तरह अपने-अपने भगवान को लड़ा-भिड़ा कर तमाशा देखें और अपनी पशुता प्रदर्शित करें। पर उनसे ऐसा करते नहीं बनता। इस कारण परमात्मा से अपनी विजय और शत्रु की पराजय की प्रार्थना करके ही संतोष मान लेते हैं।

लेकिन इस सम्बन्ध मे आज कुछ नहीं कहना है। हम तो यहाँ सिर्फ प्रार्थना के मूल मे रही हुई भावना की ही आलोचना करना चाहते हैं। उक्त कथन से यह स्पष्ट रूप मे समझा जा सकता है कि आर्य देश से बाहर के लोगों की प्रार्थना में बड़ा बेढंगापन है। उनके द्वारा की जाने वाली प्रार्थना की जड़ में गुलामी का भाव भरा हुआ है। उनके समीप ईश्वर के लिए भी समानता का सिद्धांत नहीं है। वे ईश्वर को भी समभावी के रूप में नहीं देखना चाहते।

वास्तव मे आत्मा और ईश्वर एक ही है। केवल प्रकृति के भेद से और कर्म की उपाधि से आत्मा और परमात्मा में अन्तर दिखाई देता है। लोगो ने भ्रम और अज्ञान के वश हो कर ईश्वर को व्यक्ति-विशेष के रूप में कल्पित कर लिया है। वास्तव मे ईश्वर कोई स्वतन्त्र व्यक्ति-रूप सत्ता नहीं है। वह आत्मा की शुद्ध और स्वाभाविक अवस्था है और उस अवस्था को प्राप्त करने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है। ईश्वर कहता है—कर्म का नाश करो। कर्म का नाश करने से मैं और तू एक हैं। आज जो प्रार्थी संसारी है, कर्मों से लिप्त होने के कारण शरीरधारी है और अनेक प्रकार के कष्ट उठा रहा है, वह कुछ दिन बीतने पर कर्मों को सर्वथा क्षीण करके, अशरीर बन कर परमात्मा हो जाता है। परमात्मा या सिद्ध कोई भिन्न व्यक्ति नहीं है।

परमात्मा का यही आदेश है—'मुझ में और तुझ मे कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो कुछ अन्तर आज दृष्टिगोचर होता है, वह सब औपाधिक है, आगन्तुक है और एक दिन वह मिट जायगा। इस औपाधिक अन्तर को दबा दे, मैं और तू एक हो जाएँगे।'

---

२० श्री मुनिसुव्रतनाथजी

प्रार्थना

श्री मुनिसुव्रत साहिबा, दीनदयाल देवाँ तणा देव के।
तारण तरण प्रभु मो भणी, उज्जल चित्त सुमरूँ नितमेव के ॥१॥

हूँ अपराधी अनादि को, जनम-जनम गुना किया भरपूर के।
लूंटिया प्राण छः कायना, सेविया पाप अठार करूर के ॥२॥

पूर्व अशुभ कर्तव्यता, तेहमें प्रभु तुम न विचार के।
अधम उधारण विरुद छे, सरण आयो अब कीजिये सार के ॥३॥

किंचित पुन्य परभावथी, इण भव ओलख्यो श्रीजिन धर्म के।
निवर्तू नरक निगोदथी, एहवो अनुग्रह करो परिब्रह्म के ॥४॥

साधुपणो नहि संग्रह्यो, श्रावक व्रत न किया अंगीकार के।
आदरिया तो न आराधिया, तेहथी रुलियो हूँ अनंत संसार के ॥५॥

अब समकित व्रत आदरयो, तेने अराधी उतरूँ भवपार के।
जनम जीतव सफलो हुव, इण पर विनवूं वार हजार के ॥६॥

"सुमति" नराधिप तुम पिता, धन-धन श्री 'पदमावती' माय के।
तस सुत त्रिभुवन तिलक तू, वदत 'विनयचन्द' सीस नवाय के ॥७॥

श्री मुनिसुव्रत सायबा !

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की यह प्रार्थना है। देखना चाहिए कि भक्त अपने भावों को भगवान् के समक्ष प्रार्थना द्वारा किस प्रकार निवेदन करते हैं? इस विषय को लेकर जितना भी विचार किया जायगा, उतना ही अधिक आनन्द अनुभव होगा। आनन्दायक वस्तु जितने अधिक समीप होगी, उससे उतना ही अधिक आनन्द मिलेगा। समुद्र की शीतल तरगें ग्रीष्म के घोर ताप से तपे पुरुष को शान्तिदायक मालूम होती हैं तो अधिक सन्निकट होने पर और भी अधिक शान्ति पहुँचाती हैं। पुष्प का सौरभ अच्छा लगता है लेकिन फूल जब अधिक नजदीक होता है तो उसकी खुशबू और ज्यादा आनन्द देने वाली होती है। इन लौकिक उदाहरणों से यह बात भलीभांति समझी जा सकती है कि परमात्मा की प्रार्थना जब समीप से समीपतर हो जाती है तब उसमें और भी अधिक माधुर्य प्रतीत होने लगता है। इस दशा में प्रार्थना की सरसता बहुत कुछ बढ़ जाती है और उसमें अपूर्व आस्वाद आने लगता है। परमात्मा की प्रार्थना का सन्निकट होना अर्थात् जिह्वा से ही नहीं, वरन् अन्तर से—अन्तरतर से—आत्मा से प्रार्थना का उद्भव होना। परमात्मा की प्रार्थना जब आत्मा से उद्भूत होती है तब आत्मा परमात्मा-पद की अनुभूति के अलौकिक आनन्द में डूब जाता है। उस समय उसे बाह्य संसार विस्मृत-सा हो जाता है। उस समय के आनन्द की कल्पना अनुभवगम्य है, वाणी उसे प्रकट करने में समर्थ नहीं है।

प्रार्थना अन्तरतर से हुई है या नहीं, यह जानने की कसौटी यही है कि अगर आपको प्रार्थना में अनिर्वचनीय आनंद

का अनुभव हुआ है—अद्भुत शान्त रस के सरोवर मे आप डूब गये हैं तो समझिए कि आपकी प्रार्थना समीप की है। अगर आपको यह स्थिति प्राप्त नहीं हुई तो मानना चाहिए कि प्रार्थना आत्मस्पर्शी नहीं है—ऊपरी है और उससे प्रार्थना का उद्देश्य पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकता। प्रार्थना के मार्ग मे आपको और आगे बढ़ना है—उच्चतर अवस्था प्राप्त करना है और अपनी अपूर्णता को हटाना है। जिस समय आपकी यह अपूर्णता दूर हो जायगी, उस समय आपको ससार के विषयभोग तृण के समान तुच्छ और रसहीन प्रतीत होने लगेंगे।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ऊपर से प्रार्थना बोलना उचित नहीं है? इसका उत्तर यह है कि चाहे आपकी प्रार्थना अन्तरतर से उत्पन्न हुई हो और आप उसके रस का आस्वादन करते हों, तब भी जिह्वा से प्रार्थना बोलना बन्द कर देने से व्यवहार उठ जायगा। अगर आपने आजीवन मौन साध लिया होता, वार्तालाप करना भी स्थगित कर दिया होता तो प्रार्थना बोलना बन्द कर देना भी कदाचित् ठीक कहा जा सकता था, लेकिन जब तक आपने ऐसा नहीं किया—सासारिक कार्यों में बोलना बन्द नहीं किया, तब तक प्रार्थना बोलना बन्द कर देना कहाँ तक उचित है? अगर आप रोटी-पानी का नाम लेना छोड़ चुके हों तो बात दूसरी है। अन्यथा दुनिया भर की पचायत करो और प्रार्थना बोलना छोड दो तो यह बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। उपर्युक्त आन्तरिक प्रार्थना का अर्थ यह कदापि नहीं कि आप वाचनिक प्रार्थना न करें। उसका आशय यह है कि जब आप वाचनिक प्रार्थना करें तो मन भी साथ रहे। ऐसा न हो कि मन तो इधर-उधर भटकता फिरे और अकेली जीभ

प्रार्थना के शब्दों का उच्चारण करती रहे। इस प्रकार की प्रार्थना का स्वाद आत्मा को और मन को नहीं आएगा। बेचारी जीभ तो खाने-पीने का स्वाद चख सकती है, वह प्रार्थना के रस को नहीं चख सकती। प्रार्थना का असली रस अनुभव करना है तो मन, वचन और काय—तीनों से प्रार्थना करो। वाणी से प्रार्थना का जो पावन पीयूष-प्रवाह बहे, उसमें मन निमग्न होकर पवित्र बन जाय तो प्रार्थना से कल्याण होगा। जो मन प्रार्थना के अर्थप्रवाह से दूर भागता फिरेगा, उसके पाप किस प्रकार धुलेंगे ?

कल्पना कीजिए, आपने किसी से पानी लाने के लिए कहा। आपके शब्द के आकर्षण से वह पानी ले आया। पानी आपके सामने आ गया। मगर पानी सामने आने से ही क्या प्यास बुझ जायगी ? नहीं। शब्द में शक्ति है और उस शक्ति से पानी आ गया, लेकिन पानी के आ जाने से ही प्यास नहीं बुझेगी। इसी प्रकार भूख लगने पर आपने भोजन मँगवाया। भोजन आ गया, मगर भोजन आ जाने से ही भूख नहीं मिट सकती। पानी पीने से प्यास और भोजन करने से ही भूख मिटेगी। इस प्रकार प्रयोजन सिद्ध करने के लिए दो व्यवहार हुए—एक वस्तु का आकर्षण करने के लिए बोलना और दूसरा आकर्षित वस्तु का उपयोग करना। सांसारिक कार्यों में आप दोनों व्यवहार करने से नहीं चूकते लेकिन परमात्मा की प्रार्थना करने में भूल होती है। आप प्रार्थना बोलते हैं और बोलने से प्रार्थना का आनन्द रूपी जल आपके पास आता भी है, मगर जब तक आप उसका पान नहीं करेंगे, तब तक आनन्द मिले कहाँ से ? प्रार्थना के परिणाम स्वरूप फिर शान्ति मिले कैसे ? अतएव वाणी द्वारा ऊपर

से भी प्रार्थना करो और मन के द्वारा आन्तरिक प्रार्थना भी करो। दोनों का समन्वय करने से आप कृतार्थ हो जाएँगे। आपको कल्याण की खोज में भटकना नहीं पड़ेगा। कल्याण आप ही आपको खोज लेगा।



२१ श्री नमिनाथजी

प्रार्थना।

"विजयसेन" नृप "विप्राराणी", नमीनाथ जिन जायो।
चौंसठ इन्द्र कियो मिल उत्सव, सुर नर आनन्द पायो।
सुज्ञानी जीवा ! भज लो जिन इकवीसवाँ ॥ टेर ॥ १ ॥

भजन किया भव-भवना दुष्कृत, दुःख दुर्भाग्य मिट जावे।
काम, क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्मति निकट न आवे रे ॥ २ ॥

जीवादिक नव तत्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझीजे।
तीजो उपादेय ओलख ने, समकित निरमल कीजे रे ॥ ३ ॥

जीव अजीव बंध, ये तीनों, ज्ञेय जथारथ जानो।
पुन्य पाप आस्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो रे ॥ ४ ॥

संवर मोक्ष निर्जरा निज गुण, उपादेय आदरिये।
कारण कारज जाण भलो विध, भिन-भिन निरणो करिये रे ॥ ५ ॥

कारण ज्ञान स्वरूप जीव को, काज क्रिया पसारो।
दोनूं को साखी शुद्ध अनुभव, आपो खोज तिहारो रे ॥ ६ ॥

तू सो प्रभु प्रभु सो तू है, द्वैत कल्पना मेटो।
सच्चिद् आनन्दरूप 'विनयचन्द', परमातम पद भेंटो रे ॥ ७ ॥

परमात्मा की प्रार्थना से आत्मा मे पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं। वे भाव किस प्रकार के होते है, यह बात अनुभव के द्वारा ही जानी जा सकती है और आत्मा स्वयं ही उसे जान सकता है। जैसे सूर्य के प्रकाश को नेत्र द्वारा सूर्य के प्रकाश से ही जाना जा सकता है, उसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना की महिमा आगम द्वारा आत्मा से ही जानी जा सकती है। उसे जानकर ज्ञानी पुरुषों के मुख से अनायास यह ध्वनि निकल पड़ती है :—

सुज्ञानी जीवा ! भज लो रे जिन इक्वीसवां।

कहा जा सकता है कि यहाँ ज्ञानी को भगवान् का भजन करने की प्रेरणा की गई है, किन्तु ज्ञानी को भजन की क्या आवश्यकता है ? ऐसा कहना कृतज्ञता नहीं, कृतघ्नता है। पिता से धन ले लेने के पश्चात् यदि पुत्र यह विचार करता है कि अब पिता की सेवा करने से क्या लाभ है, तो ऐसे पुत्र को क्या कहना चाहिए ?

'कृतघ्न !'

इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर परमात्मा के भजन की क्या आवश्यकता है, ऐसा कहने वाला भी कृतघ्न है। सोचना चाहिए कि ज्ञान की प्राप्ति हुई कहाँ से है ? ज्ञान की प्राप्ति परमात्मा की कृपा का ही फल है। अतः उसकी प्रार्थना में मग्न होकर स्तुति करना चाहिए, जिससे ज्ञान पतित न होकर धीरे-धीरे उसी परमात्मा के रूप मे पहुँच जाए।

यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञानी भजन करे तो ठीक है, परन्तु जो लोग अज्ञान मे पड़े हैं वे भजन करने के

अधिकारी कैसे हो सकते हैं ? चोरी, व्यभिचार, बालहत्या आदि सरीखे घोर अपराध करने वाले पापी हैं, उन्हें परमात्मा का भजन करने का क्या अधिकार है ? इसका उत्तर यह है कि औषध रोगी के लिए ही होती है। जिस औषध का सेवन रोगी न कर सके उसका कोई महत्त्व नहीं, उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

परमात्मा का नाम पतितपावन है। अगर पतित लोगों को परमात्मा के भजन से अलग रक्खा जाय तो उसके पतित-पावन नाम की महिमा कैसे रहेगी ? अतएव पापी को भी परमात्मा का भजन करने का अधिकार है। अलबत्ता, यह ध्यान रखना चाहिए कि भजन पापों को काटने के लिए, पापों से मुक्त होने के लिए किया जाना चाहिए, पापों को बढ़ाने के लिए नहीं। ठीक उसी प्रकार जैसे रोगों से मुक्त होने के लिए दवा का सेवन किया जाता है, रोग बढ़ाने के लिए नहीं।

तत्त्व की सिद्धि के लिए ज्ञानी, अज्ञानी, पण्डित, मूर्ख आदि सब को परमात्मा का भजन करके पवित्र होना चाहिए।

प्रश्न किया जा सकता है कि परमात्मा की भक्ति से क्या प्राप्त होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने में कारण, कार्य और भाव की घटना समझाना आवश्यक है। यह सब बातें बहुत सूक्ष्म हैं। इन्हें समझाने के लिए बहुत समय अपेक्षित है। फिर भी संक्षेप में कहने का प्रयत्न करूँगा।

भजन करने से क्या लाभ है, इस प्रश्न का उत्तर इसी प्रार्थना में आ गया है। प्रार्थना में कहा है—

काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा दुर्मति निकट न आवे।

जिस भजन के करने से काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि दुर्भाव नष्ट हो जाते हैं, उसी को वास्तविक भजन समझना चाहिए। अथवा यों कहा जा सकता है कि इन दुर्भावों को नष्ट करने के लिए भजन किया जाता है।

ईश्वर के भजन या नामस्मरण में ऐसा क्या चमत्कार है, जिससे आत्मा के समस्त दुर्भाव नष्ट हो जाते हैं? यह भी समझ लेने की आवश्यकता है। लोग दूसरे कामों की खटपट में पड़े रहते हैं, ईश्वर के नाम से प्रेम नहीं करते। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने ईश्वर के नाम की महिमा नहीं जानी। जो लोग अपना समय व्यर्थ नष्ट करते हैं, वे भी उस समय को परमात्मा का स्मरण करके सार्थक नहीं करते। परमात्मा का स्मरण करने वाले का चेहरा भव्य और नेत्र तेजस्वी होते हैं। उसके पास पाप टिक नहीं सकता। भक्त और अभक्त में क्या अन्तर है, इसे भक्ति करने वाला ही भलीभाँति समझ सकता है। अत परमात्मा के नाम का घोष हृदय में श्वास की तरह निरन्तर होता रहना चाहिए। आपके हृदय में परमात्मा के नाम का घोष अगर निरन्तर चलता रहेगा तो निश्चित रूप से आपके समस्त पाप भयभीत होकर भाग जाएँगे। संभव है, आपको इस कथन पर विश्वास न आता हो। इसके लिए एक उदाहरण लो—क्या दीपक के पास अँधेरा आता है?

'नहीं।'

'क्यों?'

'दीपक के प्रकाश से वह दूर ही रहता है।'

'और दीपक यदि बुझ जाए तो?'

'अंधेरा घेर लेगा।'

'इस बात पर पूरा विश्वास है ?'

'हाँ !'

मित्रो ! आपको दीपक पर इतना भरोसा है किन्तु परमात्मा के नाम पर नहीं ! आपने परमात्मा के नाम को दीपक के बराबर भी नहीं समझा ! भाइयो, जैसे दीपक के प्रकाश से अंधेरा भाग जाता है उसी प्रकार परमात्मा के नाम के अलौकिक प्रकाश से पाप भागेंगे। आप दीपक पर जैसा विश्वास रखते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के नाम पर भी विश्वास रखिए।

ईश्वर भीतर और बाहर-सब जगह प्रकाश देता है। उसके प्रकाश से कोई जगह खाली नहीं है। वह सब जगह देखता है। चाहे आप कोठरी में छिपकर कुछ करें चाहे प्रकट मे करें, या मन में सोचें, पर उससे कुछ भी छिप नहीं सकता। आपके भीतर क्या है, यह परमात्मा को भलीभाति विदित है। अगर आपको यह प्रतीति हो जाय कि ईश्वर सब जगह देखता है तो आपका मन नीच या बुरी वासना की ओर कैसे जाएगा ? आप जानते हों कि आपके साथ राजा है तो क्या आप चोरी करने का साहस करेंगे ?

'नहीं !'

'क्यों ?'

'उनसे डरेंगे !'

आप सोचेंगे कि राजा के राज्य में रहते हैं, फिर उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कैसे करें ? इसी तरह जो परमात्मा सर्वत्र

है और जिसे आप सर्वत्र जानकर भजते हैं, उसका निरन्तर ध्यान रहने से आपके हृदय में बुरी वासना उत्पन्न नहीं होगी। हृदय में परमात्मा होगा तो आप यही सोचेंगे कि-मेरी प्रत्येक भावना का, मेरे प्रत्येक कार्य और संकल्प का भगवान् साक्षी है। मैं कुमार्ग की ओर कैसे जाऊँ ?

अब आप सोचेंगे कि-ऐसा तो साधु ही कर सकते हैं, हम गृहस्थों से ऐसी सावधानी नहीं निभ सकती। गृहस्थ तो जितनी देर साधु के पास बैठे या धर्मक्रिया करे उतना ही धर्म है। बाकी संसार में तो सब पाप ही पाप है।' आपकी ऐसी ही भावना रहती है। पर आपको सोचना चाहिए कि यह भावना शास्त्र के अनुकूल है या प्रतिकूल है ?

भगवान् ने उन लोगों को भी श्रावक कहा है जो संग्राम करने गये थे। क्या संग्राम में गया हुआ श्रावक अपना श्रावक-पन भूल गया था ? या संग्राम में जाने से उसका श्रावकपन नष्ट हो गया था ? फिर क्यों सोचते हो कि मकान और दुकान में तुम अपने धर्म का पालन नहीं कर सकते ?

आप कहेंगे—'हम संसार में जितने काम करते हैं, कुटुम्ब-परिवार का पालन-पोषण करने के लिए करते हैं। बिना पाप किये काम नहीं चलता।' यह कहना किसी अंश में सत्य हो सकता है, सर्वांश में नहीं। गृहस्थ अगर अपनी मर्यादा में रह-कर कार्य करे तो वह धर्म का उपार्जन भी कर सकता है। परिवार का भरण-पोषण करने के लिए छल कपट, दगाबाजी, बेईमानी और अनीति करना आवश्यक नहीं है। न्याय-नीति से और प्रामाणिकता से व्यवहार करने वाले का परिवार भूखा नहीं

रहता। आप गृहस्थी में एकान्त अधर्म मान कर व्यापार में अनीति और अप्रामाणिकता को आश्रय देते हैं, यह उचित नहीं है। प्रत्येक स्थिति में मनुष्य अपने धर्म का यथायोग्य पालन कर सकता है। अतएव साधु-संतों के समागम से अन्तःकरण में जो धर्म-भावना आप ग्रहण करते हैं, उसका व्यवहार संसार के प्रत्येक कार्य के समय होना चाहिए। जो भी कार्य करो, धर्म को स्मरण करके करो। अपने अन्तःकरण को ऐसा साध लो कि वह प्रत्येक दशा में तुम्हारा मार्ग-दर्शक बन सके। सत्य को सदैव अपने सन्मुख रक्खो।

मित्रो! सत्य पर विश्वास बैठ जाना बड़ा दुर्लभ है। इस विश्वास की प्राप्ति के लिए परमात्मा का भजन करो। काम, क्रोध, मोह कषाय को जीतने का प्रयत्न करो तो हृदय में कभी पाप नहीं जागेगा। भगवान् के भजन से काम, क्रोध, मद, मत्सरता का नाश होता है। अतएव इनका नाश करने के लिए परमात्मा का भजन करना आवश्यक है। कपट करने के लिए जो भजन किया जाता है, वह भजन नहीं है। बिना किसी कामना के आत्मा को पवित्र करने के लिए किया गया भजन ही सच्चा भजन है।

आप सोचते होंगे कि प्रार्थना तो आप बोलते हैं पर वह चमत्कार, जो प्रार्थना से हम बतलाते हैं, क्यों दिखाई नहीं देता? प्रार्थना करने पर काम क्रोध आदि का नाश हो जाना चाहिए था, पर वह सब तो अब भी मौजूद है। इसका क्या कारण है?

इस विषय को साकार करके समझाना कठिन है; परन्तु यह देखना चाहिए कि प्रार्थना में यह त्रुटि किस ओर से होती है? प्रार्थना करते समय हमें भलीभांति समझना चाहिए कि

जिसकी प्रार्थना की जा रही है वह कौन है ? और इस प्रार्थना का उद्देश्य क्या है ?

आपस में लड़ाई करने वाले दो मित्रों में से एक ईश्वर से प्रार्थना करता है—'तू इस लड़ाई में मेरी मदद कर' जिससे न्याय मेरे पक्ष में हो और प्रतिपक्षी का पतन हो जाय ।' क्या ऐसी प्रार्थना करने वाले ने ईश्वर का स्वरूप समझा है ? उससे पूछा जाय—तू ईश्वर से प्रार्थना कर रहा है, परन्तु तेरा पक्ष सच्चा है या झूठा ? तब वह कहेगा—झूठा है, इसीलिए तो प्रार्थना कर रहा हूँ ।

अब जरा विचार कीजिए । एक वकील अगर सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा साबित करता है तो वह झूठ में शरीक हुआ कहलायगा या नहीं ?

'अवश्य कहलाएगा !'

उस वकील के लिए कहा जायगा कि उसने पैसों के लिए धर्म बेच दिया । उसने पैसे के लोभ में पड़कर सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बना दिया ! हम उसे सलाह देंगे कि क्या सत्य से तुम्हारा पेट नहीं भरता जो झूठ को अपनाते हो ?

जब एक वकील से हम ऐसा कहते हैं तब ईश्वर को सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बनाने के लिए याद करना क्या ईश्वर को पहचानना है ? ऐसा करने वाला क्या ईश्वर को न्यायी समझता है ?

मित्रो ! आप ईश्वर को अन्यायी बनाते हो और फिर कहते हो कि उसकी प्रार्थना से काम-क्रोध आदि का नाश नहीं

हुआ, यह कहाँ तक उचित है ? आप उलटा काम-क्रोध की मात्रा को बढ़ाने के लिए प्रार्थना करते हैं और फिर कहते हैं कि ईश्वर-प्रार्थना से काम-क्रोध का नाश क्यों नहीं होता ?

भाइयो ! ईश्वर की प्रार्थना मे कितना गुण है, यह बात जो अच्छी तरह समझ लेगा, वह राग-द्वेष को बढ़ाने के लिए, तुच्छ लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए या किसी दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए उससे प्रार्थना कदापि नहीं करेगा। पर आज लोग चक्कर में पड़े हैं। वे ईश्वर को तभी मानना चाहते हैं जब वह सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बना दे।

तो फिर ईश्वर की प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे मैं कहता हूँ कि ईश्वर की प्रार्थना इसप्रकार करनी चाहिए कि—'हे प्रभो ! क्रोध, लोभ, मोह आदि मेरे शत्रु हैं। तेरी शरण लिये बिना इन शत्रुओं का विनाश नहीं हो सकता। अतएव मुझे ऐसा बल दीजिए कि मैं कभी झूठ न बोलूँ, किसी पर क्रोध न करूँ और अपने हृदय में लोभ, मोह, मात्सर्य आदि उत्पन्न न होने दू।' अगर आप इस प्रकार की प्रार्थना करते हुए ईश्वर तथा धर्म पर विश्वास रक्खेंगे तो आपको तीन लोक का राज्य भी तुच्छ दिखाई देगा, उस पर भी आपका मन नहीं ललचाएगा।

मित्रो ! इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को शुद्ध और भावना को पुनीत करके परमेश्वर की प्रार्थना करो। आपका कल्याण होगा।

---

२२ श्री नेमीनाथजी

प्रार्थना।

"समुद्रविजय" सुत श्री नेमीश्वर, जादव कुल को टीको।
रत्न कुख रानी "शिवादेवी", तेहनो नन्दन नीको॥
श्रीजिन मोहनगारो छे, जीवन प्राण हमारो छे॥ १॥

सुन पुकार पशु की करुणा कर, जानि जगत् फीको।
नव भव नेह तज्यो जोवन मे, उग्रसेन नृप-धी को॥ २॥

सहस्र पुरुष संग संजम लीयो, प्रभुजी पर उपकारी।
धन-धन नेम राजुल की जोड़ी, महा बालब्रह्मचारी॥ ३॥

बोधानन्द स्वरूपानन्द मे, चित्त एकाग्र लगायो।
आतम-अनुभव दशा अभ्यासी, शुक्लध्यान जि ध्यायो॥ ४॥

पूर्णानन्द केवली प्रगटे, परमानन्द पद पायो।
अष्टकर्म छेदी अलवेसर, सहजानन्द समायो॥ ५॥

नित्यानन्द निराश्रय निश्चल, निर्विकार निर्वाणी।
निरातंक निरलेप निरामय, निराकार निर्वाणी॥ ६॥

एवो ज्ञान समाधि संयुत, श्री नेमीश्वर स्वामी।
पूरण कृपा "विनयचन्द" प्रभु की, अब तो ओलख पामी॥ ७॥

परमात्मा की यह स्तुति साधारण रूप में है। प्रेमी अपने प्रेम पात्र को जिन शब्दों में याद करता है, भक्त भी कभी-कभी उन्हीं शब्दों में भगवान् को याद करता है। ऐसी प्रार्थना में शब्दों का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण सन्देह हो सकता है, किन्तु शब्दों का गूढ आशय समझ में आते ही सन्देह और भ्रम दूर हो जाता है।

परमात्मा 'मोहनगारो' है, किन्तु वह किसे मोहित करता है? रागी किसे मोहता है और वीतराग किसे मोहित करता है, इस बात पर गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए। विचार करने पर गूढ आशय समझ में आ जायगा और सन्देह नष्ट हो जायगा।

स्तुतिकार कहते हैं—हे परमेश्वर! तेरी मोहनी शक्ति अद्-भुत है। वह ऐसा अनोखा जादू है कि उसके सामने संसार के सारे जादू रद हो जाते हैं। जिस पर तेरी मोहिनी दृष्टि पड़ी, वह संसार में से गायब हो जाता है—अर्थात् वह संसार की माया में लिप्त नहीं हो सकता। वह संसार मे रहेगा भी तो संसार से अलिप्त होकर रहेगा, जैसे जल से कमल अलिप्त रहता है। मगर यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान जब वीतराग हैं तो वे मोहक किस प्रकार हुए? और जैनसिद्धान्त के अनुसार भग-वान् मे मोहकता कैसे घट सकती है?

इस प्रार्थना मे राजीमती और नेमिनाथ का चरित्र वर्णन किया गया है। राजीमती की ओर से भक्त कहता है—प्रभो! तू मोहनगारो है। लेकिन जब तुम्हें विवाह नहीं करना था—बाल-ब्रह्मचारी ही रहना था तो फिर विवाह का यह ढोंग क्यों रचा? क्या सिर्फ दूर से दर्शन देने के लिए ही तोरण तक आये थे?

इससे राजीमती समझी कि मुझे वश में करने के लिए ही भगवान् का यहाँ तक पदार्पण हुआ था। इसी प्रकार भक्त भी समझता है कि भगवान् मोहन हैं।

भगवान् वीतराग हैं। उन्हे मोहक मानना अर्थात् संसार के समस्त नश्वर पदार्थों से मोह हटा कर एक मात्र उन्हीं की ओर प्रीति लगाना तभी सम्भव है जब मनुष्य माया को छोड़ कर चेतन की ओर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान लगावे।

हाड़-हाड़ की मींजी प्रीति के रंग में रंग जाय, ऐसी शक्ति केवल परमात्मा के रूप में ही है

> यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
> निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
> तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
> यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! क्या निवेदन करूँ ! आपका देह जिन परमाणुओं से बना है वे परमाणु संसार मे उतने ही थे। इसका प्रमाण यही है कि संसार में आपके सदृश रूप वाला कोई और नहीं है।

रूप में शान्ति अपना विशेष स्थान रखती है। जिस रूप के देखने से क्रूर से क्रूर आदमी भी शान्त हो जाता है वही मोहक रूप है।

कवि कहता है—राजीमती गुण की खूबी समझती है। राजीमती ने प्रभु का संसारी रूप देखा तब तो उनकी ऐसी निष्ठा हो गई—संसारी प्रभु के शरीर की छाया पड़ते ही उनके हृदय में

भगवान् के प्रति ऐसा शुद्ध प्रेम जागा, तो हे प्रभो ! आप तो संयमी और लोकोत्तर ज्ञान के धनी हैं। आपका तो कहना ही क्या है।

पूर्णानन्द केवली प्रकट्यो, परमानन्द पद पायो।
अष्ट कर्म छेदी अलखेश्वर, सहजानन्द समायो।

हे प्रभो ! आत्मानन्द मे कैसे जाया जाय ? बात बहुत सूक्ष्म है। नित्यानन्द और स्वरूपानन्द तो केवल योगी-गम्य हैं। मैं उसे शब्दों द्वारा कैसे व्यक्त कर सकता हूँ ?

जिस समय भगवान् दूल्हा बन कर जा रहे थे, उस समय वे उपशान्त थे, आनन्दमय थे, उनमें खोटा राग नहीं था। सम्पूर्ण उपशान्त भगवान् का ठीक ठीक वर्णन कौन कर सकता है ? उनके एक बार के दर्शन से ही बड़ी-बड़ी शक्तियाँ मोहित हो जाती हैं, फिर भगवान् को अगर वीतराग-मोहक कहा जाय तो अनुचित क्या है ?

भगवान् के मोहक रूप को देखकर बाड़े में घिरे पशु क्या कहने लगे ? उनकी भावना को इस प्रकार कहा जा सकता है—हम कर्मों के संकट के वशीभूत होकर यहाँ आये थे, किन्तु वास्तव में हमारा कोई पूर्वकृत सुकृत उदय में आया है और वही सुकृत हमें बन्दी के रूप मे यहाँ ले आया है। हमारी उस स्वतन्त्रता से यह बंधन लाखों गुना हितकर है, कल्याणमय है। हम बन्दी होकर यहाँ न आते तो भगवान् का यह परम शान्तिदायक दर्शन हमें कैसे नसीब होता !

भगवान् के अलौकिक रूप का दर्शन कर लेने पर सिंह और बकरी, भक्ष्य और भक्षक का भाव भूल कर आपस में

रक्षय-रक्षक का सा व्यवहार करने लगे। बकरी सिंह को अपना बच्चा समझ कर उसे सूंघती और उस पर अपना वात्सल्य प्रकट करती है। सिंह बकरी को अपनी माता समझ कर उस पर श्रद्धा प्रकट करता है। कैसा मोहकरूप है भगवान् का भगवान् का दर्शन पाते ही जाति-विरोधी जीव पारस्परिक विरोध को भूल करके वीतरागता की पावनी मोहिनी में डूब कर आपस में मित्रवत व्यवहार करने लगे।

[ख]

भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना करते-करते आज एक विशेष बात मालूम हुई है। लेकिन उसका वर्णन करने में जीभ काम नहीं कर रही है। वह वस्तु मन से भी परे है, जीभ से उसका वर्णन कैसे करूँ ? फिर भी आप सुनने बैठे है सो उस पूर्ण को भी अपूर्ण रूप मे कहना होगा। पूर्ण बात तो पूर्ण पुरुष ही जानते हैं, मगर वे भी पूर्ण कथन नहीं कर सकते। मैं छद्मस्थ और अपूर्ण हूँ। मेरे शब्द तो सीमित और सीमित अर्थ वाले ही होंगे। लेकिन मैं जो कह रहा हूँ वह मेरी कल्पना की बात नहीं है, उन्हीं महापुरुषों की कही हुई है जो पूर्णता को प्राप्त कर चुके थे। अतएव मेरे द्वारा अपूर्ण रूप से कही जाने पर भी, पूर्ण पुरुषों द्वारा कथित होने के कारण अगर आप इस पर रुचि लाएँगे तो निस्सन्देह आपका कल्याण ही होगा।

जो प्रार्थना अभी की गई है वह किसकी ओर से है ? मेरी ओर से या आपकी ओर से ? किसी की ओर से न कह कर इस प्रार्थना को यदि महासती राजीमती की ओर से की हुई मान लें तो आप और हम सभी इस प्रार्थना के अधिकारी हो

जाएँगे। फिर जो भी हकदार होगा, जिसका भी हक होगा वह आप ही पा जाएगा। इस प्रार्थना में कहा गया है—

श्रीजिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे।

यह कहती तो है राजीमती, फिर भी इस कथन में जिसका जितना हक होगा उसको उतना मिल जायगा। राजीमती इस प्रार्थना द्वारा समीप से सायुज्य में गई है। राजीमती की इच्छा विवाह करने की थी। वह विवाह करके आदर्श जीवन विताना चाहती थी। उसका विचार उस समय गृह-त्याग कर साध्वी होने का नहीं था। और भगवान् अरिष्टनेमि के विचार के विषय में तो कह ही कौन सकता है! उनका विचार कुछ और ही था। फिर भी वे बरात सजाकर और दूल्हा बनकर आये। लेकिन राजीमती की और उनकी चार आँखें भी नहीं हुई और उन्होंने राजीमती को कोई सूचना या संदेश भी नहीं दिया, केवल—

सुनि पुकार पशु की करुणा करि जानि जगत सुख फीको।
नव भव स्नेह तज्यो जोवन में अग्रसेन नृप धीको॥

वे पशुओं की करुणा के लिए लौट गये। उन्होंने सारथी से पूछा—हे सारथी! इन सुखाभिलाषी और किसी को कष्ट न देने वाले भद्र प्राणियों को इस वाड़े में क्यों वन्द कर दिया है? इन्हें इस तरह दुखी क्यों किया जा रहा है?

क्या भगवान् इस बात को जानते नहीं थे कि पशुओं को वाड़े में वन्द करने का प्रयोजन क्या है? फिर भी कायदे की खानापूरी करने के लिए उन्होंने सारथी से यह प्रश्न किया— सारथी भी निर्भय होकर भगवान् से कहने लगा—भगवन्! यह

सब जीव आपके विवाह के निमित्त पकड़े गये हैं। आपके विवाह में आये हुए बहुत से लोगों को इनके मांस का भोजन कराया जायगा। इस प्रकार सारथी ने उन पशुओं के बन्धन में डाले जाने का कारण भगवान् को ही बताया। उसने सारी बात भगवान् पर ही डाल दी।

सारथी की बात सुनकर भगवान् ने उससे कहा—मेरे निमित्त से यह सब जीव मारे जाएँगे! यह हिंसा मेरे लिए परलोक मे श्रेयस्कर नहीं हो सकती—परलोक में कल्याणकारिणी नहीं होगी।

इस प्रकार सारथी की कही हुई बात का भगवान् ने भी समर्थन कर दिया और अपने ऊपर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व ले लिया। उन्होंने 'मेरी लीक तेरे जावे' इस कहावत को चरितार्थ नहीं किया, अर्थात् दूसरों के सिर उत्तरदायित्व थोपने का प्रयत्न नहीं किया। साफ कह दिया—यह मेरे लिए हितकर नहीं है। उन्होंने यह नहीं कहा कि इसका पाप जो मारेगा उसी के सिर होगा। मुझे पाप क्यों लगेगा? उन्होंने 'सोधे' का आश्रय क्यों नहीं लिया? भगवान कह सकते थे इन जीवों की हिंसा के पाप का भागी मैं कैसे हो सकता हूँ? मैं अपनी ओर से तो यह भी कह दूंगा कि हिंसा मत करो। इतने पर भी यदि कोई नहीं मानेगा तो वही पाप का भागी होगा। लेकिन भगवान् ने ऐसा कहकर समस्या को टालना उचित नहीं समझा। उन्होंने कहा—यह हिंसा मेरे लिए परलोक में कल्याणकारिणी नहीं हो सकती।

भगवान का यह कथन कितना अर्थसूचक है? इस कथन में बड़ा ही गम्भीर आशय छिपा है।

कोई आदमी तर्क-वितर्क करके दूसरे को दबा सकता है, चुप कर सकता है, लेकिन तर्क-वितर्क से पुण्य का पाप और पाप का पुण्य नहीं बन सकता। तर्क और दलील से कोई पाप के फल से नहीं बच सकता। अतएव तर्क-वितर्क के चक्कर में न पड़कर जो बात सत्य हो उसे स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् को विवाह तो करना नहीं था, फिर भी बरात सजाकर मानों यही दिखाने के लिए आये थे। उस समय आम तौर पर फैली हुई हिंसा और मांसभक्षण के विरुद्ध विनम्र आत्मोत्सर्ग द्वारा प्रबल जागृति उत्पन्न करने के लिए ही जैसे भगवान् ने यह युक्ति सोची थी। उन्होंने संसार को दिखला दिया कि जगत् में जो प्राणी की हिंसा करते हैं वे भी मेरी आत्मा के ही तुल्य हैं। अतएव पूर्ण करुणा की भावना को प्रकट करने के लिए भगवान् ने उन प्राणियों की हिंसा को अपने सिर ले लिया और कहा—उनकी हिंसा परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है।

हिंस्य अर्थात् मारे जाने वाले जीवों पर तो प्रायः सभी सहृदय पुरुष करुणा करते हैं, कोई विरला पाषाणहृदय ही उनकी करुणा का विरोध करता है, किन्तु हिंसक अर्थात् मारने वाले पर भी करुणा करने का आदर्श अनूठा है! भगवान् हिंसक को भी आत्मीय रूप में ग्रहण करते हैं और उनके पाप को अपना ही पाप मानकर उसका परिहार करने के लिए महान् त्याग करते हैं। पूर्ण करुणा का यह साकार स्वरूप भगवान् अरिष्टनेमि के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। वास्तव में नेमिनाथ भगवान् के द्वारा प्रदर्शित किया गया यह आदर्श अत्यन्त भावमय, अत्यन्त सुहावना और अत्यन्त बोधप्रद है!

मेरे पास एक सन्त थे। जब वह गृहस्थावस्था में थे तो उनके लड़के ने चोरी कर ली। उन्होंने सोचा—यह लड़का सजा पाएगा। अतएव उन्होंने वह चोरी अपने ही सिर पर ले ली और लड़के को बचा दिया। उन्हें सजा भी भोगनी पड़ी। सजा भोगने के बाद दीक्षा धारण की। इससे आप समझ सकते हैं कि बाप को बेटे पर कितनी करुणा होती है! भगवान् की करुणा तो व्यापक और पूर्ण रूप से निस्वार्थ थी। उस समय यादवों में जो हिंसा और अनीति चल रही थी वह भगवान् को असह्य हुई। उस समय विवाह-शादी आदि के अवसर पर जीवों की हिंसा की जाती थी। उन सब की करुणा से प्रेरित होकर भगवान् ने उन जीवों की हिंसा को अपने सिर लेकर कहा—यह हिंसा मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकती।

भगवान् इतना कह कर ही नहीं रुके। उन्होंने सारथी को रथ लौटा लेने का आदेश भी दे दिया। सोचा—विवाह करना उचित नहीं है। मेरे इस त्याग से जगत् को बोध मिलेगा।

भगवान् विना विवाह किये ही लौट गये। भगवान् के लौट जाने पर राजीमती का क्या कर्त्तव्य था? राजीमती के विषय में अनेक कवियों ने कविताएँ रची हैं। किसी ने भावपूर्ण रचना की है तो किसी ने इधर-उधर से सामग्री जुटा कर कविता की है। 'नेमिनिर्माण' और 'नेमिदूत' आदि काव्य भी लिखे गये हैं। किसी ने कुछ भी लिखा हो, पर यह तो स्पष्ट है कि राजीमती की इच्छा विवाह करने की थी। भगवान् के लौट जाने से उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। इच्छा पूरी न होने पर क्रोध आना स्वाभाविक था। फिर भी राजीमती ने भगवान् पर क्रोध नहीं

किया। इसका क्या कारण था ? यही कि राजीमती का भगवान् के प्रति गम्भीर और सात्विक प्रेम था।

राग और स्नेह अलग-अलग हैं। प्रेम का मार्ग ही निराला है। प्रेमी को अपने प्रेमपात्र पर क्रोध नहीं आता। उसे अपने प्रेमपात्र का दोष दिखाई नहीं देता। प्रेम प्रथम तो विरह को सहन ही नहीं कर सकता, अगर सहन करता है तो विरह मे वह और अधिक बढ़ जाता है। प्रेमी विरह में भी अपने प्रेमास्पद के दुर्गुणों का रोना नहीं रोता। इसके लिए कवियों ने अनेक उदाहरण दिये हैं। एक कवि ने कहा है—

एक मछली जल माहे भमे छे,
जल माहीं रेवुं गमे छे ,
कोई पापीए बाहर काढी ,
मुई तड़फड़ी अंग पछाडी ,
प्राण जावे जलने समरवुं ,
एम प्रभु चरणे चित धरवुं ,

जल में मछली प्रेम से रहती है। वह जब जल में रहती है तो खान-पान आदि सभी क्रियाएँ करती है। लेकिन जब जल सूख जाता है या कोई पापी उसे जल से बाहर निकाल देता है तब वह फड़फड़ाने लगती है। वह प्राण जाने के अंतिम समय तक जल को ही स्मरण करती रहती है। मछली यह बात किससे सीख कर आई है ? भक्तों ने परमात्मा से प्रेम करना मछली से सीखा है या मछली ने भक्तों से, जल से प्रेम करना सीखा है ?

जिस प्रकार जल से बाहर निकाल दी जाने पर मछली तड़फड़ाने लगती है, उसी प्रकार भगवान् के जाने पर राजीमती

भी तड़फड़ाने लगी। लेकिन उसने भगवान् को दोष नहीं दिया। पीछे के कवियों ने राजीमती के विषय में अनेक कविताएँ लिखी हैं पर जिन्होंने राजीमती के प्रेम की इस विशेषता को अपनी कविता में से निकाल दिया, वे पूर्ण कवि नहीं है। राजीमती ने भगवान् के चले जाने पर यही कहा था कि भगवान् ने मेरा परित्याग कर दिया है, अतः अब मुझे अपने प्रेम की परीक्षा देनी चाहिए। राजीमती ने इसके सिवाय भगवान् के और कोई दुर्गुण नहीं कहे! विरह में प्रेमी को व्यथा तो होती है, फिर भी वह अपने प्रेमास्पद का दोष नहीं देखता।

आज भगवान् आपके सामने हैं या नहीं? भगवान् हैं तो सही, लेकिन जिस तरह वे राजीमती को छोड़ गये थे उसी तरह आपको छोड़ गये हैं। अर्थात् आज भगवान् से आपका विरह है। उस विरह में ही राजीमती ने भगवान् का सच्चा स्वरूप समझ पाया था, इसी तरह आप भी विरह में भगवान् के सच्चे स्वरूप को पहचानो। तभी आपका भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम कहा जायगा।

कोई भी शक्ति किसी पर जबर्दस्ती प्रेम उत्पन्न नहीं कर सकती। किसी ने ठीक ही कहा है—

प्रेम न वाड़ी नीपजे, प्रेम न हाट विकाय।
राजा प्रजा जिको रुचे, शीश देय ले जाय।

प्रेम किसी बाग-बगीचे में पैदा नहीं होता और न बाजार में बिकता है। प्रेम जिसे रुचेगा वह अपना सिर देकर ले जायगा। प्रेम का मूल्य सिर है।

प्रेम की परीक्षा विरह में होती है। प्रेमी के हृदय में विरह की आग तो लगती है, फिर भी वह अपने प्रेमपात्र के अवगुण नहीं देखता। सगर्भा अवस्था में सीता को राम ने वन में भेज दिया था। उस समय सीता को राम क्या बुरे लगे थे? स्त्रियाँ लग्न तो आज भी करती हैं लेकिन उनसे पूछो कि कभी पति से सच्ची लगन भी लगी है? सच्ची लगन तो विरले को ही लगती है। वन में भेज देने पर भी सीता को राम से कोई शिकायत नहीं थी। आप भी परमात्मा से इसी प्रकार प्रेम करें तो समझना कि आपका प्रेम सच्चा है।

[ग]

समुद्रविजय-सुत श्रीनेमीश्वर,
जादव-कुल नो टीको।

परमात्मा की स्तुति करना नित्य-कर्म है। जीवन के लिए भोजन की तरह यह अनिवार्य कार्य होना चाहिए। आज भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना की गई है। अब यह देखना है कि इस प्रार्थना से आत्मा को किन-किन वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

मित्रो! ईश्वर-प्रार्थना के आजकल अनेक उपाय देखे जाते हैं। जैनधर्म ने एक साधन यह बतलाया है कि व्यक्त के बिना अव्यक्त समझ में नहीं आता। हमारे और आपके शरीर में असंख्य जीव भरे हैं, परन्तु वे जीव इतने सूक्ष्म हैं कि दृष्टि में नहीं आते। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि हम स्थूल को ही पहचान सकते हैं अर्थात् स्थूल शरीर के द्वारा ही जीव को जानते हैं। बिना शरीर के अथवा अत्यन्त सूक्ष्म शरीर वाले को जानना ज्ञानियों का ही काम है। मगर वह सूक्ष्मता जब स्थूल रूप में

आती है तब सब की समझ में आ जाती है। इसी कारण हिंसा के भी स्थूल और सूक्ष्म भेद किये गये हैं। स्थूल हिंसा वही कह-लाती है जो प्रत्यक्ष दिखाई दे। पानी में असंख्यात जीव हैं, किन्तु पानी पीने वाले को कोई हत्यारा या हिंसक नहीं कहता। वही मनुष्य यदि कीड़ी को मारता है तो उससे कहा जाता है— क्यों हिंसा करता है? इसका कारण यही है कि स्थूल को सम-झने में कठिनता नहीं होती।

आज कई पुस्तकें ऐसी लिखी जाती हैं कि जिनसे जन-साधारण को कुछ समझ में नहीं आता। कई स्तुतियाँ भी ऐसी हैं जिन्हें केवल विशेष ज्ञानी ही समझ सकते हैं। ऐसी चीजें भले उत्तम कोटि की हों मगर सर्वसाधारण के काम की नहीं हैं। इसीलिए यहाँ तीर्थङ्कर भगवान् की प्रार्थना इस रूप से की गई है कि इस प्रार्थना को सभी समझ सकें और उसके आधार से आत्मिक विचार भी कर सकें। मैंने अभी कहा है—

समुदविजय सुत श्रीनेमीश्वर,
जादवकुल नो टीको ॥
रतनकुंख धारिणी शिवा दे,
तेहनो नन्दन नीको ।

इस प्रकार जल्दी ही समझ मे आ जायगा। यह भगवान् के स्थूल रूप की प्रार्थना है। मगर इस प्रार्थना में स्थूल रूप को दिखाकर अनन्त परमात्मा का दर्शन कराया गया है। भगवान् ने स्थूल शरीर में रहकर ऐसा काम कर दिखाया है कि जिसकी साधारण मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता।

नेमिनाथ भगवान् जानते थे कि विवाह की तैयारी में आरम्भ ही आरम्भ हो रहा है। जल का व्यय, बरात की तैयारी

और चलने फिरने आदि में कितनी हिंसा हुई होगी ? क्या भगवान को उस हिंसा का परिज्ञान नहीं था ? क्या हम लोगों की अपेक्षा भी भगवान् को कम ज्ञान था ? मगर उनके निराले तत्त्व को ज्ञानी ही जान सकता है।

हम लोग स्वयं ज्ञानी नहीं हैं। हम उन्हीं के समझाने से थोड़ा बहुत समझे हैं। फिर यह जानते हुए कि मुझे विवाह नहीं करना है, बरात तैयार की; यह दोष किसके सिर थोपना चाहिए ? कदाचित् यह कहा जाय कि कृष्णजी ने बरात सजाई थी और नेमिनाथ उन्हीं के परणाये परण रहे थे तो फिर कृष्णजी की बात उन्हें अन्त तक माननी चाहिए थी। ऐसा न करके वे तोरण से क्यों लौट आये ?

मित्रो ! भगवान् नेमिनाथ का बरात को सजाने में यही उद्देश्य था कि यादवों में जो हिंसा घुस रही है उसे हटाया जाना चाहिए और मांसाहार का विरोध करना चाहिए। इस हिंसा को दूर करने के लिए ही भगवान् ने अपनी अनोखी और प्रभावशालिनी पद्धति से आदर्श उपस्थित करने का विचार किया। इसके अतिरिक्त बरात सजाने का अगर और कोई कारण हो तो उसे सुनने के लिए हम तैयार हैं।

जो नेमिनाथ भगवान् गर्भ की बात जानते थे, उन्हें क्या यह पता नहीं था कि उन्हें विवाह नहीं करना है ? कदाचित् यह कहा जाय कि उन्हे पता तो था किन्तु सबका मनोरथ पूरा करने के लिए वे विवाह करने को तैयार हो गये। तो सब का मनोरथ तब पूरा होता जब वे विवाह कर लेते। विवाह किये बिना ही लौट आने से सब का मनोरथ कैसे पूरा हो गया ? भाइयो ! भग-

वान् का आशय आदर्श उपस्थित करके स्वयं महान् त्याग करके हिंसा को बन्द करना था। यद्यपि हिंसा तो बरात की तैयारी करते समय और स्नान करते समय भी हुई थी, किन्तु उस समय उन्होंने विवाह करना अस्वीकार नहीं किया। इसका कारण यही था कि स्नान आदि में हुई हिंसा सूक्ष्म हिंसा थी। भगवान् ने सूक्ष्म हिंसा का विरोध करने के लिए लोगों को पानी पीने से नहीं रोका, किन्तु स्थूल हिंसा का–पशु–पक्षियों के वध का–विवाह करना अस्वीकार करके विरोध किया। इससे क्या परिणाम निकलता है ? वास्तव में सूक्ष्म हिंसा को लेकर स्थूल को न समझना अज्ञान है।

कहा जा सकता है कि हिंसा बन्द करने के लिए उन्होंने आज्ञा क्यों न जारी कर दी या करा दी ? इसके लिए बरात सजाने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थंकर हुक्म देकर कर्त्तव्य नहीं कराते, किन्तु स्वयं करके दिखलाते हैं। ऐसा करने से सारा संसार स्वयं उस ओर आकर्षित हो जाता है ? अगर ऐसा न हो तो तीर्थंकर और राजा मे अन्तर क्या रहे ? आदेश देकर करवाया हुआ कार्य स्वेच्छा प्रेरित नहीं होता और इसलिए हार्दिक नहीं होता। हार्दिक नहीं होता इसलिए उसका पालन कराने के लिए राजा को फौज और पुलिस की जमात खड़ी करनी पड़ती है। मगर तीर्थंकर का मार्ग इससे सर्वथा भिन्न होता है। तीर्थंकर का विधान बलात्कार से नहीं लादा जाता। अतएव वह स्वेच्छा—स्वीकृत और हार्दिक होता है। उसे पलवाने के लिए फौज या पुलिस की अपेक्षा नहीं रहती। उसमें इतनी गहराई होती है कि साधक अपने प्राणों की आहुति देकर भी उस विधान से रंचमात्र विचलित नहीं होते।

कृष्णजी के साथ क्या नौकर-चाकर नहीं थे कि उन्होंने स्वयं ईंटें उठाईं? वह हुक्म देते तो क्या ईंटें नहीं उठ सकती थीं? मगर ऐसा करने से अशक्त जनों की सेवा-सहायता करने का जो भव्य और चिरंतन आदर्श उपस्थित हुआ, वह कदापि न होता। स्वयं ईंटें उठाकर कृष्णजी ने संसार पर अद्भुत प्रभाव डाला है। यह बात दूसरी है कि अनुकम्पा से द्वेष होने के कारण इन बातों का वास्तविक रहस्य छिपाकर उलटा ही अर्थ लगाया जाय!

आज श्रावक साधु के और साधु श्रावक के कामों का उत्तरदायित्व अपने सिर ओढ़ने का दम भरते हैं। इसी कारण धर्म की अवनति हो रही है। साधु की सूक्ष्म अहिंसा को श्रावक अपने ऊपर लेते हैं। मगर नेमिनाथ भगवान् ने आदर्श उपस्थित किया है कि श्रावक को किस अहिंसा का पालन करना चाहिए।

प्रभो! यह अनुपम त्याग और अनूठा कार्य आप ही कर सकते थे। मन का दमन करना, विवाह न करने के निश्चय को किसी के भी दबाव से न बदलना और लगातार नौ भवों के स्नेहमय संबंध को तोड़ देना तीर्थङ्कर की लोकोत्तर शक्ति के बिना कैसे संभव हो सकता है?

भगवान् ने विवाह का त्याग करके यह प्रकट किया कि मुझे इन जीवों की अपेक्षा राजीमती पर अधिक प्रेम नहीं है। उन जीवों को बन्धनमुक्त कर देने पर भगवान् ने सारथी को पुरस्कार दिया था। उनका तात्पर्य यह था कि यह गरीब प्राणी अशक्त हैं और मनुष्य से दया की अपेक्षा रखते हैं। उन जीवों पर यादव लोग अपने आनन्द के लिए अत्याचार करते थे। भगवान् ने उन्हीं अबोध और मूक जीवों पर दया की थी।

कई भाई कहते हैं कि मरते जीव को बचा लेना मोह का ही परिणाम है। जीव की रक्षा करने वाला मोही है, क्योंकि मरते हुए जीव पर राग हुए बिना उसे बचाया नहीं जा सकता। उनकी इस भ्रमपूर्ण मान्यता के अनुसार कहना होगा कि भगवान् नेमिनाथ को अगर वाड़े मे बंद जीवों पर राग उत्पन्न हुआ था। अगर यह सच हो तो स्नान करते समय एकेन्द्रिय जीवों पर राग क्यों नहीं हुआ था? वास्तव मे भगवान् के चित्त में उन जीवों के प्रति न मोह था और न राग था, सिर्फ़ दया की पवित्र भावना थी। जिन्हे पिछले नौ भवों से सगाई सम्बन्ध रखने वाली राजीमती पर भी मोह नहीं हुआ, उन्हें वाड़े में बन्द अपरिचित पशु-पक्षियो पर कैसे मोह हो सकता है! मगर अत्यन्त खेद है कि हमारे कितने ही भाई भगवान् की इस विशुद्ध अनुकम्पा में भी मोह और राग की कल्पना करते हैं और जीवरक्षा में पाप बतलाते हैं।

गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—मैं कलकत्ता में कालीजी के दर्शन को गया था। वहाँ खून के घमासान का दृश्य देख कर मेरा हृदय द्रवित हो गया। मैं समझता हूँ कि बकरे का प्राण मनुष्य के प्राण से कम नहीं है। इसके सिवाय वह अबोल है, अतः मनुष्य से विशेष दया का पात्र है। यदि काली कहे तो इसके सामने मैं अपनी गर्दन कर दूं।

कहिए, गांधीजी को भी बकरे पर राग हो गया? मित्रो! करुणा भाव को लुप्त कर देना धर्म की आत्मा को निर्दयतापूर्वक हनन कर देना है। इससे अधिक भयङ्कर और कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस थली प्रान्त मे लोगो के पास लाखों का धन है। फिर भी उनके सामने से वध के लिए पशु ले जाया जाय तो उनके

हृदय में वैसी दया उत्पन्न नहीं होती जैसी साधारण तथा अन्य प्रान्तवासियों के हृदय में होती है। कोई-कोई तो खुद ही कसाई को अपना पशु बेच देते हैं। यह कितनी निष्ठुरता है ? न जाने कैसा हृदय है जो दया से द्रवित नहीं होता। जितनी कठोरता इस प्रान्त में है उतनी शायद ही किसी दूसरे प्रान्त में हो। इसका कारण यही है कि यहाँ के लोगों के हृदय से दया निकाल दी गई है। और उसकी जगह निर्दयता कूट-कूट कर भर दी गई है। इसलिए प्रायः लोग खुद भी दया नहीं करते और दूसरे को करते देखते हैं तो उसे पापी कहते हैं ! नेमिनाथ भगवान् के समय में गाय या दूसरे उपयोगी पशु नहीं मारे जाते थे। परन्तु यादव लोग अपनी खुराक के लिए हिरण आदि जीवों को निरुपयोगी समझ कर मारते थे। वे समझते थे कि यह जीव जंगल में रहते हैं, किस काम आते हैं ! भगवान् नेमिनाथ ने राजीमती का त्याग करके ऐसे पशुओं पर भी दया दिखलाई थी। मित्रो ! आज जो पशु आपके रक्षक हैं उन पर भी आप दया नहीं दिखलाते ! आपका यह हट्टाकट्टापन किसके प्रताप से है ? गायों का घी दूध खा-पीकर आप तगड़े हो रहे हैं और जी रहे हैं और उन्हीं की करुणा को मोह कह कर धर्म और सभ्यता का घोर अपमान कर रहे हैं। शास्त्र को शस्त्र बना डालना कितना भयंकर काम है ? अपने आदर्श भगवान् नेमिनाथ ने राजीमती का त्याग करके दीक्षा ग्रहण की तथा दया और दान का आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने अपने कर्त्तव्य से यह भी प्रकट कर दिया है कि मनुष्य को किस दर्जे पर क्या करना चाहिए। उन्होंने दीक्षा के ऊँचे दर्जे का काम करके, उससे पहले के-उससे नीचे दर्जे के कर्त्तव्य का अपमान नहीं किया।

जरा विचार कीजिए, इस चूरू शहर में सब जौहरी ही जौहरी बस जाएँ और अनाज, शाक-सब्जी आदि प्रतिदिन उपयोग में आने वाली वस्तुएँ उत्पन्न करने वाला या बेचने वाला कोई भी न हो तो काम चल सकता है ?

'नहीं !'

इसी प्रकार जैनधर्म में छोटे-बड़े सब काम बतलाये गये हैं। बड़े काम पूर्ण संयम का ग्रहण आदि हों तो अच्छा ही है, परन्तु उससे पहले की स्थिति में करुणा करने का निषेध तो नहीं करना चाहिए।

विपत्ति से सताये हुए और भयभीत प्राणी पर थोड़ी-बहुत दया लाकर जैनशास्त्र की आज्ञा का पालन करो तो अच्छा ही है। इसके बजाय दया करने वाले को पापी कहकर दया का निषेध करते हो, यह कहाँ तक ठीक है ? बन्धुओ ! अपने भविष्य का थोड़ा-बहुत विचार करो। जीवरक्षा का निषेध करके अपने भविष्य को दुःखमय मत बनाओ। करुणा इस जगत् में एक दैवी गुण है। उस पर कुठाराघात करना अपनी आत्मा पर ही कुठाराघात करना है। भगवान् नेमिनाथ के चरित्र से शिक्षा ग्रहण करो। इससे आपकी आत्मा का कल्याण होगा और जगत् को प्रकाश मिलेगा।



[घ]

श्री जिन मोहनगारो छे !

समुद्रविजय सुत श्रीनेमीश्वर ।

यह भगवान् अरिष्टनेमि की प्रार्थना की गई है। सारा संसार एक मन होकर परमात्मा की जो प्रार्थना करता है, वही प्रार्थना मैंने अपने शब्दो में की है। प्रार्थना का विषय इतना व्यापक और सार्वजनिक है कि प्रार्थ्य महापुरुष का नाम चाहे कुछ भी हो और प्रार्थना के शब्द भी कुछ भी हों, उसकी मूल वस्तु समान रूप से सभी की होती है। इस प्रार्थना में कहा गया है:—

'श्रीजिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे।'

यहां पर यह आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् मोहनगारो हो सकता है? जिसे जैन-धर्म वीतराग कहता है, जो राग, द्वेष और पक्षपात से रहित है, उसे 'मोहनगारो' कैसे कहा जा सकता है? जो परमात्मा स्वयं मोह से अतीत है, वह 'मोहनगारो' कैसा? जिसे अमूर्तिक और निराकार माना जाता है, वह किस प्रकार और किसे मोहित करता है? इस आशंका पर सरल रीति से यहाँ प्रकाश डाला जाता है।

लोक-मानस इतना संकीर्ण और अनुदार है कि उसने संसार के अन्यान्य भौतिक पदार्थों की तरह ईश्वर का भी बँटवारा-सा कर रक्खा है। यही कारण है कि ईश्वर के नाम पर भी आये दिन झगडे होते रहते है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को सम-

भाने के लिए उपयुक्त वक्ता न होने से, ईश्वर के नाम से होने वाली शान्ति के बदले उलटी अशान्ति होती है—कलह फैलता है। यह सब होते हुए भी वास्तव में ईश्वर का नाम शान्तिदाता है और ईश्वर 'मोहनगारो' है।

वीतराग किस प्रकार किसी को मोहित कर सकता है, इस प्रश्न के उत्तर में सत्य यह है कि वीतराग भगवान् ही मनमोहन है। जिसमें वीतरागता नहीं है, वह मनमोहन या 'मोहनगारो' भी नहीं है। उपर्युक्त प्रार्थना वीतराग भगवान की ही है, किसी संसारी पुरुष की नहीं है। इस प्रार्थना में वीतराग को ही 'मोहनगारो' बतलाया गया है। भगवान् वीतराग 'मोहनगारो' किस प्रकार है, यह बात संसार की बातो पर दृष्टि डालने से साफ समझ में आ जायगी।

जिसका चित्त ईश्वर पर मोहित होकर संसार की और वस्तुओं से हट जाएगा, जो एकमात्र परमात्मा को ही अपना आराध्य मानेगा, जो परमात्म-प्राप्ति के लिए अपने सर्वस्व को हँसते-हँसते ठुकरा देगा, वह परमात्मा को ही मोहनगारो मानेगा। परमात्मा 'मोहनगारो' नहीं है तो भक्त जन किसके नाम पर संसार का विपुल वैभव त्याग देते हैं? अगर ईश्वर में आकर्षण न होता तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती और सम्राट् उसके लिए वन की खाक क्यों छानते फिरते? अगर भगवान् किसी का मन नहीं मोहते तो प्रह्लाद को किसने पागल बना रक्खा था? और मीरां ने किस मतलब से कहा था—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई।'

परमात्मा स्वयं कहने नहीं आता कि मैं 'मोहनगारो हूँ' मगर लोग ही कहते हैं 'श्रीजिन मोहनगारो छे।' परमात्मा को

'मोहनगारो' मानने वाला भक्त कैसा होना चाहिए, यह जानने के लिए सांसारिक बातों पर दृष्टिपात करना होगा।

जो पुरुष संसार के सब पदार्थों में से केवल धन को 'मोहनगारो' मानता है, उसके सामने दूसरी तरह की चाहे लाखों बातें की जाएँ, लेकिन वह धन के सिवाय और किसी भी बात पर नहीं रीझेगा। उसे धन ही धन दिखाई देगा। वह सोने में ही सब करामात मानेगा। कहेगा—

'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।'

संसार के समस्त सुखों का एक मात्र साधन और विश्व में एकमात्र सारभूत वस्तु धन है, धन ही परब्रह्म है, धन ही धर्म है, धन ही लोक-परलोक है, ऐसा समझने वाला पुरुष धन को ही 'मोहनगारो' मानेगा। ऐसा आदमी ईश्वर को मोहनगारो नहीं मान सकता। वह ईश्वर की तरफ झाँक कर भी नहीं देखेगा। कदाचित् किसी की प्रेरणा से प्रार्थना करेगा भी तो कंचन के लिए करेगा। वह धन-लाभ को ही ईश्वर की सचाई की कसौटी बना लेगा।

कंचन और कामिनी संसार की दो महाशक्तियाँ हैं। कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके लिए कंचन तो इतना 'मोहनगारा' नहीं है, किन्तु कामिनी ही उन्हें गुण-निधान सुख-निधान और आनन्द-निधान जान पड़ती है। कनक और कामिनी में ही संसार की समस्त शक्तियों का समावेश हो जाता है।

इन शक्तियों से जिनका अन्तःकरण अभिभूत हो गया है, जिसके हृदय पर इन्होंने आधिपत्य जमा लिया है, वह ईश्वर

की तरफ नहीं झाँकेगा। अगर झाँकेगा भी तो इसलिए कि ईश्वर उसे कामिनी दे। कदाचित् कामिनी मिल जाय तो वह ईश्वर से पुत्र आदि परिवार की याचना करेगा। पुत्र-पौत्र मिल जाने पर वह सांसारिक मान-सन्मान के लिए ईश्वर को नमस्कार करेगा। मगर जो मनुष्य कंचन और कामिनी आदि के लिए ईश्वर की उपासना करेगा वह उनमें से किसी की कमी होते ही ईश्वर से विमुख हो जायगा और कहेगा—ईश्वर है कौन! अपना उद्योग करना चाहिए, वही काम आता है। ऐसे लोग ईश्वर के भक्त नहीं हो सकते। इनके आगे ईश्वर की बात करना भी निरर्थक-सा हो जाता है।

जैसे धन को मोहनगारा मानने वाला धन के सिवाय और किसी में भलाई नहीं देखता, उसी प्रकार ईश्वर को मोहनगारा मानने वाले मनुष्य ईश्वरके सिवाय और किसी में भलाई नहीं देखते। वे लोग ईश्वर को ही मोहनगारा मानते हैं और ईश्वर को ही अपना उपास्य समझते हैं।

जल में रहने वाली मछली खाती भी है, पीती भी है, विषय भोग भी करती है, मगर करती है सब कुछ जल में रह कर ही। जल से अलग करके उसे मखमल के बिछौने पर रख दिया जाय और बढ़िया भोजन खिलाया जाय, तो वह न भोजन खाएगी, न मखमल के मुलायम स्पर्श का आनन्द ही अनुभव करेगी। उसका ध्यान तो जल में ही लगा रहेगा। परमात्मा के प्रति भक्तों की भावना भी ऐसी ही होती है। भक्त चाहे गृहस्थ हो या साधु, पानी के बिना मछली की तरह परमात्मा के ध्यान के बिना-सुख अनुभव नहीं करता। उसका खाना-पीना आदि सारा ही व्यवहार परमात्मा के ध्यान के साथ ही होगा। परमात्मा के ध्यान के बिना कोई भी बात उसे अच्छी नहीं लगेगी।

प्रश्न हो सकता है—परमात्मा के भक्त, परमात्मा को 'मोहनगारो' मानकर उसके ध्यान में आनन्द मानते हैं, लेकिन कैसे कहा जा सकता है कि यह उनका भ्रम नहीं है ? क्या यह सम्भव नहीं है कि वे भ्रम के कारण ही परमात्मा का भजन करते हैं ? परमात्मा में ऐसा क्या आकर्षण है—कौन सी मोहक-शक्ति है कि भक्त-जन परमात्मा के ध्यान बिना, जल के बिना मछली की तरह, विकल रहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मछली को जल में क्या आनन्द आता है, यह बात तो मछली ही जानती है, उसी से पूछो। दूसरा कोई क्या जान सकता है ! इसी प्रकार जिन्हें परमात्मा से उत्कट प्रेम है, वही बतला सकते हैं कि परमात्मा में क्या आकर्षण है, कैसा सौन्दर्य है और कैसी मोहकशक्ति है ! क्यों उन्हें परमात्मा के ध्यान बिना चैन नहीं पड़ता ! उनके अन्तर से निरन्तर यह ध्वनि फूटती रहती है—

'श्री जिन मोहनगारो छे, जीवन-प्राण हमारो छे।'

इस प्रकार परमात्मा, भक्त का आधारभूत है। परमात्मा को तभी ध्यान में लिया जा सकता है, जब उसे कंचन-कामिनी से अलिप्त रक्खा जाए। जिसमें कामना-वासना नहीं है, वही मोहनगारो होता है। जो कामना-वासना से लिप्त है वह वीतराग नहीं है और जो वीतराग नहीं है वह मोहनगारो भी नहीं हो सकता।

त्याग सब आत्माओं को स्वभाव से ही प्रिय है। एक साधु को देखकर ही हृदय में भक्ति उत्पन्न हो जाती है। आप (श्रोतागण) यहाँ धन के लिए नहीं आये हैं। यहाँ मेरे पास आने का मतलब दूसरा ही है। वह क्या है ? त्याग के प्रति भक्ति। जब साधु के थोड़े-से त्याग को देखकर ही उसके प्रति प्रीति और

भक्ति की उत्पत्ति होती है, तो जो भगवान् पूर्ण वीतराग हैं, उनके ध्यान से कितना आनन्द आता होगा ? कदाचित् यहाँ आकर व्याख्यान सुनने वालों पर एक-एक पैसा टैक्स लगा दिया जाय, तो क्या आप लोग आएँगे ? टैक्स लगा देने पर आप कहेंगे—इन साधुओं को भी हम गृहस्थों के समान ही पैसों की चाह लगी है और जहाँ पैसों की चाह है वहाँ परमात्मा कैसे हो सकता है ? क्योंकि परमात्मा तो वीतराग है।

व्याख्यान सुनने के लिए आने वालों पर पैसे का टैक्स न लगाकर छटाँक-छटाँक भर मिठाई लेकर आने का नियम लागू कर दिया जाय तो खुशामद के लिहाज से मिठाई लेकर आने की बात दूसरी है, लेकिन वीतरागता की भावना से आप न आएँगे और कहेंगे—इन साधुओं को भी रस-भोग की आवश्यकता है। सारांश यह कि आप यहाँ त्याग देखकर ही आये हैं। इस प्रकार लगभग सभी आत्माओं को त्याग प्रिय है। फिर यह त्याग-भावना क्यों दबी हुई है ? इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि आत्मा कंचन और कामिनी के मोह में फँसा हुआ है। आत्मा रात-दिन सांसारिक वासनाओं में लगा रहता है, इसी कारण उसकी त्याग-भावना दबी हुई है। संसार-वासना के वशवर्ती होने के कारण कई लोग, धर्म-सेवन भी वासनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से ही करते हैं। कनक और कामिनी के भोग में सुविधा और वृद्धि होने के लिए ही वह धर्म का आचारण करते हैं। ऐसे लोगों का अन्तःकरण वासना की कालिमा से इतना मलिन हो गया है कि परमात्मा का मन-मोहन रूप उस पर प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता।

यद्यपि मुझ में वह उत्कृष्ट योग-शक्ति नहीं है कि मैं आपका ध्यान संसार की ओर से हटाकर ईश्वर में लगा दूं,

लेकिन बड़े-बड़े सिद्ध महात्माओं ने शास्त्रों में जो कुछ कहा है, मुझे उसमें बहुत कुछ शक्ति दिखाई देती है और इसी कारण वही बात मैं आपको सुनाता हूँ। आप उन महात्माओं के अनुभवपूर्ण कथन की ओर ध्यान लगाइए। फिर सम्भव है कि आपका ध्यान संसार की ओर से हटकर परमात्मा की ओर लग जाए।

२३-श्री पार्श्वजिन-स्तवन



"अश्वसेन" नृप कुल तिलो रे, "वामा दे" नो नन्द ।
चिंतामणि चित्त में बसे रे, दूर टले दुःख द्वन्द्व ॥
जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द ॥ टेर १ ॥

जड़ चेतन मिश्रित पणे रे, करम सुभासुभ थाय ।
ते विभ्रम जग कल्पना रे, आतम अनुभव न्याय ॥ २ ॥

वहमी भय माने जथा रे, सूने घर वैताल ।
त्यूँ मूरख आतम विषे रे, मान्यो जग/भ्रम जाल ॥ ३ ॥

सर्प अन्धारे रासड़ी रे, रूपी सीप मझार ।
मृगतृष्णा अंबू मृषा रे, त्यूँ आतम में संसार ॥ ४ ॥

अग्नि विषे ज्यूँ मणि नहीं रे, मणि में अग्नि न होय ।
सपने की सम्पत्ति नहीं, ज्यूँ आतम में जग जोय ॥ ५ ॥

बांझ पुत्र जनमे नहीं रे, सींग शशै सिर नाय ।
कुसुम न लागे व्योम में रे, त्यूँ जग आतम मांय ॥ ६ ॥

अमर अजोनी आतमा रे, है निश्चे तिहुँ काल ।
'विनयचन्द' अनुभव थकी रे, तूं निज रूप सम्हाल ॥ ७ ॥

श्री पार्श्वनाथ

[क]

यह भगवान् पार्श्वनाथ की प्रार्थना है। इस प्रार्थना की कड़ियाँ सरल हैं और इसके भाव स्पष्ट हैं। लेकिन मनन करने पर इसमें गंभीर बातें दिखाई देती हैं। यह तो आप जानते हैं कि सादी बातों में भी गंभीर भाव छिपे रहते हैं। इस प्रार्थना में भी एक गंभीर बात की सूचना की गई है।

कहा जा सकता है कि जब आत्मा का ही बोध करने की आवश्यकता है तो भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में जाने से क्या लाभ है ? इस कथन के उत्तर में ज्ञानीजनों का कहना है कि आँखों में ज्योति होने पर भी सूर्य की शरण लेनी ही पड़ती है। अगर सूर्य की या किसी दूसरे प्रकाश की शरण न ली जाय तो आँखों में ज्योति होने पर भी कुछ दिखाई नहीं देता। आँखों में ज्योति होने पर भी सूर्य की शरण में जाना पड़ता है, इसका कारण यह है कि आँखों में अपूर्णता है। आँखों की अपूर्णता के कारण सूर्य की सहायता लिये बिना काम नहीं चलता। इसी तरह आत्मा भी अपूर्ण है। आत्मा में अभी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह स्वतन्त्र रूप से अपना बोध कर सके। अतएव जिस तरह आँखों की अपूर्णता के कारण सूर्य का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा में अपूर्णता होने के कारण परमात्मा की सहायता ली जाती है। स्तुतिकार कहते हैं—

सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ।

अर्थात्—हे मुनियों के नाथ ! आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है।

इस प्रकार अनन्त सूर्यों से भी बढ़कर जो भगवान् पार्श्वनाथ हैं, उनकी सहायता आत्मा के उत्कर्ष के लिए अपेक्षित है। भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में गये बिना आत्मा का बोध नहीं हो सकता। जो अपनी इस वास्तविक कमजोरी को जानता होगा और अपनी कमजोरी से डरा होगा, वह पार्श्वनाथ की शरण में गये बिना नहीं रहेगा।

कोई कह सकता है—जब आत्मा का उत्कर्ष करने के लिए भगवान् पार्श्वनाथ की शरण में जाने की आवश्यकता अनिवार्य है और शरण में गये बिना काम चल ही नहीं सकता, तब फिर पार्श्वनाथ की ही शरण में जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में आत्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है?

इस प्रश्न का साधारण उत्तर यह है कि अंधे के लिए लाखों सूर्य भी किस काम के? सूर्य से वही व्यक्ति लाभ उठा सकता है जो स्वयं आंख वाला है। सूर्य का प्रकाश फैला होने पर भी अगर कोई अपनी आंख मूँद रखता है तो वह सूर्य से कोई लाभ नहीं उठा सकता। इस प्रकार भगवान् की शरण जाने पर भी आत्मबोध की आवश्यकता है। जो अपनी आत्मा का उत्कर्ष साधना चाहता है उसे आत्मबोध भी प्राप्त करना होगा और ईश्वर की शरण भी लेनी होगी। आत्मदृष्टि के बिना भगवान् की शरण में जाना अन्धे का सूर्य की शरण में जाने के समान है। अतएव भगवान् की शरण गहने के साथ-साथ आत्मबोध प्राप्त करना भी आवश्यक है।

पूर्वकृत कर्मों का कुछ क्षयोपशम होने से ही हम लोग भगवान पार्श्वनाथ के समीप हुए हैं। भगवान् पार्श्वनाथ की

शास्त्र में 'पुरुषादानी पार्श्वनाथ' कहा है। इस प्रकार जगत् में उनकी बड़ी ख्याति है। बल्कि बहुत लोग तो जैनधर्म को पार्श्वनाथ का ही धर्म समझते है। वे जैनधर्म के अनुयायियों को पार्श्वनाथ का चेला कहते हैं। अगर हम भगवान् पार्श्वनाथ का चेला कहलाने में अपना गौरव समझते हैं तो हमे विचार करना चाहिए कि उन्होंने अपने जीवन में ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य किया था, जिसके कारण उनकी इतनी ख्याति हुई ? और हम लोग जब उनके चेले हैं तो हमें क्या करना चाहिए ? भगवान् ने अपनी ख्याति फैलाने के लिए न किसी की गुलामी की थी और न किसी को यह प्रेरणा ही की थी कि तुम हमारी प्रशंसा करो। ऐसा करने से ख्याति फैलती भी नहीं है। तो फिर भगवान् ने क्या किया था ? यह विचारणीय बात है। इस जगत् पर भगवान् पार्श्वनाथ का अनन्त उपकार है। इसी कारण जगत् के लोग उन्हे मानते हैं। उनमें अनन्त असीम करुणा थी। संसार का यह रिवाज ही है कि जो वस्तु इष्ट होती है, उसे प्राप्त कराने वाले को बहुत चाहा जाता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की अच्छाई का असर भी दूसरों पर पड़ता है। अच्छे रत्न का प्रभाव सारे जगत् पर पड़े विना नहीं रहता। भगवान् पार्श्वनाथ ने जगत् को वही मूल्यवान् वस्तु का उपहार प्रदान किया था, जिसकी उसे अत्यन्त आवश्यकता थी और जिसके अभाव में जगत् व्याकुल, दुःखपूर्ण और अशान्त था। भगवान् पार्श्वनाथ ने जगत् को वे गुण बतलाये जिनसे जगत् का कल्याण होता है। भगवान् ने जिन गुणों से विश्व का कल्याण होते देखा, उन्हीं गुणों को अपनाने के लिए जोर दिया और उनके भक्तों ने वे गुण अपनाए। भक्तों के इस कार्य से भगवान पार्श्वनाथ अधिक प्रसिद्ध हुए। भगवान् को वस्तुतः भक्त ही प्रसिद्ध करते हैं और भक्त ही

बदनाम भी करते है। इस तथ्य को समझ लेने के पश्चात् हम सब को अपना कर्त्तव्य स्थिर करना चाहिए।

भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र में एक बड़ी बात देखी जाती है। मैंने अनेक महापुरुषों के जीवनचरित देखे हैं और उनमें भी वह बात पाई जाती है। जिन्हे लोग महापुरुष मानते हैं उनकी जीवनी में यह बात प्रायः देखी जाती है। साधारण लोग सांप को जहरीला कहकर उसके प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करते हैं, लेकिन महापुरुष सांप पर भी अपना प्रभाव डालते है। भगवान् महावीर ने चंडकौशिक सांप का उद्धार किया था, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। कृष्ण के जीवनचरित्र में भी सांप का सबंध पाया जाता है। मुहम्मद साहब के चरित्र मे भी सांप का वर्णन आया है। इसी प्रकार ईसा के चरित्र में भी सांप का उल्लेख आता है। भगवान् पार्श्वनाथ के जीवनचरित्र में भी सांप का संबंध पाया जाता है। इससे प्रकट होता है कि महापुरुष माने जाने वाले व्यक्तियों के चरित्र में सांप का सम्बन्ध आता ही है और वे अपने महापुरुषत्व का प्रभाव सांप पर भी डालते हैं। समवायांग सूत्र मे तीर्थङ्करों के जो चौवीस चिह्न बतलाये गये हैं, उनमे भगवान पार्श्वनाथ का चिह्न सांप ही बतलाया है। सांप ने उनके मस्तक पर छाया करके उनकी रक्षा की थी। बौद्ध साहित्य में एक जगह उल्लेख आया है कि एक भिक्षु को सांप ने काट खाया। जब उस भिक्षु को बुद्ध के पास ले जाया गया तो बुद्ध ने कहा-तुमने सांप के प्रति मैत्री भावना नहीं रखी थी, इसी कारण सांप ने तुम्हें काटा है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने जब जहरीले सांप पर भी प्रभाव डालकर उसे सुधारा था तथा उसका कल्याण किया था, तब

क्या आप उन मनुष्यों को नहीं सुधार सकते जो आपकी दृष्टि में जहरीले हैं ? अगर आप अपने जीवन की उज्ज्वलता की किरणें ऐसे लोगों के जीवन पर भी बिखेर दें और उन्हें सुधार लें तो जनता पर आपका कैसा प्रभाव पड़े !

भगवान् पार्श्वनाथ ने सांप का कल्याण किस प्रकार किया था, इस वृत्तान्त को ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में विशद रूप से लिखा है। कहा गया है कि भगवान् के पूर्व के दसवें भव के भाई कमठ, जो नरक में जाता, उसका भगवान् ने सुधार किया था और उसका भी कल्याण किया था। लोग दुःख को बुरा कहते हैं। मगर ज्ञानी पुरुष दुःख की भी आवश्यकता समझते हैं। दुखों को सहन करके हम अपना भी कल्याण करते हैं और दूसरों का भी। दुःख सहने से स्व-पर-कल्याण होता है, यह बात भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र से समझी जा सकती है।

भगवान् पार्श्वनाथ जब बालक थे, उस समय उनके पूर्ववर्त्ती दसवें भव का भाई तापस बनकर आया। उसने धूनियां जगाईं और इससे लोग बहुत प्रभावित हुए। झुंड के झुंड लोग उस तापस के पास जाने लगे और अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने लगे। भगवान् पार्श्वनाथ की माता ने उनसे कहा—नगर के बाहर एक बड़ा भारी तपस्वी आया है। वह उग्र तपस्या कर रहा है। सब लोग उसे देखने के लिए जाते हैं। मेरे साथ तुम भी चलो तो हम सब भी देख आवें।

महापुरुष सादे बनकर प्रत्येक काम करते हैं। अतएव माता के कहने पर भगवान् पार्श्वनाथ ने तपस्वी के पास जाना स्वीकार कर लिया। माता के साथ वे तापस के स्थान पर गये।

भगवान् राजकुमार थे और उनकी माता महारानी थीं। दोनों को देखकर तापस बहुत प्रसन्न हुआ। वह सोचने लगा—जब राजरानी और राजकुमार भी मेरी तपस्या से प्रभावित हो गये हैं तो मुझे और क्या चाहिए ?

भगवान पार्श्वनाथ ने हाथी पर बैठे हुए ही-उतरने से पहले ही जान लिया था कि यह तापस मेरे दस भव पहले का भाई है। मेरा यह भाई आज जिस स्थिति में है, अगर उसी स्थिति में रहा तो अपना परलोक बिगाड़ लेगा। जैसे भी संभव हो, इसका उद्धार करना चाहिए। यह तो निश्चित है कि मैं इसका उद्धार करने चलूँगा तो इसके रोष और द्वेष का मुझे भाजन बनना पड़ेगा। उसे सहन करके भी उद्धार करना चाहिए। यह मेरा कर्त्तव्य है।

लोग कहते है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कमठ का मान भंग किया था। मैं समझता हूँ कि ऐसा कहने वालों में मान है, इसी कारण वे ऐसा कहते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ ने जो कुछ भी किया था, वह तापस के प्रति भगवान् की प्रशान्त करुणा का ही परिणाम था। भगवान् के सरल मृदुल हृदय मे तापस के प्रति असीम करुणा का भाव उत्पन्न हुआ और उसी करुणा ने उन्हे तापस के उद्धार के लिए प्रेरित किया। यह बात अलग है कि तापस का अभिमान स्वतः चूर-चूर हो गया, मगर भगवान् की कोई ऐसी इच्छा नहीं थी कि तापस को नीचा दिखाया जाय। भगवान् ने तापस से कहा—'तुम यह क्या कर रहे हो ? इस प्रकार के कष्ट में पडकर अपने लिए नरक का निर्माण क्यों कर रहे हो ? सरल बनो और ऐसे काम न करो, जिनसे तुम स्वयं कष्ट में पड़ो और दूसरे भी कष्ट पावें।'

यद्यपि अनन्त करुणा से प्रेरित होकर भगवान् ने तापस से ऐसा कहा था मगर तापस कब मानने वाला था ? उसने कहा—तुम राजकुमार हो। राजमहल में रह कर आनन्द करो। हम तपस्वियों की बातों मे मत पड़ो। तुम इस विषय में कुछ नहीं समझते हो। तुम अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखो। घोडे फिराओ। राजकुमार यही जानते हैं या उन्हे यही जानना चाहिए। हमारे किसी कार्य के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय करना तुम्हारे अधिकार से बाहर है। तपस्वियो की बात तपस्वी ही समझ सकते हैं।

भगवान् ने कहा—अगर आप कुछ जानते होते तो कुछ कहने की आवश्यकता ही न रहती। लेकिन आप नहीं जानते हो, इसी कारण कहना पड़ता है कि आपने अभी तक सच्चा मार्ग नहीं जान पाया है। अगर मैं कुछ नहीं जानता और आप सब कुछ जानते हैं तो बतलाइये कि आपकी धूनी में जलने वाली लकडी में क्या है ?

तापस—इसमे क्या है अग्निदेव के सिवाय और क्या हो सकता है ! सूर्य, इन्द्र और अग्नि-यह तीनों देव हैं। धूनी की लकड़ी में अग्निदेव हैं।

भगवान् ने शान्त स्वर में कहा—धूनी में जलने वाली इस लकडी में अग्निदेव के सिवाय और कुछ नहीं है, यही आपका उत्तर है न ?

तापस—हाँ, हाँ, यही मेरा उत्तर है। उसमें और क्या रक्खा है ?

भगवान बोले—इसी से कहता हूँ कि अभी तक आप कुछ भी नहीं जानते। आप जिस लकडी को धूनी में जला रहे हैं, उस लकडी के भीतर हमारे आपके समान ही एक प्राणी जल रहा है।

तापस की आँखे लाल हो गईं। वह तिलमिला कर बोला-झूठ! एकदम झूठ! तपस्वी पर ऐसा अभियोग लगाना घोर पाप है।

भगवान्—हाथ कगन को आरसी क्या! आप झूठे हैं या मै झूठा हूँ, इसका निर्णय तो अभी हुआ जाता है। लकडी चिरवा कर देख लो तो असलियत का पता लग जायगा।

तापस—ठीक है, मुझे स्वीकार है।

लकड़ी चीरी गई तो उसमें से एक सांप निकला। वह अधजला हो चुका था। उस तड़फते हुए अधजले सांप को देखकर लोगो के विस्मय का ठिकाना न रहा और साँप के प्रति अतिशय करुणा जाग उठी। लोग कहने लगे—'धन्य हैं पार्श्वकुमार! उनके विषय में जैसा सुनते थे, सचमुच वे उससे भी बढकर हैं।' बहुतेरे लोग उस तापस की निन्दा करने लगे। अपनी प्रतिष्ठा को इस तरह धक्का लगा देखकर तापस बेहद रुष्ट हुआ। वह सोचने लगा—राजकुमार की प्रशंसा हुई और मेरी निन्दा हुई!

भगवान पार्श्वनाथ के हृदय में जैसी दया तापस के प्रति थी वैसी ही दया सांप के प्रति भी थी। भगवान् सांप का कल्याण करने के लिए हाथी से नीचे उतरे! साधारण लोग

समझते हैं कि सांप क्या जाने ? लेकिन सांप जानता है या नहीं, इसका निर्णय तो भगवान के समान ज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं। सर्वसाधारण के वश की यह बात नहीं है। जिस सांप को लोग अतिशय भयावह, विषैला और प्राणहारक। समझते हैं, उसी के कल्याण के लिए करुणानिधान हाथी से नीचे उतरे। वह सांप अधजला हो गया था और उसके जीवन की कुछ ही घड़ियाँ शेष रह गई थीं। भगवान ने उसे पच नमस्कार मन्त्र सुनाकर कहा—तुझे दूसरा कोई नहीं जला सकता और तू यह मत समझ कि दूसरे ने तुझे जलाया है। अपनी आत्मा ही अपने को जलाने वाली है। इसलिए समता भाव रख। किसी पर द्वेष मत ला। किसी पर क्रोध मत कर। इसी में तेरा कल्याण है।

भगवान् ने उस सांप को किन शब्दों मे उपदेश दिया होगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता और भगवान् की महिमा भी नहीं कही जा सकती। फिर भी अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका उपदेश इसी आशय का रहा होगा। प्रथम तो स्वय भगवान् उपदेशक थे, दूसरे पंच नमस्कार मंत्र का उपदेश था। अतएव मरणासन्न सांप अग्नि का संताप भूल गया। उसकी परिणति चन्दन के समान शीतल हो गई। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बारम्बार भगवान् की ओर देखने लगा।

साप की जो कथा आप सुन रहे हैं वह मनोरंजन के लिए नहीं है। उससे बहुत कुछ शिक्षा ली जा सकती है और शिक्षा लेने के लिए ही वह सुनाई गई है। क्या आप भगवान् पार्श्वनाथ को भजते हैं ? अगर आप भगवान् को भजते हैं तो आपकी मनो-

वृत्ति ऐसी हो जानी चाहिए कि कोई कैसी ही आग में क्यों न जलावे, आप शीतल ही बने रहे। वास्तव मे आग की ज्वाला में संताप नहीं है, संताप है क्रोध में। अगर आप अपनी वृत्ति में से क्रोध को नष्ट कर दें तो आपको किसी भी प्रकार की आग नहीं जला सकती। लेकिन होता यह है कि लोग भगवान् पार्श्वनाथ का नाम जीभ से बोलकर आग को हाथ लगाते हैं और कहते हैं कि आग शीतल क्यो नहीं हुई ? वे यह नहीं देखते कि हम बाहर की आग को शान्त तो करना चाहते हैं मगर हृदय की आग-क्रोध की शान्ति हुई है या नही ? अगर हृदय की आग शान्त नहीं हुई है तो बाहरी आग कैसे शीतल हो सकती है ? हृदय की आग को शान्त करके देखो तो सारा जगत् शीतल दिखाई देगा।

ग्रन्थों में कहा है कि भगवान् के उपदेश के कारण वह सांप मर कर धरणेन्द्र देव हुआ। इस प्रकार भगवान् ने उस सांप का भी कल्याण किया। ऐसी बातों के कारण ही जगत् में भगवान् की महिमा का विस्तार हुआ है।

भगवान् ने सांप का कल्याण किया और कल्याण करने से भगवान् की महिमा का विस्तार हुआ; यह ठीक है। किन्तु इससे आपका क्या कल्याण हुआ ? आपको अपने कल्याण के विषय में विचार करना चाहिए। आपका कल्याण तभी सभव है जब आप भी भगवान् को अपने हृदय में बसावें और जलती हुई क्रोध की आग को क्षमा, शान्ति; समभाव आदि के जल से शान्त कर दें।

कहा जा सकता है कि अगर भगवान् पार्श्वनाथ हृदय में वस सकते है तो फिर वसते क्यों नहीं हैं ? क्या हम उन्हें बसने से रोकते हैं ? लेकिन सही बात यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ को

हृदय में बसने देने से एक प्रकार से नहीं तो दूसरे प्रकार से रोका जाता है। अगर उनके बसने में रुकावट न डाली जाय तो वे बसने में विलंब ही न करें। अगर आप अपनी मनोवृत्तियों की चौकसी रखते हैं, अपनी भावनाओ की शुद्धि-अशुद्धि, उत्थान-पतन का विचार किया करते हैं तो यह बात समझने में आपको दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन आम तौर पर लोग सट्टा बाजार के भावों के चढ़ने-उतरने का जितना ध्यान रखते हैं, उतना भी आत्मा के भावो के चढ़ाव-उतार पर ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि आत्मा के पतन की भी उन्हें खबर नहीं पड़ती। शास्त्र में गुणस्थानों का विस्तृत वर्णन किस लिए आया है? गुणस्थान आत्मा के उत्थान और पतन का हिसाब समझाने के लिए ही बतलाये गये हैं। अतएव देखना चाहिए कि किस प्रकार हमने अपने हृदय के द्वार भगवान पार्श्वनाथ के आने के लिए बंद कर रक्खे हैं और उसका परिणाम क्या हो रहा है? दूसरो के दुर्गुण देखने में मत लगे रहो, अपने ही दुर्गुण देखो। दूसरों के दुर्गुण देखते रहने से अपने दुर्गुण दिखाई नहीं देते। अतएव अपने अवगुणों को देखो और सोचो कि हृदय में परमात्मा को बसाने में कहाँ चूक हो रही है?

[ख]

प्रार्थना का स्वरूप बहुत व्यापक है। शास्त्रकारों ने प्रार्थना के अनेक रूप और अनेक नाम बतलाये हैं। उन सब का विवेचन करना शक्य नहीं प्रतीत होता। अतएव यहाँ इसी प्रार्थना के सम्बन्ध में किंचित् विचार करूँगा।

वेदान्त ने जिन्हें माया और ब्रह्म कहा है, सांख्य ने जिन्हें प्रकृति और पुरुष कहा है, जैनधर्म में उन तत्त्वो को जड़ और

चेतन कहा है। यद्यपि विभिन्न दर्शनों में इन तत्त्वों का स्वरू कुछ-कुछ भिन्न बतलाया गया है, फिर भी इनमें मूलतः समानत है। इस प्रार्थना में जड और चेतन को समझाते हुए पार्श्वनाथ भगवान् की वन्दना की गई है। यह प्रेरणा की गई है कि—हे चिदानन्द ! तू पार्श्वनाथ भगवान् की वन्दना कर।

पार्श्वनाथ भगवान् अश्वसेन राजा के पुत्र और वामा देवी के नन्दन हैं। यों तो सभी मनुष्य माता-पिता के पुत्र हैं परन्तु इनमें यह विशेषता है कि इनका स्वरूप चिन्तामणि है। जिस प्रकार चिन्तामणि समीप में हो तो संसार के किसी भी पदार्थ का अभाव नहीं रहता, ऐसे ही भगवान् पार्श्वनाथ का नाम हृदय में होने पर संसार संबंधी चिन्ताओं का, सुख-दुःख के द्वन्द्व का नाश हो जाता है और फिर किसी चीज की इच्छा शेष नहीं रह जाती।

भगवान् पार्श्वनाथ का नाम चिन्तामणि है। उससे चिन्ताओं का नाश होता है। मगर चिन्ताओं का नाश तो तभी हो सकता है जब हम अपनी चिन्ताओं को समझ लें। हमें पहले यह समझ लेना चाहिए कि आत्मा को क्या चिन्ता है ?

चिन्तामणि से लोग तन, धन, स्त्री, पुत्र आदि नाना प्रकार के पदार्थ चाहते हैं। वह चिन्तामणि जड़ है। अतः उससे जड़ पदार्थ माँगे जाते हैं, परन्तु पार्श्वनाथ भगवान् का नाम चैतन्य-चिन्तामणि है। जड़ से जड़ पदार्थ माँगे जाते हैं, लेकिन इस चैतन्य-चिन्तामणि से क्या माँगना चाहिए ?

पहले चिन्ता का निर्णय कर लेना चाहिए। सासारिक पदार्थों की चिन्ता जड़ चिन्तामणि से तथा उसके अभाव में

दूसरे साधनों से ही मिट सकती है। उसके लिए चैतन्य-चिन्तामणि भगवान् पार्श्वनाथ से अभ्यर्थना करने की क्या आवश्यकता है ?

पुत्र की इच्छा पूर्ण करने के लिए पहले स्त्री की इच्छा की जाती है। पुत्र यदि भगवान से ही मिलता हो और स्त्री से न मिलता हो तो फिर कँवारेपन मे ही भगवान् से पुत्र पाने की इच्छा क्यों न की जाती ? पहले स्त्री की इच्छा क्यो की जाती ? इससे भलीभाँति सिद्ध है कि पुत्र, स्त्री से ही मिलता है और यह बात इच्छा करने वाला भी भलीभाँति समझता है।

इसी प्रकार लक्ष्मीवान् की सेवा करने से निर्धन धनवान् हो सकता है। फिर धन की अभिलाषा करने वाले को परमात्मा से धन की प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है ?

शरीर का रोग वैद्य दूर कर सकता है। उसके लिए भी भगवान् के पास दौडने की आवश्यकता नही।

आशय यह है कि ससार के पदार्थ संसार से ही मिल सकते हैं। इससे यह भी सिद्ध है कि जड़ चिन्तामणि के बिना, जिससे हम ससार के पदार्थ चाहते हैं, कोई काम नहीं रुका है। हाँ, उसके मिलने पर यह अवश्य होगा कि उद्योग नहीं करना पड़ेगा और आलस्य मे डूबे रहने पर भी यह सब वस्तुएँ मिल जाएँगी। मतलब यह निकला कि आलस्य बढाने के लिए जड़ चिन्तामणि की चाह की जाती है। अगर आप लोग आलस्य बढ़ाने के लिए यहाँ आये है तो मेरे उपदेश से क्या लाभ है ? थोडे मे मेरे कहने का आशय यह है कि पहले अपनी चिन्ता का

निर्णय करो। जड चिन्तामणि से जो चीजें प्राप्त होंगी वह सब नाशवान् होंगी। परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ के नाम रूपी चिन्तामणि से जो प्राप्त होगा वह नित्य और स्थायी होगा। ऐसी दशा में प्रधान को छोड़ कर अप्रधान की तरफ हाथ बढ़ाना अपनी प्रधानता को नष्ट करना है।

चक्रवर्त्ती राजा की कृपा होने पर उससे मुट्ठी भर घास माँगना, माँगना नहीं, उसका अपमान करना है। जिसने चक्रवर्त्ती से घास माँगा, समझना चाहिए कि उसने चक्रवर्त्ती को पहचाना ही नहीं। जो चक्रवर्त्ती को समझ लेगा वह घास नहीं माँगकर राज्य माँगेगा और उससे घास भी आ जायगा।

इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के नाम रूपी चिन्तामणि से ऐसी चीज माँगो, जिसमें सभी चीजों का समावेश हो जाय। तात्पर्य यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ की प्रार्थना शाश्वत सुख मोक्ष के लिए की जाती है। मोक्ष के माँगने पर क्या शेष रह जाता है? मुक्ति में सम्पूर्ण सुख का समावेश आप ही आप हो जाता है।

जैनसिद्धान्त के अनुसार संसार में मूल दो पदार्थ हैं—एक जड़, दूसरा चेतन। इन दोनों के मिलने विछुड़ने से सारी सृष्टि का निर्माण होता है। कहीं, किसी ओर दृष्टि डालो, इन दो के अतिरिक्त और कोई पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता।

जड चेतन मिश्रितपणे रे, कर्म शुभाशुभ स्थान।
ये विभ्रम जग कल्पना रे, आतम अनुभव ज्ञान॥

यह चर्चा सूक्ष्म है। उपस्थित श्रोताओं में दो-चार के सिवाय इसे शायद अधिक न समझ सकेंगे। मगर इतनी बात

तो समझ ही लेनी चाहिए कि जीव चैतन्य स्वरूप है और जड अचेतन है। इन्हीं के मिलने से ससार का यह खेल है। इस चेतन-चिन्तामणि के मिलने पर आप स्वयं अनुभव करने लगेंगे कि यह ससार नीरस है और हमें इसकी आवश्यकता नहीं है।

सुना है कि तोते को पकड़ने के लिए पारधी जगल मे एक यत्र लगाते हैं। जैसे ही तोता आकर यत्र पर बैठता है, यत्र घूमने लगता है। ज्यों-ज्यों यत्र घूमता है, त्यों-त्यों तोता उसे जोर से पकड़ता है और सोचता है कि इसे छोड़ते ही मैं गिर पड़ूंगा। उस यंत्र की विशेषता यह होती है कि जब तक उस पर वजन रहेगा वह बराबर घूमता ही रहेगा। इसी समय पारधी आकर तोते को पकड़ लेता है अब आप विचार कीजिए कि तोता किस कारण पकड़ा गया ?

'भ्रम के कारण।'

वह भ्रम से समझता है कि मैंने यंत्र को छोड़ा कि नीचे गिरा। इसी भ्रम के कारण वह पकडा जाता है और उसे पींजरे में बंद होना पड़ता है।

शास्त्रकार कहते हैं इसी प्रकार चिन्दानन्द कर्म-जाल मे पड़कर चक्कर खा रहा है। उसे भ्रम है कि मैंने इसे छोड़ा कि चक्कर में पडा। इली भ्रम के कारण वह चौरासी लाख योनियों में चक्कर काट रहा है। परन्तु पार्श्वनाथ भगवान् का ध्यान करने से यह भ्रम मिट जाता है और मालूम हो जाता है कि संसार हमें चक्कर नहीं खिला रहा है, बल्कि हम स्वय ही चक्कर खाते हैं।

कुछ लोग यह सोचकर निराश हो जाते हैं कि जो कुछ होता है, कर्म से ही होता है। मगर उन्हे यह भी सोचना चाहिए कि कर्म को कौन बनाता और बिगाड़ता है? कर्म को करने वाला कोई दूसरा नहीं है। तेरे लिए किसी दूसरे ने कर्म का निर्माण नहीं कर दिया है। तू स्वयं कर्म उपार्जन करके और कर्म-बन्धन मे पड़कर चक्कर खा रहा है। ज्ञान हो तो चक्कर काटना ही न पड़े। इन चक्करों से छूटने के लिए ही उस चेतन चिन्तामणि का स्मरण करो। इसीलिए कहा है—

जीव रे ! तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द।
ये विभ्रम जगकल्पना रे आतम अनुभव न्याय।

हे जीव ! तू किस भ्रम में पड़ा है ! स्थिर होकर समझ कि मेरे ही चक्कर खाने से मै घूम रहा हूँ और छूटने से छूट सकता हूँ। अर्थात् मैं ही चक्कर खा रहा हूँ और मैं ही चक्कर खाना छोड़ सकता हूँ।

एक आदमी ने पेड़ को पकड़ कर चिल्लाना आरंभ किया-दौड़ो, मुझे पेड़ ने पकड रक्खा है। लोग उसकी चिल्लाहट सुन कर दौड़े। उन्होंने देखा कि उसने स्वयं पेड़ को पकड़ रक्खा है। उससे कहा-मूर्ख ! तुझे पेड़ ने पकड़ रक्खा है या तूने पेड़ को पकड़ रक्खा है ? छोड़ दे इस पेड़ को।

पकड़ने वाला कहता है—कैसे छोड़ूँ ? इसने तो मुझे पकड़ लिया है !

अब जब तक पेड़ पकड़ने वाले का भ्रम न मिटे, वह सुखी कैसे हो सकता है ?

पार्श्वनाथ भगवान् की प्रार्थना से यह विदित हो जाता है कि संसार ने तुम्हें पकड़ा है या तुमने संसार को पकड़ रक्खा है। लोग अब तक इसी भ्रम मे पड़े हैं और इसी कारण चक्कर काट रहे हैं। भगवान् पार्श्वनाथ से इसीलिए प्रार्थना करनी चाहिए कि—प्रभो ! तेरी कृपा के विना सच्चा ज्ञान नहीं आता। मै सच्चा ज्ञान चाहता हूँ।

चिन्तामणि से तुम्हें अन्न-वस्त्र आदि सांसारिक सुख के साधन मिल सकते हैं। परन्तु यह साधन आध्यात्मिक क्लेशों को मिटाकर शाश्वत शान्ति और अनन्त आनन्द नहीं दे सकते। बल्कि इन साधनों के कारण असन्तोष और अशान्ति बढ़ती है और फलस्वरूप क्लेश भी बढ़ते चले जाते हैं। लेकिन चैतन्य-चिन्तामणि से ऊपर का ही सुख नहीं मिलता, उससे शरीर का ही सुख नहीं प्राप्त होता, बल्कि आत्मा को भी आनन्द मिलता है। एक सैकिंड के लिए भी अगर चैतन्य-चिन्तामणि की चाह अन्तःकरण में जाग उठे तो निराला ही अनुभव होगा। इसकी चाह में जितना बढ़ोगे, उतना ही आपकी आत्मा का कल्याण होगा।

[ग]

जीव रे ! तू पार्श्वनाथ जिनेश्वर वन्द।

यह भगवान पार्श्वनाथ की प्रार्थना है। प्रार्थना रूप चिन्तामणि का आत्मा के साथ किस प्रकार योग होता है, यह श्रवण करने का विषय है। लेकिन श्रवण करने के साथ ही मनन करने की भी आवश्यकता है। विना मनन किये श्रवण करना पूर्णतया लाभप्रद नहीं होता। आज मैं प्रार्थना सम्बन्धी कुछ गभीर बातें

आपको सुनाना चाहता हूँ। आप सुनने के लिए तैयार हों अर्थात् एकाग्र चित्त से सुनें और आपका मस्तिष्क उन विचारों को ग्रहण कर सके, तभी मेरा कहना सार्थक हो सकता है।

प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए? इस सम्बन्ध मे संसार में नाना मत हैं। कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है। लेकिन प्रार्थना की शक्ति को सभी ने एकमत से स्वीकार किया है। प्रार्थना की शक्ति को वेदान्तदर्शन के अनुयायी परा शक्ति कहते हैं। शक्ति दो प्रकार की मानी गई है-परा और अपरा। अपरा शक्ति मे तो प्रायः सभी संसारी पड़े हुए हैं। इस अपरा शक्ति से परा शक्ति मे जाने के लिए साधन की आवश्यकता है। पराशक्ति में जाने के लिए ही प्रार्थना की जाती है। प्रार्थना पराशक्ति को प्राप्त करने का साधन है। परा शक्ति किसी दूसरे की नहीं है। वह है तो हमारी ही, लेकिन आज हम अपरा शक्ति में पड़कर उस परा शक्ति को भूल गये हैं। जो महानुभाव उस परा शक्ति को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें देखकर ही हम यह कह सकते हैं कि 'हे परा शक्ति! तुम मुझ मे आओ। तुम मेरी हो, फिर मुझ से दूर क्यों हो रही हो ?'

अभी जो प्रार्थना बोली है, उसमे भी परा शक्ति की प्राप्ति का ही उपाय बतलाया गया है। उसमें कहा है—

चिन्तामणि चित्त में बसे तो दूर टले दुख द्वन्द्व।

परमात्मा रूप चैतन्य-चिन्तामणि के हृदय मे बसे विना यह शक्ति नहीं मिल सकती। अतएव उस शक्ति को प्राप्त करने के लिए परमात्मा को हृदय में बसाने की आवश्यकता है और इसके लिए भी साधन चाहिए। यह बात निसर्ग पर ध्यान देने से

अच्छी तरह समझ में आ जाएगी। सूर्य में प्रकाश तो है ही, लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर उसमें कुछ और ही विशेषता जान पड़ेगी। वैज्ञानिक यह जानते हैं कि सूर्य की किरण में आग पैदा करने की शक्ति है। आग की आवश्यकता होने पर वैज्ञानिक सूर्य से रुई पर आग प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह बात प्रतीत हुई कि सूर्य की किरण में आग है और वह आग रुई पर आ भी जाती है। रुई सूर्य की किरण की आग को पकड़ भी लेती है। लेकिन इसके लिए भी साधन की आवश्यकता है। वह साधन काच है। काच से सूर्य की किरणें एकत्रित होकर रुई में आ जाती हैं।

इसी प्रकार प्रार्थना में आत्म-विकास की शक्ति है। यदि आप अपने में उस शक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं तो साधन को जुटाइए। इससे वह शक्ति आपमें आ जाएगी। आप उस शक्ति को अपने में लेना तो चाहते हैं, लेकिन जब तक बीच में साधन न हो—जिस साधन से वह शक्ति अपने में ग्रहण की जा सकती है वह साधन न हो—तब तक आप में वह नहीं आ सकती। ठीक उसी तरह जैसे किरण में आग उत्पन्न करने की शक्ति है और वह रुई में आ भी जाती है, लेकिन जब तक बीच में काच न हो, रुई मे आग नहीं आ सकती। इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति रूपी आग भी बिना साधन के कैसे प्राप्त हो सकती है ? इस कारण यदि आप परमात्मा की वह शक्ति चाहते हैं, परा प्रकृति को प्राप्त करने की आपकी इच्छा है तो उस शक्ति की प्राप्ति के लिए उचित साधन काम में लीजिए। वह शक्ति आपमें आने से इन्कार नहीं करती है। वह दयालु शक्ति है। लेकिन उसे ग्रहण करने के लिए अपने हृदय को तैयार करो। परमात्मा की सच्चे भाव से प्रार्थना

करो। अगर कोई सच्ची रीति से परमात्मा की प्रार्थना नहीं करता और उस शक्ति को दोष देता है तो वह दोष देने वाला झूठा है।

परा शक्ति को प्राप्त करने का साधन परमात्मा की प्रार्थना रूपी काच है। लेकिन आपने उस काच पर अनेक आवरण डाल रक्खे है। उसे बहुत मैला कर रक्खा है। यही कारण है कि उस शक्ति की किरणें आप मे नहीं आ पातीं। अतएव पहले यह विचार करो कि उस शक्ति की किरणें हमारे मे क्यों नहीं आतीं? साथ ही यह भी सोचो कि उस शक्ति को ग्रहण करने वाले काच को किस प्रकार साफ किया जाय? उस काच को साफ करने के लिए काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सरता और लोभ का त्याग करो और जो चीज़ आपकी नहीं है उससे नाता तोड़ लो। आचाराङ्ग-सूत्र में कहा है कि जो प्रारंभ में ही आपकी नहीं है, वह अन्त में और मध्य में भी आपकी कैसे हो सकती है? आचारांग का पाठ इस प्रकार है:—

जस्स नत्थि पुव्वं, पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिआ?

अर्थात्—जो पौद्गलिकशक्ति पहले नहीं थी और अन्त में भी नहीं रहेगी, वह बीच में आपकी कैसे हो सकती है?

अतएव जो पहले आपका नहीं था उसे त्यागो। उसके भुलावे में मत पड़ो। पाँच और पाँच दस होते हैं। इस बात पर आपको विश्वास है। कोई कितना ही पढ़ा-लिखा विद्वान् हो और वह आपको दस के बदले नौ या ग्यारह कहे तो आप उसका कथन सत्य नहीं मानेंगे। आपको पक्का विश्वास है कि पाँच और पाँच, दस ही होते हैं। इस सत्य से किसी के भी कहने

पर आप विचलित नहीं हो सकते। इसी तरह सदा सत्य पर विश्वास रक्खो। जो अत्यन्त और एकान्त सत्य है उसी को अपनाओ। फिर वह परा शक्ति आपसे दूर नहीं है। वह आपमें आने के लिए सदा ही तैयार है। लेकिन या तो आप उसके और अपने बीच में साधन रूप काच नहीं रखते या वह काच मैला है। जब बीच में काच ही न हो या काच मैला हो तब परा शक्ति रूप सूर्य की किरणें कैसे आ सकती हैं? साधन रूप काच बीच में हो और वह मैला न हो किन्तु साफ हो तो वह शक्ति अवश्य ही आपमें आएगी।

कई लोग उस शक्ति के विषय में सन्देह करते हैं कि वह शक्ति है भी या नहीं? लेकिन इस प्रकार का सन्देह हृदय रूपी काच पर मैल होने का प्रमाण है। जिसका हृदय रूपी काच स्वच्छ होगा उसे उस शक्ति के अस्तित्व में संदेह नहीं हो सकता। उस शक्ति का अस्तित्व उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार सूर्य की किरणों से आग उत्पन्न होने की बात सत्य है। सूर्य पर तो कभी आवरण भी आ जाता है, मगर वह शक्ति निरावरण है। सूर्य पर आवरण आ जाने से उसकी किरणों से आग नहीं भी मिलती है, किन्तु वह परा शक्ति तो सदा ही प्राप्त हो सकती है।

सूर्य पर आवरण आजाने पर और उसकी किरणें प्राप्त न होने पर आग को प्राप्त करने के लिए पहले के लोगों ने चकमक का आविष्कार किया। एक लोहे का टुकड़ा होता है और एक पत्थर का टुकड़ा होता है। दोनों को आपस में रगड़ने से आग पैदा हो जाती है, जिसे रुई पर ले लिया जाता है। इस तरह कुछ ही पैसों में चकमक मिल जाती थी और उससे आग

प्राप्त कर ली जाती थी। लेकिन आज चकमक के स्थान पर लाखों रुपयों की दियासलाइयाँ लग जाती हैं।

महाकवि भवभूति के द्वारा रचित उत्तररामचरित के एक श्लोक पर यों तो बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर यहाँ थोड़े में ही कहूँगा। उसमें जो विचार व्यक्त किये गये हैं उन्हें समझा देना मेरा काम है, लेकिन अमल में लाना आपका काम है। समझाने वाले चाहे साक्षात् तीर्थंकर ही क्यों न हों, सुनने वालों को अमल तो स्वयं ही करना पड़ता है। अपने किये बिना कुछ नहीं होता। भवभूति कहते हैं—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत् ।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ॥
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितम् ।
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

इस श्लोक में बतलाया है कि संसार में सब वस्तुएँ मिल सकती हैं, लेकिन एक वस्तु का मिलना बहुत ही कठिन है। वह वस्तु तो पूर्व-जन्मों की अच्छी करणी होने पर ही मिल सकती है। वह वस्तु है—प्रेम। वह पूर्व पुण्य के सञ्चय के बिना और कष्ट के बिना नहीं मिलता। उस प्रेम का स्वरूप अहेतुक अनुरक्ति है। अर्थात् वह प्रेम निःस्वार्थ होना चाहिए। प्रेम दो प्रकार का होता है—भद्रप्रेम और अभद्रप्रेम। अच्छे मनुष्य का प्रेम भद्रप्रेम होता है और बुरे मनुष्य का प्रेम अभद्रप्रेम होता है। यहाँ जिस प्रेम की दुर्लभता बतलाई गई है वह भद्रप्रेम है। यह बात अनेक उदाहरणों द्वारा बतलाई जाती है।

संसार-व्यवहार में पति-पत्नी के प्रेम को प्रायः सब से बड़ा माना जाता है। जिसमे किंचित् भी स्वार्थ की भावना नहीं है, ऐसा निस्वार्थ पत्नीप्रेम किसी ही पति को उसके पूर्वपुण्य से ही मिलता है। इसी भाँति पत्नी का पूर्व-पुण्य हो तभी उसे पति का निस्वार्थ प्रेम प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य और भगवान् तथा भक्त में भी निस्वार्थ प्रेम विना पूर्वपुण्य के नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश चाहे जहाँ लिया जा सकता है, इसी प्रकार प्रेम का प्रकाश भी सब जगह और सब अवस्थाओं मे आता है। यह प्रेम ऐसा है कि चाहे सुख हो या दुःख हो, अद्वैतभाव से रहता है। सुख और दुःख की अवस्था में प्रेम में भेद हो जाना द्वैत है।

सीता ने स्वयवरमंडप में राम के गले में माला डाली थी। इसमें कोई विशेषता नही थी। क्योंकि उस सभा में उनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं था और सिर्फ उन्होने धनुष चढ़ाया था। अतएव उस समय सीता को राम के गले में वरमाला डालने से प्रसन्नता हुई। इससे सीता की कोई विशेषता नहीं प्रकट होती। सीता की विशेषता तो इस बात से प्रकट होती है कि उसे जैसी प्रसन्नता राम के गले मे वरमाला डालते समय हुई थी, वैसी ही प्रसन्नता राम के साथ वन जाते समय भी हुई। इसी का नाम सुख और दुःख मे समान प्रेम रहना है और यही अद्वैत प्रेम है। जो प्रेम सुख मे रहे और दुःख मे न रहे, वह द्वैतप्रेम है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार का अद्वैत प्रेम पति और पत्नी तक ही सीमित रक्खा जाय या आगे बढ़ाया जाय ? आगे स्वामी-सेवक में भी इस प्रकार का अद्वैत प्रेम रहना कठिन होता है। कई सेवक ऐसे होते हैं कि जब तक स्वामी से

पैसे मिलते हैं तब तक तो सेवा करते हैं और जब पैसा मिलना बंद हो जाता है तब स्वामी की आबरू लेने को तैयार हो जाते हैं! निःस्वार्थभाव से सेवा करने वाले सेवक या निस्वार्थ प्रेम रखने वाले सेवक बड़े भाग्य से ही मिलते हैं।'

अब पिता-पुत्र के प्रेम को देखिए। पिता, पुत्र की और पुत्र, पिता की स्वार्थ से प्रेरित होकर तो सेवा करते ही हैं, स्वार्थ से तो प्रेम करते ही हैं, लेकिन निस्वार्थ प्रेम पूर्वपुण्य के अभाव में नहीं मिल सकता। भाई-भाई में स्वार्थमय प्रेम होता ही है। मगर निस्वार्थ प्रेम कैसा होता है, यह जानना हो तो लक्ष्मण को देखो। राम का राज्य छूटने और उनके वन जाने के समय लक्ष्मण को क्रोध भी आया था और वे सारी पृथ्वी को कंपित कर सकते थे। उन्होंने कहा भी था कि सौमित्र के होते हुए राम का राज्य कौन ले सकता है? लेकिन फिर लक्ष्मण ने सोचा कि मैं जिनके विषय में यह सब सोच रहा हूँ, उन राम की इच्छा क्या है, यह भी तो देख लेना चाहिए। वे राज्य चाहते या नहीं? जब उन्होंने राम को देखा तो उनमें निस्वार्थ प्रेम ही दिखाई दिया। यह देखकर और भाई की इच्छा जानकर उन्होंने अपना विचार बदल दिया और राम के साथ ही वन जाने का निश्चय कर लिया। यों तो राम के नाम की माला सभी जपते हैं, मगर उस जाप का उद्देश्य क्या है? प्रायः यही उद्देश्य होता है कि हम पराया माल किसी तरह हजम कर लें।

भाई-भाई के ही प्रेम की तरह सहधर्मी के प्रेम को भी देखो। सहधर्मी भाई से सुख में प्रेम किया और दुःख के समय उसे भूल गये तो निस्वार्थ प्रेम नहीं है। यह स्वार्थपूर्ण प्रेम है।

गुरु और शिष्य में कैसा प्रेम होना चाहिए? जब गुरु सुख में हो तो चेला हाजिर रहे और गुरु पर जब दुःख आ पड़े तो दूर हो जाय, तो क्या उस शिष्य का गुरु पर निस्वार्थ प्रेम कहा जा सकता है? निस्वार्थ प्रेम तो तभी कहला सकता है जब वह सुख और दुःख में समान रूप से रहे, बल्कि दुःख के समय और अधिक समीप आवे। कहावत है—

वखत पड्या पे आवे आडो,
वो सज्जन से प्रेम है गाडो।
वखत पड्यां पर लेवे टालो,
वी सज्जन को मूँडो कालो।

इस प्रकार जो मनुष्य समय पर काम न आवे, दुःख के समय प्रेम न रक्खे, वह सच्चा प्रेमी नहीं है।

अब ईश्वर और भक्त के प्रेम पर विचार करो। भक्त का ईश्वर पर कैसा प्रेम होना चाहिए? जब आपको संसार के सभी सुख प्राप्त हों, बेटे-पोते आदि हो, और खाने-पीने को खूब मिलता हो उस समय परमात्मा की कृपा मानना और कष्ट के समय भगवान् को गाली देने लगना भगवान् के प्रति निस्वार्थ अद्वैत प्रेम नहीं है। परमात्मा से निस्वार्थ प्रेम करना सीखना हो तो उनसे सीखो जिन्होंने सिर पर धधकते अङ्गार रक्खे जाने पर और घानी में पीले जाने पर भी परमात्मा से प्रेम नहीं त्यागा; जो ऐसी भीषण स्थिति मे भी परमात्मा के प्रति अटल प्रीति बनाये रहे। जिस प्रकार अगरबत्ती जलने के समय बहुत खुशबू देती है, बदबू नहीं देने लगती, उसी तरह निस्वार्थ प्रेम करने वाला दुःख के समय परमात्मा से और अधिक सामीप्यमय प्रेम स्थापित करता है, वह उस समय परमात्मा को गालियाँ नहीं

देने लगता। अगर दुःख के समय परमात्मा को गाली देने लगे तो स्वार्थपूर्ण और द्वैतमय प्रेम समझना चाहिए।

सीता का राम के प्रति निस्वार्थ प्रेम था ही, लेकिन राम भी सीता से निस्वार्थ प्रेम करते थे। वे सुख के समय सीता से जितना प्रेम करते थे उतना ही प्रेम दुःख के समय भी करते थे। वैसे तो राम के चरित्र को बहिर्दृष्टि से देखने वाले कई लोग उनके चरित्र में से काँटे भी निकालते हैं। वे कहते हैं—सीता गर्भवती थी। उसको प्रसव-पीड़ा हो रही थी, फिर भी राम ने उसे भयानक वन में छोड़ दिया। किन्तु उस समय भी राम की मनोदशा का जो वर्णन भवभूति ने किया है, उसे सुनकर किसी भी सहृदय पुरुष को रोना आये बिना नहीं रह सकता। सीता का परित्याग करने से राम को अत्यन्त उग्र और गहन व्यथा हुई थी। उनके लिए सीता का त्याग करना प्राणों का त्याग करने के समान अप्रिय-अनिष्ट था। लेकिन उन्होंने कहा था कि, भले मुझे प्राण ही क्यो न देने पड़े, फिर भी मेरे लिए प्रजा का अनुरंजन करना आवश्यक है। प्रजा ने जानकी पर कलंक लगाया है। मैं इस बात को लेकर प्रजा का विरोध नहीं करना चाहता। विरोध करने से प्रजा का अनुरंजन नहीं होगा और मेरी तथा जानकी की प्रतिष्ठा भी नहीं बढ़ेगी। जानकी निर्दोष है, इसलिए उसका वन में भी क्या बिगड़ सकता है। अन्त में सचाई सूर्य की तरह चमकेगी और उसके चरित्र को घेरने वाले संदेह के मेघ उसके कष्ट सहन रूप पवन से छिन्न-भिन्न हो जाएँगे। अतएव सीता को वन में भेज देना ही ठीक है। वन जाने के कारण सीता को कष्ट होगा और मुझे भी असीम दुःख होगा, मगर सीता की निष्कलंकता सिद्ध हो जायगी और ससार के समक्ष एक सुन्दर आदर्श खड़ा हो जायगा। राम ने इस प्रकार विचार किया था।

इसी कारण वन भेजने के निमित्त को लेकर सीता को भी राम के प्रति अप्रीति नहीं हुई।

राम ने सीता को वन में भेज दिया था, फिर भी राम के प्रति सीता का प्रेम कम नहीं हुआ, ज्यों का त्यों बना रहा। इसका कारण यह था कि उन दोनों मे अहेतुकी अनुरक्ति थी। अहेतुकी अनुरक्ति सुख और दुःख--दोनों में समान ही रहती है। उसमें किसी भी समय द्वैत तो होता ही नहीं है। चाहे सुषुप्ति-अवस्था हो या जागृति-अवस्था हो, कैसी भी अवस्था क्यों न हो, इस प्रेम में अन्तर नही आता। जैसे पतिव्रता स्त्री को पर-पुरुषरमण का स्वप्न भी नहीं आता और जैसे किसी भी कुलीन पुरुष को मातृरमण का स्वप्न नहीं आता, क्योकि हृदय मे इसकी भावना ही नहीं है। जो पुरुष मास-मदिरा नहीं खाता-पीता उसे उसके खाने-पीने का स्वप्न भी नहीं आता होगा, क्योंकि उसके हृदय में वैसी भावना ही नही होती। इसी प्रकार अहेतुक प्रेम किसी भी अवस्था में अन्यथा नहीं होता। वह प्रेम प्रत्येक अवस्था मे समान बना रहता है। 'किसी भी समय कम या ज्यादा नही होता। यह बात उन पति-पत्नी की है जो सदाचारी हैं और जिनमें निस्वार्थ प्रेम है। अहकार निर्लज्जता या दुर्व्यसन में पड़े हुए लोगों की बात निराली है। उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता।

अहेतुकी प्रेम से हृदय को विश्राम मिलता है। सांसारिक लोगों का हृदय त्रिताप से सदा ही संतप्त रहता है। उदाहरण के लिए, गृहस्थ को धन कमाने में भी दुःख होता है, उसकी रक्षा मे भी दुःख होता है और व्यय में भी दुःख होता है। धन चोरी या

लूट आदि से चला जाय तब भी दुःख होता है और न जावे तो भी दुःख होता है। इस प्रकार संसारी प्राणी का हृदय त्रिपात से जला करता है। अहेतुकी अनुरक्ति उस तप्त हृदय को विश्राम देती है।

यह प्रेम हृदय का विश्राम किस प्रकार है? आपने धन का उपार्जन किया है। फिर उसे तिजोरी में बंद कर रखने का कारण क्या है? यही तो कि आपको भय है कि उस धन को कोई ले न जाय! पैसा कहीं चला न जाय! इस प्रकार आपका धन ही आपके लिए तापकारक है।

आपका विधिवत् विवाह हो गया है, फिर भी स्त्री पर विश्वास नहीं है। इसीलिए उसे पर्दे में रक्खा जाता है कि कहीं कोई देख न ले। अहेतुकी अनुरक्ति होने पर इस तरह का भय नहीं रहता। सीता को रावण हर ले गया था। सीता अकेली और असहाय थी और रावण प्रचण्ड शक्ति से सम्पन्न था। फिर भी राम को अविश्वास नहीं हुआ था। सुदर्शन सेठ को शूली पर चढ़ाने के लिए ले जाया जा रहा था। किसी ने उसकी स्त्री मनोरमा से कहा कि तुम्हारे पति को शूली पर चढ़ाया जा रहा है। तब मनोरमा ने यही कहा कि मुझे विश्वास है, मेरे पति को शूली नहीं लग सकती। मेरे पति ऐसे नहीं कि उन्हें शूली लग सके! इतने पर भी अगर शूली लग जाय तो मैं यही समझूँगी कि मेरे पति शूली पर नहीं चढ़े हैं किन्तु उनके किसी समय के किसी पाप को ही शूली पर चढ़ाया गया है। धर्म कभी शूली पर नहीं चढ़ता। शूली पर चढ़ता है पाप!

जहाँ इस तरह निस्वार्थ प्रेम है वहाँ विश्वास रहता है और जहाँ विश्वास है वहाँ हृदय को विश्राम है। पति-पत्नी, भाई-भाई,

पिता-पुत्र आदि जिनमें भी इस प्रकार का प्रेम है उनमें सदा विश्वास ही रहता है और उनका गृहस्थजीवन सुखमय तथा शान्तिमय व्यतीत होता है। वहाँ भय और अविश्वास को अवकाश नहीं रहता। इस तरह निस्वार्थ प्रेम हृदय के लिए विश्राम है। ऐसा निस्वार्थ प्रेम अनेक जन्म के पुण्य और अनेक जन्म की तपस्या से ही मिलता है।

हमने पहले पुण्य का उपार्जन नहीं किया है, अब हम क्या कर सकते हैं? इस प्रकार विचार कर निराश होने का कोई कारण नहीं है। आस्तिक के पास निराशा फटक नहीं सकती। आस्तिक पक्का आशावादी होता है। उसका धैर्य असीम और उसका उत्साह अटूट होता है। अनादि भूतकाल की भाँति अनन्त भविष्य उसकी दृष्टि के सन्मुख रहता है। आस्तिक यही सोचेगा कि पहले पुण्य नहीं किया तो न सही। मैं इस जीवन के साथ समाप्त हो जाने वाला नहीं हूँ। अनन्तकाल समाप्त हो गया पर मैं समाप्त नहीं हुआ और अनन्त भविष्यकाल, भूतकाल के रूप में परिणत हो जायगा, फिर भी मै वर्त्तमान ही रहूँगा। मैं अब पुण्य का संग्रह करूँगा और वह पुण्य भविष्य में काम आएगा। इस भव में उपार्जन किया हुआ पुण्य और की हुई तपस्या कदापि वृथा नहीं जाएगी। जो इस तरह सुदृढ़ श्रद्धा के साथ पुण्य और तप करेगा उसका भविष्य निस्सदेह मङ्गलमय होगा।

मित्रो! अहेतुक प्रेम जगत् का शृङ्गार है। वही परमात्मा से साक्षात् कराने वाला है। अतएव परमेश्वर के प्रति निस्वार्थ भाव से अनुराग धारण करो। यह प्रार्थना का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य है और इसी में आपका सच्चा कल्याण है।

[घ]

जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द।

भगवान् पार्श्वनाथ की इस स्तुति में अपूर्व रहस्य भरा है। यह रहस्य गहरे विचार के विना समझ मे नहीं आ सकता। थोड़े शब्दो मे मैं यह समझाने का प्रयत्न करूँगा कि इस स्तुति में क्या विचार निहित है।

सामान्य रूप से भगवान् एक है, परन्तु एक में अनेक दिखाने के लिए चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति की जाती है। प्रत्येक स्तुति मे भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये गये हैं। उन सब को भली-भाँति समझ कर आत्मा को वलवान बनाने का उपाय करना हम सब का परम कर्त्तव्य है।

भगवान् पार्श्वनाथ की इस स्तुति में कहा है—

जीव रे! तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द।

अर्थात्—हे जीव! तू इधर-उधर मत भटक, पार्श्वनाथ भगवान की वन्दना कर। पार्श्वनाथ भगवान् कौन है!

अश्वसेन-नृप कुल-तिलो रे,
वामा देवी के नन्द।

भगवान का यह स्थूल रूप में परिचय है। इससे ज्ञानी तो समझेंगे ही, वाल जीव भी इतना समझ लेंगे कि पार्श्वनाथ भगवान् अश्वसेन राजा और वामा देवी के पुत्र थे। वे भी अपने जैसे ही थे। यद्यपि वे थे विशिष्ट परन्तु थे मनुष्य ही। उनका

जन्म उसी प्रकार स्वाभाविक रीति से हुआ था, जैसा मनुष्यों का होता है। इनके जन्म में ऐसी कोई विचित्रता या अस्वाभाविकता नहीं थी, जैसी कि दूसरे लोग अपने भगवान् की महिमा प्रकट करने के लिए कल्पना करते हैं। जैसे दूसरे लोग कुँआरी का विना बाप का बेटा या आकाश से उतरा हुआ बेटा कह कर असंभव को सत्य करने का प्रयत्न करते हैं, इनके जन्म में ऐसी कोई अलौकिकता नहीं थी। हाँ, उनमे यह विशेषता अवश्य थी कि जन्म लेकर भी वह अजन्माधर्म को पहुँचे अर्थात् उन्होंने परम पद प्राप्त किया। इस कारण वे हमारे लिए चिन्तामणि हैं।

चिन्तामणि चित में वसे रे,
दूर टले दु:ख द्वन्द्व ।

चिन्तामणि का अर्थ है—जो चित्त की चिन्ताओं को दूर करे। प्रश्न किया जा सकता है कि जब जड़ चिन्तामणि से चित्त की चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं तब पार्श्वनाथ भगवान् का ध्यान क्यों करें ?

मित्रो ! चिन्तामणि से जो कार्य होता है वह कार्य तो भगवान् पार्श्वनाथ के स्मरण से ही हो जाता है। परन्तु जो चिन्ता इनसे नाश हो सकती है वह चिन्ता चिन्तामणि से नहीं नष्ट हो सकती।

ससार में साधारणतया पहले अन्न की चिन्ता रहती है। अन्न के पश्चात् दूसरी चिन्ता वस्त्र की होती है। यद्यपि वस्त्र कृत्रिम है फिर भी उसकी चिन्ता होती है। वस्त्र के बाद घर की, घर मिल जाने पर स्त्री की और स्त्री प्राप्त हो जाने पर पुत्र की चिन्ता होती है। मतलब यह है कि एक-एक चिन्ता पूरी होती

जाती है और दूसरी–दूसरी चिन्ता उत्पन्न होती जाती है। इस प्रकार घर, स्त्री और पुत्र आदि हुए तो टके-पैसों की चिन्ता लगती है। जब वह चिन्ता भी पूर्ण हो गई तो मान, बड़ाई और आनन्दमय जीवन व्यतीत होने की नवीन चिन्ता का जन्म होता है। भगवान् पार्श्वनाथ की प्रार्थना और वन्दना से यह चिन्ताएँ सहज ही दूर हो जाती हैं; साथ ही पार्श्वनाथ के सिवाय अन्य तरह से भी यह चिन्ताएँ मिट सकती हैं। मैं अलग-अलग समझाने का प्रयत्न करूँगा तो समय अधिक लग जायगा। इसलिए संक्षेप में ही कहता हूँ। मैं आपसे पूछता हूँ कि पहले आप पेट चाहते हैं या अन्न ?

'पेट !'

पेट हुआ तो दो हाथों से पेट भरने के लिए उद्योग क्यों न किया जाय ? पेट भरने के लिए किसी की शरण लेने से क्या लाभ है ? इसी प्रकार वस्त्र, घर और स्त्री की प्राप्ति भी उद्योग से हो सकती है। स्त्री होने पर पुत्र भी मिल जायगा। तात्पर्य यह है कि इन सब चिन्ताओं को पूर्ण करने के लिए पार्श्वनाथ का स्मरण न किया जाय तो भी उद्योग से वह पूरी हो सकती हैं। तो फिर पार्श्वनाथ की वन्दना करने की आवश्यकता क्यों है ? किस प्रयोजन के लिए पार्श्वनाथ का चिन्तन करना चाहिए ? इसी प्रार्थना में कहा है—

जड़ चेतन मिश्रितपणेरे,
कर्म शुभाशुभ भाव।

भगवान पार्श्वनाथ के स्मरण के बिना यह मालूम नहीं होता कि जड़–चेतन क्या है ? इनकी मिलावट से संसार में क्या बना है ?

संसार मे दो वस्तुओं की शक्ति है या एक की ही, इस विषय को लेकर संसार में भ्रम फैला हुआ है। यह विषय बहुत गंभीर है। भारतवर्ष के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने इस विषय में विशाल ग्रन्थ रचे हैं। फिर भी विषय का अन्त नहीं आया। मैं यहाँ थोड़े से शब्दों में इस विषय पर साधारण प्रकाश डालूँगा।

सम्पूर्ण विश्व को एक ही शक्ति का परिणाम मानने वालों में भी दो मत हैं। चार्वाकदर्शन एक जड़ शक्ति को स्वीकार करता है। वह कहता है—संसार में जो कुछ है, जड़ ही है। जड़ के अतिरिक्त चैतन्य कुछ भी नहीं है। जड़ से ही यह सारा संसार बना हुआ है। जैसे स्त्री और पुरुष के मिलने से मनुष्य बनते हैं, इसी प्रकार एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ के साथ मेल होने से सारा संसार बना है। कत्था, चूना और पान अलग-अलग हों तो रंग नहीं आएगा, किन्तु जब यह तीनों मिलते हैं तो रंग आ जाता है। सारांश यह है कि जड़ के आपस में मिलने से ही यह सब कुछ है।

उनकी यह भी मान्यता है कि नर-नारी के संयोग से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति होती है। यदि वीर्य ज्यादा हुआ तो पुरुष उत्पन्न होगा, रज ज्यादा होगा तो स्त्री। रज और वीर्य के बराबर होने पर नपुंसक पैदा होगा। इस प्रकार संसार के समस्त पदार्थ जड़ के सम्मिलन और परिणमन से ही बने हैं। जड़ के अतिरिक्त चैतन्य की कोई सत्ता नहीं है।

अब दूसरे वेदान्त को लीजिए। वेदान्तदर्शन, चार्वाकदर्शन के समान ही एक शक्ति को स्वीकार करता है, लेकिन वह चैतन्यवादी है। उसकी मान्यता के अनुसार चेतनतत्व ही सत्

है। चेतन के अतिरिक्त जड़ की कोई सत्ता नहीं है। चिदानन्द रूप एक अखंड पुरुष है। उसी की बिखरी हुई यह माया संसार है।

इन सब मान्यताओं पर विस्तार के साथ विचार करने का समय नहीं है। परन्तु चार्वाक से पूछा जाय, कि तुम्हारे मत से वीर्य-सामग्री से मनुष्य बना है और इसकी पुष्टि के लिए तुम पान का उदाहरण देते हो। पर यह किसी के अधीन हैं या आप ही आप मिल जाते हैं? यह खट-खट करने वाली घड़ी जड़ पदार्थ के संयोग से बनी है, परन्तु किसी की अधीनता से बनी है या आप ही आप? अगर अधीनता मे बनी है तो किसकी अधीनता में बनी है—जड़ की या चेतन की? यदि जड़ के ही अधीन है तो फिर विज्ञान की क्या आवश्यकता थी? चाहे जो क्यों नहीं बना लेता?

थोड़ी देर के लिए समझ लें कि घड़ी को बनाने वाला चैतन्य नहीं है, परन्तु इस घडी को-घड़ी समझने वाला कौन है? मित्रो! जिसने यह पदार्थों का संयोग करके घड़ी को बनाया है है और जो इसको घड़ी समझता है, वह चैतन्य है।

इसी प्रकार सिर, हाथ, पाँव चेतन नहीं हैं, परन्तु इनको हाथ, पाँव और सिर समझने वाला और इनका संयोग करने वाला चिदानन्द है, जो हमारे भीतर वास कर रहा है। उसी के प्रभाव से यह शरीर जुड़ा है। पान, कत्था और चूने का भी यही हाल समझिए। उन्हें ज्ञान नहीं था कि हमारे मिलने से रंग आ जाएगा। चेतन ने उन्हें मिलाया तब वे मिले हैं। मतलब यह है कि जो कुछ होता है, जड़-चेतन के मिश्रण से होता है। केवल जड़ से नहीं।

वेदान्तदर्शन केवल चेतनतत्त्व को ही स्वीकार करता है। उससे भी यही प्रश्न किया जा सकता है कि यह घड़ी जड़ से बनी है या केवल चेतन से ? अगर केवल चेतन से ही बनी है तो यह खोखा यहाँ क्यों आया ? आप बैठे-बैठे मनःकल्पना से घड़ी क्यों नहीं बना लेते ? परन्तु विना जड़ उपादान के वह कैसे बन सकती है ?

इन सब बातो पर विचार करके ही जैनसिद्धान्त कहता है कि यह सारा संसार न केवल जड़ का ही परिणाम है, न केवल चेतन का ही; वरन् जड़ और चेतन दोनों के सम्मिलन का ही परिणाम है। शरीर का कर्त्ता चेतन है परन्तु वह विना जड़ के नहीं ठहर सकता। यदि चेतन का ही परिणाम हो तो अन्न पानी खाने-पीने की आवश्यकता क्यों हो ? सारांश यह है कि वास्तव में जड़ और चेतन के मेल से ही संसार का यह खेल है। दोनों के मेल के विना यह कुछ भी नहीं हो सकता।

अब प्रश्न होता है कि इस मिश्रण में दो भेद क्यो हुए ? अर्थात् कोई सुखी है और कोई दुखी है, सो क्यों ?

मित्रो ! यह कर्त्ता का भाव है। कर्त्ता यदि अच्छे रूप से करे तो अच्छा होता है, बुरे रूप से करे तो बुरा होता है। ज्ञान न रख कर काम कर डालने का ही यह परिणाम है। लाल मिर्च मुंह में डाल लेने पर जलन अवश्य होगी। जलन उत्पन्न होने देना या न होने देना मिर्च खाने वाले के हाथ में नहीं रहता। इसी कारण ज्ञानी कहते हैं कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ध्यान रक्खो। क्या करने से लाभ होगा और क्या करने से लाभ नहीं होगा ? कौन-सा कार्य हानिकारक होगा और कौनसा कार्य हानिकारक नहीं होगा ? इन बातों पर विचार करके ही प्रवृत्ति करनी चाहिए।

कर्त्ता चेतन है, परन्तु उसे भ्रम क्या है, यह समझ लीजिए।

वहमी भय माने यथा रे,
सूने घर वेताल ।
त्यों मूरख आतम विषे रे,
मान्यों जग भ्रम जाल ॥जीव रे०॥

कोई कहता है—इस घर में वैताल रहता है। मैं पूछता हूँ कि यह कैसे जाना ? जिस घर मे वैताल बतलाया जाता है, उसमें दो आदमी जाते हैं। एक वैताल के भय से भ्रान्त होकर और दूसरा निर्भय होकर। भयभीत मर जाय और निर्भय न मरे, इसका क्या कारण है ? अगर वैताल वास्तव में है तो दोनो क्यों नहीं मरे ?

सुना है, दो मित्रों में से एक ने कहा कि मैं आधी रात को श्मशान में जाऊँ तो भी डर नहीं लग सकता। दूसरे ने कहा अगर आधी रात के समय श्मशान में जाकर खूंटी गाड़ आओ तो मैं तुम्हें मिठाई दूंगा। पहला मित्र गया और उसने खूंटी गाड़ दी। तब तक उसे किसी प्रकार का भय नहीं हुआ। परन्तु खूंटी के साथ उसके कपड़े का एक पल्ला भी गड़ गया था। जब वह चलने लगा तो पल्ला खिंचा। इससे यकायक चित्त में भय का उद्रेक हुआ और वह वहीं मर गया।

मैं अपने अनुभव की बात कहता हूँ। जहाँ लोग भूत का रहना कहते थे और बतलाते थे कि यहाँ भूत पटक देता है वहाँ हम खूब रहे, परन्तु तनिक भी खटका नहीं हुआ।' इसका क्या कारण है ? मित्रो ! असल में भ्रम ही अनिष्टकारक होता है। भ्रम ही बुराई का बीज है और इसी को अविद्या, माया या भ्रम

कहते हैं। मनुष्य स्वयं भय की कल्पना करता है और उसी कल्पित भय से मर जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर सचमुच भूत मिल जाय तो? परन्तु जब तक आपके हृदय में भय न हो तब तक भूत कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है कि जो भूत से डरता है उसी को भूत छलता है, और जो नहीं डरता उसका वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता। तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने भ्रम से मरता है।

इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् मारता है और भगवान् जिलाता है। भगवान् सुख देता है और भगवान् ही दुःख देता है। यह सब कल्पना मात्र है। वास्तव में मनुष्य का विचार ही नरक या स्वर्ग देता है। परमात्मा का इन बातों से कोई सरोकार नहीं है। अगर मनुष्य बुरे विचारों को तिलांजलि दे दे तो वह स्वयं मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मैं बचपन में रतलाम में रहा था। वहाँ के एक श्रावक सेठ अमरचन्दजी कहा करते थे—

प्रभु सुमरन सो दुख हरे, चुप दुख हरे हजार।
गुरु-कृपा लख दुख हरे, सब दुख हरे विचार॥

अर्थात्—परमात्मा के स्मरण से सौ दुःखों का नाश होता है, चुप रहना हजार दुःखों को दूर करता है, गुरु की कृपा से लाख दुःखों का अन्त हो जाता है और विचार से सभी दुःखों का नाश होता है।

शुभकरणजी चौवीस वर्षों में चारों धाम करके आये, पर शिकार और मजा-मौज में उन्हें जो आनन्द आता था, उसमें कोई अन्तर नहीं आया। उनका मन ज्यों का त्यों रहा। इसका कारण यही था कि उनके विचार वही थे। मैं एक बार रतलाम था तब शुभकरणजी—जो उदयपुर के राजकवि थे-एक बार आये। उस समय के एक व्याख्यान का उन पर ऐसा असर पड़ा कि जो नियम आप श्रावक कहलाते हुए भी न पालते होगे, उन नियमों का वे पालन करने लगे। रात्रि में भोजन न करना, जमीं-कन्द न खाना, आदि कई नियम वे पालने लगे। यद्यपि उन्हें प्रायः राजाओं के साथ रहना पड़ता है फिर भी उनके नियमों पर राजाओं की संगति का कोई असर नहीं पड़ता। असल बात है कि आत्मा में बल हो तो फिर कोई भी शक्ति नियम में बाधा नहीं डाल सकती। आशय यह है कि गुरु की भक्ति से हृदय का भ्रम दूर होता है और निश्चय हो जाता है मगर गुरुभक्ति होना सरल नहीं है। कहा है:—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परमब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थात्—गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। और सब जाने दीजिए, परम ब्रह्म का दर्शन करना हो तो वह भी गुरु ही है।

गुरु को इतना ऊँचा पद क्यों दिया गया है, इस पर विवेचन करने का समय नहीं है, फिर भी इतना कहता हूँ कि गुरु-भक्ति हो तो लाखों दुःख दूर हो जाएँ। गुरु मार्ग बतलाता है तब

परम ब्रह्म का दर्शन होता है। गुरु की कृपा के विना परम ब्रह्म की प्रतीति और प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न किया जा सकता है कि जिन्होंने गुरु बना लिया है, क्या उन सब के दुःख दूर हो गये ? इसका उत्तर यह है कि गुरु सच्चा हो, पहुँचा हुआ हो और शिष्य उसके निर्देश के अनुसार चले तो दुःख दूर होते हैं। एक के दुःख को दूसरा नष्ट नहीं कर सकता। गुरु मार्ग प्रदर्शित करता है। गलत रास्ते से बचा कर सही रास्ते पर चलाता है। मगर चलने का काम तो स्वयं शिष्य का होता है। सूर्य प्रकाश फैलाता है और उसके प्रकाश में रास्तागीर रास्ता देख सकता है। मगर चलना तो रास्तागीर को ही पड़ेगा। तभी उसकी मंजिल पूरी होगी। अगर रास्तागीर आँखें बन्द कर ले तो उसे सूर्य का प्रकाश होने पर भी सही रास्ता दिखाई नहीं देगा। या आँख खोलकर भी वह जान-बूझ कर गलत रास्ते पर चले तो सूर्य उसे किस प्रकार रोक सकता है। अथवा रास्तागीर सुस्त होकर पड़ा रहे, आगे कदम न बढ़ाए तो भी मंजिल कैसे तय होगी ? सूर्य अपना काम करे और रास्तागीर अपना काम करे तभी उसका प्रयोजन सिद्ध होगा। यही बात गुरु और शिष्य के संबंध में समझ लेनी चाहिए।

मंत्र-तन्त्र में भी यही कहा जाता है—

गुरु की शक्ति, मेरी भक्ति,
फुरो मंत्र ईश्वरो वाचा।

मतलब यह है कि छोटी-छोटी बातों में भी गुरु की शक्ति और अपनी भक्ति बतलाई गई है। और कहाँ तक कहा जाय, ईश्वर की कल्पना भी गुरु बतलाएँगे।

हाँ, मैं विचार के संबंध में कह रहा था। 'सब दुख हरे विचार।' संसार का सुख, दुख,स्वर्ग, मोक्ष, सब विचारों पर ही अवलम्बित हैं। विचार इन सब का खजाना है। इसलिए बुरे विचारों को फैंक दो। माँ, बाप, भाई-भाई आदि में भी कलह होता है, उसका कारण विचार ही से उत्पन्न होता है। बुरे विचारों के समान आत्मा का और कोई शत्रु नहीं है। अतएव बुरे विचारों को बदलने के लिए कहा है—

जीव रे। तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द।

गुरु यही उपदेश देंगे कि यदि तुझे अपना विचार अच्छा बनाना है तो तू पार्श्वनाथ जिनेश्वर को हृदय में स्थान दे। उन्हें हृदय में बसाने से तेरे बुरे विचार बदल जाएँगे। शास्त्र में भी कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण सुहाण य।

अर्थात्- आत्मा आप ही अपने दुःखों और सुखों का कर्ता है। गीता में भी यही कहा है—

आत्मैवत्मनः शत्रुरात्मैव मित्रमात्मनः।

अर्थात्--तुम्हारा ही तू मित्र और शत्रु तुम्हीं हो, और कोई नहीं।

जब तक मनुष्य को जड़-चेतन का ज्ञान नहीं होता तब तक वह अपने ही विचार के कारण डूबता है। जैनशास्त्र और गीता के उद्धरण इसी सत्य पर प्रकाश डालते हैं।

चिदानन्द को चक्कर खाते-खाये बहुत समय व्यतीत हो गया है। जो भूतकाल में हो चुका है उसे का

विचार करना चाहिए। पूर्व कर्मों को भस्म करने का उपाय पश्चात्ताप है। जिसने पूर्वकृत पापों के लिए पश्चात्ताप किया होगा, उसी की आत्मा में दृढ़ता होगी और वही आगे पाप न करने का संकल्प करके पापों से बचने का प्रयत्न करेगा। जो पश्चात्ताप करेगा उसके पाप तो छूट जाएँगे, परन्तु जो पश्चात्ताप नहीं करता उसके पाप किसी भी प्रकार नहीं छूट सकते। पाप को छिपाना कायरों का काम है और उन्हें प्रकट करके पश्चात्ताप करना वीरता है।

मित्रो ! जो बात गई सो गई। अब रही को रक्खो। 'गई सो गई अब राख रही को।' अगर आप इन विचारों को हृदय में धारण करेंगे तो आपको अपूर्व आनन्द होगा। संसार के ही कामों को देख कर विचारना चाहिए कि अच्छे काम और बुरे काम का परिणाम क्या है ? संसार को सुधारने के लिए भी अच्छे विचारों की आवश्यकता है और मुक्ति प्राप्त करने के लिए भी। बुरे विचारो से कहीं भी काम नहीं चलता। शास्त्र में श्रावकों के लिए कहा है कि श्रावक आजीविका भी धर्म से ही चलाता है। श्रावक धर्म से आजीविका चलाता है तो वह धर्म की आजीविका शुभ विचार से ही करेगा या अशुभ विचार से ?

लोगों ने भ्रम फैला रक्खा है कि धर्म सिर्फ साधु के पास ही है, और सब जगह तो पाप ही पाप है। इस भ्रम से आपको बचना चाहिए साधु के पास आपके लिए धर्म की शिक्षा है, उसको प्रयोग में लाने का स्थान दूसरा है। बालक पाठशाला में विद्या सीखते हैं। अगर घर जाकर वे भूल जाएँ तो ? अगर वे यह समझ कर कि विद्या तो पाठशाला की ही चीज है, घर में उसका उपयोग

न करें तो ? वह विद्या निरर्थक सिद्ध होगी। इसी प्रकार साधु के पास जाकर सुना हुआ धर्म यदि घर जाकर भुला दिया जाय तो वह भी किस काम का ? साधु से धर्म का जो श्रवण करते हो उसे अपने जीवन-व्यवहार में उतारने की चेष्टा करो, अपना प्रत्येक व्यवहार धर्म के अनुकूल बनाओ ऐसा करने से ही आपका कल्याण होगा और जगत् का भी कल्याण होगा।



२४-श्री महावीरजिन-स्तवन



—प्रार्थना—

श्री महावीर नमूं वरनाणी, शासन जेहनो जाण रे प्राणी।
धन धन जनक 'सिद्धारथ' राजा, धन 'त्रिसलादे' मात रे प्राणी ॥१॥

ज्यौ सुत जायो गोद खिलायो, 'वर्धमान' विख्यात रे प्राणी।
प्रवचन सार विचार हिया में, कीजे अरथ प्रमाण रे प्राणी ॥२॥

सूत्र विनय आचार तपस्या, चार प्रकार समाध रे प्राणी।
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव अराध रे प्राणी ॥३॥

ज्यों कंचन तिहु काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जगजीव चराचर जानी, है चेतन गुण एक रे प्राणी ॥४॥

अपनो आप विषै थिर आतम, सोहं हंस कहाय रे प्राणी।
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी ॥५॥

शब्द रूप रस गंध न जामें, नाम परस तप छाँह रे प्राणी।
तिमिर उद्योत प्रभा कछु नाहीं, आतम अनुभव माहिं रे प्राणी ॥६॥

सुख दुख जीवन मरन अवस्था, ए दस प्राण संगात रे प्राणी।
इनथी भिन्न 'विनयचन्द' रहिजे, ज्यों जल में जलजात रे प्राणी ॥७॥

आज चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की प्रार्थना की गई है। इस प्रार्थना में भगवान् के द्वारा दी हुई शिक्षा का विचार करना है।

भगवान् महावीर महान् उपदेशक और महान् शिक्षादाता हो गए हैं। उनकी शिक्षाओं के अनुसार ही आज शासन चल रहा है। शिक्षा तो महावीर स्वामी के पूर्ववर्त्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि ने भी दी थी, लेकिन भगवान् महावीर न जनमते तो वह शिक्षा अपने तक कैसी पहुँचती? अतएव हमारे अव्यवहित कल्याणकारी शिक्षादाता भगवान् महावीर ही हैं।

भगवान् ने क्या शिक्षा दी है, यह तव देख पाओगे जब एकाग्र आत्मा करके उतरोगे। सूक्ष्मदर्शक यंत्र से यद्यपि छोटी-छोटी चीजें वड़ी दिखाई देती हैं, परन्तु देखने वाला यदि आँखें ही मूँद ले तो यन्त्र क्या कर सकता है? अगर हम हृदय के नेत्रों से देखें तो वड़े-बड़े गंभीर विचार दीखेंगे। हृदय शून्य होगा तो यह लाभ नहीं हो सकेगा।

इस प्रार्थना में भगवान् के माता-पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट गई है। कारण यह है कि भगवान् से हमें शिक्षा मिली है। इसी कारण भगवान् को नमस्कार किया जाता है और इसी कारण उनके जन्मदाता माता-पिता का नाता अपने साथ जुड़ जाता है। कन्या की सगाई वर के साथ होती है। लेकिन वर के माता-पिता को वह सास-श्वसुर समझती है। ऐसा समझकर वह उनकी जो मान-प्रतिष्ठा करती है सो पति-सम्बन्ध के ही कारण करती है। वह जानती है कि यह माता-पिता न होते तो पति कहाँ से आते? इसी प्रकार भगवान् के

माता-पिता न होते तो भगवान् हमे शिक्षा देने के लिए कैसे जन्म लेते ?

माता-पिता की तपस्या के विना अच्छे पुत्र का जन्म नहीं होता। भगवान् महावीर के माता-पिता ने महान् तपस्या की थी, ब्रह्मचर्य का पालन किया था; उसी के फल-स्वरूप उनके यहाँ भगवान् का जन्म हुआ।

भगवान् महावीर के माता-पिता को जो पूज्य दृष्टि से न देखे वह कृतघ्न है। उसने जैनधर्म को नहीं समझा। उपकारी का उपकार मानना परम कर्त्तव्य है। इसीलिए यह प्रार्थना की गई है—

धन धन जनक सिधारथ राजा,
धनि त्रिसला दे मात रे प्राणी।
ज्यां सुत जायो गोद खिलायो,
वर्द्धमान विख्यात रे प्राणी।
श्री महावीर नमूं वर नाणी,
शासन जेहनो जाण रे प्राणी।

धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने जगत् में प्रकाश करने वाले पुत्र को जन्म दिया। जिनके पुत्र के होने पर ६४ इन्द्र उत्सव करें वे धन्य हैं! वे धन्य हैं जिन्होंने ऐसे पुत्र को गोद में खिलाया कि जिनसे हमें धर्म का अपूर्व प्रकाश मिला है!

भगवान् महावीर से हमें प्रेम क्यों होना चाहिए? इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। भगवान् ने हमें धर्म की

शिक्षा दी है। अगर वे हमें शिक्षा न देकर आप ही तर जाते, और यह सोचे लेते कि दूसरों के डूब जाने या तिरने से हमें क्या प्रयोजन है? तो हमारी क्या स्थिति होती?

भगवान् महावीर ने करीब साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या करके केवलज्ञान और तप का सार लेकर ३० वर्ष तक संसार को उपदेश दिया है और हम लोगों ने भी पात्रता प्राप्त करके उस उपदेश को ग्रहण किया है। अब यह सोचना चाहिए कि जब भगवान् ने हमें शिक्षा दी है तो हम जगत् को शिक्षा क्यों न दें?

साधु, साधु की तरह और श्रावक, श्रावक की तरह शिक्षा देते हैं। सुबुद्धि प्रधान ने जितशत्रु राजा को पानी से समझाया। राजा, प्रधान से कहा करता था कि अशुभ पुद्गल, शुभ पुद्गल कैसे हो सकते हैं? इसी बात को समझाने के लिए सुबुद्धि प्रधान ने गंदी खाई का पानी मँगवा कर, शुद्ध करके राजा को पिलाया। अब जरा विचार करो कि राजा को समझाने का कार्य पाप हुआ या धर्म?

कहा जायगा कि प्रतिबोध देना तो धर्म है किन्तु आरंभ पाप है। इस संबंध में गहराई के साथ सूक्ष्म विचार करने की आवश्यकता है। एक आदमी पीने के लिए जल साफ करता है और दूसरा धर्म का तत्त्व समझाने के लिए। क्या दोनों का आरंभ एक-सा बराबर है? एक आरम्भ शादी के लिए करो और एक कल्याण के लिए करो तो क्या दोनों बराबर हैं? एक मनुष्य अपनी जिह्वा की तृप्ति के लिए बढ़िया भोजन बनाता है और दूसरा लूले-लँगड़े एवं भूख से तड़पते हुए को देने के लिए बनाता है। क्या दोनों का फल बराबर है?

'अन्तर है।'

बस, इसी तरह समझ लो।

कहा जा सकता है कि यह पुण्य है तो साधु क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर यह है कि सुबुद्धि ने पानी के द्वारा राजा को समझाया था तो साधु पानी के द्वारा क्यों नहीं समझाते ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाएगा कि ऐसा करना साधु का कल्प नहीं है। और यही उत्तर इस प्रश्न का भी समझ लेना चाहिए। वास्तविक बात यह है कि साधु और श्रावक का कल्प अलग-अलग है। दोनों अपने-अपने कल्प के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। जो कार्य साधु के कल्प से बाहर है वे श्रावक के कल्प से भी बाहर हैं, इस प्रकार का एकान्त मान बैठना धर्म के तत्त्व की अनभिज्ञता का सूचक है।

मित्रो ! जरा विचार करो। एक मनुष्य स्वार्थ से प्रेरित होकर अर्थात् यह सोचकर कि राजा खुश हो जायगा तो जागीर दे देगा, उसे घोड़े पर चढ़ाकर घुमाता है। दूसरा पुरुष चित्त प्रधान की भाँति राजा के द्वारा होने वाली घोर हिंसा को टालने के लिए, राजा को सच्चे धर्म का बोध कराकर नास्तिक से आस्तिक बनाने के उद्देश्य से घोड़े पर चढ़ाकर मुनि के पास ले जाता है। क्या यह दोनों पुरुष बराबर हैं ?

इन सब बातों पर भलीभाँति विचार कर ऐसा मत करो जिससे जैनधर्म पर पानी फिरे; ऐसा करो जिससे धर्म की जड़ न कटे। यह तो स्पष्ट है कि स्वार्थ और परमार्थ दोनों में घोड़े दौड़ाने का आरम्भ ऊपरी दृष्टि से बराबर है, फिर भी दोनों के आरम्भ

में आन्तरिक दृष्टि से बहुत फर्क है। एक स्वार्थ के लिए आरम्भ समारम्भ करता है और दूसरा किसी दुःख में पड़े हुए को मुक्त करने के लिए आरम्भ-समारम्भ की क्रिया करता है, तो दोनों बराबर कैसे हो सकते हैं? कोई भी काम बिना क्रिया के नहीं हो सकता। बालू बाजरे का काम देने लगे तो चक्की क्यों पीसनी पड़े? बिना खिलाये-पिलाये बालक बड़ा हो जाय तो लोग क्यों खिलावें-पिलावें? परन्तु ऐसा सभव नहीं है, इसलिए अनुकम्पा-दान का विधान है।

अगर बिना क्रिया ही काम हो सकता हो तो चित्त प्रधान, राजा प्रदेशी को, केशी स्वामी के पास लाने की क्रिया क्यों करता? और यदि वह क्रिया पाप हुई तो—

धरम दलाली चित करे।

ऐसा क्यों गाते हैं?

अगर इस क्रिया के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि इसका परिणाम सुन्दर था तो दूसरी क्रियाओं के परिणाम का भी विचार करना चाहिए।

आपने एक मनुष्य को मुनीम नियुक्त करके दुकान का कारोबार सँभालने के लिए कलकत्ता भेजा। दूसरा आदमी वहाँ नाच कूद आदि करने को गया। इन दोनों को आप खर्च दें तो क्या बराबर है? मुनीम के लिए तो आप कह देंगे कि बिना वेतन दिये उससे काम कैसे कराया जा सकता है? दूसरे आदमी को एक पाई देना भी अनुचित मालूम होगा! इसी प्रकार एक क्रिया पाप के लिए की जाए और दूसरी क्रिया के साथ अच्छे फल का

सम्बन्ध हो, तो उस अच्छे फल को न देखते हुए दोनों क्रियाओं में एक-सा पाप बतला देना और भाव का विचार न करके अच्छे काम की जड़ ही काट देना कितना अन्याय है ?

मित्रो ! धर्म में भावना का स्थान बहुत उच्च है। भगवान् महावीर ने भावना की शिक्षा दी है। भगवान् ने शिक्षा दी है, इसीलिए हम लोग भगवान की प्रार्थना करते हैं। भगवान् ने तीस वर्ष तक आत्मकल्याण और जगत्कल्याण की शिक्षा दी है, इसीलिए आज भी श्रद्धा और भक्ति के साथ उनका नाम-स्मरण किया जाता है। न केवल जैन ही, वरन् इतिहास के ज्ञाता समस्त निष्पक्ष विद्वान् मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा करते हैं। रवीद्र-नाथ ठाकुर जैसे विश्वप्रसिद्ध विद्वान् ने भी भगवान् महावीर के बतलाये हुए अहिंसातत्त्व को समझकर कहा कि भगवान् महावीर ही ऐसे थे जिन्होंने ससार में दयाभाव फैलाया।

भगवान् महावीर के महान् उपकार से हम केवल उनका स्मरण करके उऋण नहीं हो सकते, बल्कि उस उपकार का बदला चुका कर ही उऋण हो सकते हैं। भगवान् ने हमारा उपकार किया है, हम दूसरो का उपकार करें और अनुकम्पा करें तभी बदला चुक सकता है।

परोपकार करने की बुद्धि पहले सब देशों में थी। परोपकार की भावना ज्यों-ज्यों कम होती गई त्यों-त्यों स्वार्थ का अवतार हुआ। स्वार्थ के अवतार ने अत्याचार को जन्म दिया और ससार में भयानक आग फैलने लगी। चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या कोई और हो, जब तक उसमें परोपकार की बुद्धि होगी, कभी अत्याचार नहीं करेगा।

किसी भी धर्म का यह सिद्धान्त नहीं है कि परोपकार करना पाप है। विभिन्न धर्मों मे, कुछ बातें निराली-निराली अवश्य हैं, किन्तु परोपकार करुणाभाव और अनुकम्पा का किसी ने विरोध नहीं किया। फिर जैनधर्म की दुहाई देकर अनुकम्पा को पाप बताना कितनी भयंकर बात है? शान्ति और कल्याण के लिए धर्म का आश्रय लिया जाता है। इसमें पक्षपात और दुराग्रह के लिए स्थान नहीं होना चाहिए। जो पक्षपात और दुराग्रह के वशीभूत होकर धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानेगा, उसका निस्तार कैसे होगा? इसलिए, मित्रो! निष्पक्षभाव से धर्म का विचार करो। इसी में आपका हित है।

[ख]

श्रीमहावीर नमूं वर नाणी।

यह भगवान वर्धमान की प्रार्थना है। प्रार्थना के विषय मे मै प्रतिदिन ही कुछ न कुछ कहता हूँ। आप मेरे शब्दों को सुनते तो है, मगर उन पर मनन करते है या नहीं? मनन न करें तो श्रवण से परिपूर्ण लाभ नही हो सकता। यह संभव नहीं कि मै स्वयं आपको मनन करादूं। मनन करना आपका ही कार्य है। आप अपना कार्य करें और मैं अपना कार्य करूँ, तभी काम चल सकता है।

एक दिन मैं ने परा और अपरा शक्ति के विषय में कहा था। परमात्मिक शक्ति पराशक्ति और पौद्गलक शक्ति अपरा-शक्ति कहलाती है। परा शक्ति को प्राप्त करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना की जाती है। इसी ... हैं—हे प्रभो!

हमारे हृदय में बस कर। परमात्मा को अपने हृदय में बसाने से कोई इन्कार नहीं करेगा। सभी उसे अपने-अपने हृदय में बसाना चाहते हैं। पर परमात्मा सब के हृदय में क्यों नहीं बसता ? क्या परमात्मा हृदय में बसने के लिए तैयार नहीं है ? परमात्मा परम दयालु है और हृदय में बसने के लिए भी तैयार है। लेकिन यह तो देखो कि आप परमात्मा से अधिक माया को तो हृदय में नहीं बसाना चाहते ? परमात्मा को माया का एजेंट तो नहीं बनाना नहीं चाहते ? आपका हृदय अगर माया का पुजारी है और उसी को हृदय में बसाना चाहता है तो परमात्मा का स्मरण करना वृथा है। मै यह आशा नहीं करता कि आप माया में डूबे रहना चाहते हैं। मैं यह आशा करता हूँ कि आप माया को जीतने का विचार करते हैं, माया से हारना नहीं चाहते। इसी आशा के बल पर मैं आपको उपदेश देता हूँ और प्रेरणा करता हूँ कि परमात्मा को हृदय मे बसाने के लिए माया को जीतो। आप भी इसी में वास्तविक कल्याण समझें।

किसी अच्छी वस्तु को प्राप्त करने का विचार रखने पर भी जब तक उस विचार को पूरा करने के लिए अनुकूल आचरण न किया जाय, तब तक वह वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। शब्दों से कोई चीज़ नहीं मिलती-उसके लिए प्रयत्न और पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। विचार और उच्चार के साथ आचार भी होना चाहिए। आप मुख से परमात्मा की प्रार्थना करते हैं; लेकिन सच्ची प्रार्थना करने के लिए सब से पहले हृदय की शुद्धि होनी चाहिए। हृदय की शुद्धि होगी तो परमात्मा हृदय में निवास करने लगेगा। और जब परमात्मा हृदय में निवास करेगा तभी वह शक्ति-पराशक्ति-प्राप्त हो सकती है।

आप हृदय को शुद्ध करना कठिन कार्य समझते होंगे; लेकिन मैं अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि हृदय को शुद्ध करना बहुत सरल कार्य है। सरल कार्य कैसे है, यह बात अभी प्रार्थना में कही है—

ज्यों कंचन तिहुँ काल कहींजे,
भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जगजीव चराचर मोती,
है चेतन गुण एक रे प्राणी। महा०

सोने और सोने के घाट में सोना बड़ा है; लेकिन कोई पुरुष यदि सोने को तुच्छ माने और घाट को महत्व दे तो आप उसे मूर्ख कहेंगे। इसी दृष्टान्त को सामने रख कर आगे की बात सोच लें तो अधिक कहने की आवश्यकता ही न रहे। संसार में जो चराचरयोनि हैं, उनमें सोने के समान आत्मा व्याप रहा है। 'एगे आया' कह कर शास्त्रकारों ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है। सभी योनियों के जीवों में वह आत्मा विद्यमान है। परन्तु लोग शरीर रूपी घाट की कीमत तो कर रहे हैं और आत्मा रूपी सोने को भूल रहे हैं, व्यवहार में माने जाने वाले सोने और उसके घाट के विषय में शायद भूल न होती हो किन्तु शरीर रूपी घाट और उसके भीतर रहने वाले आत्मा रूपी सोने का मूल्य आँकने में अकसर भूल होती है। यह सुखी है, यह दुखी है, यह तो आप देखते हैं; लेकिन दोनों के ही भीतर समान आत्मा का अस्तित्व नहीं देखते। सुखी को देखकर आपको प्रसन्नता होती है मगर दुखी को देखकर भी आप क्या उतने ही प्रसन्न होते हैं ?

माया से माया मिली, कर-कर लम्बे हात।
तुलसीदास गरीब की, कोइ न पूछे बात।।

जो धनवान् को देखकर प्रसन्न होता है वह गरीब को देखकर प्रसन्न क्यों नहीं होता ? क्या धनवान में ही आत्मा है ? गरीब में आत्मा नहीं है ? आत्मा तो दोनों में ही समान है। फिर भी जो धनवान् को ही देखकर प्रसन्न होता है, सुखी की ओर ही दृष्टि रखता है, गरीब या दुखी को नहीं देखता, वह सोने को भूला हुआ सा क्यों न कहा जाय ? सोने का आभूषण चाहे सिर का हो, चाहे पैर का, है तो सोना ही। यह ठीक है कि सिर का आभूषण सिर पर रहेगा और पैर का आभूषण पैर पर रहेगा; मगर यह भेद तो सिर और पैर का है। आभूषण तो स्वर्णमय ही है। उसकी मौलिक एकता को कैसे भुलाया जा सकता है ?

इस प्रकार ऊपर का घाट कैसा भी क्यो न हो, आत्मा सब में समान है। इस तथ्य को आपने जान लिया तो हृदय शुद्ध होना कठिन नहीं रह जायगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा को शुद्ध करने के लिए शरीर के आगे आत्मा को मत भूलो। यह छोटा है और यह बड़ा है, इस प्रकार का भेदभाव करते-करते अनन्त काल बीत गया है। अब अपने विवेक को जागृत करो और अन्तर्दृष्टि से सब मे समान आत्मा देखो। आत्मा की दृष्टि से सब को समान समझो। भावना करो।

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अर्थात्—मैं राज्य नहीं चाहता। मुझे स्वर्ग और सुखमय परलोक की चाह नहीं। मैं केवल दुखिया जीवों के दुःख को नष्ट करना चाहता हूँ।

एक प्रार्थना करने वाले पर देव तुष्ट हुआ। देव ने पूछा- 'बोल, तू क्या चाहता है ? जो माँगेगा वही दूंगा।' वह क्या माँगना चाहेगा ? साधारण तया ऐसे अवसर पर राज्य, धन, संपदा स्वर्ग और मोक्ष की ही माँग की जाएगी। लेकिन वह कहता है— संसार की और सम्पदा तो राज्य से कम ही है, परन्तु मैं राज्य भी नहीं चाहता। यदि राज्य की आकांक्षा नहीं है तो क्या स्वर्ग लेगा ? इसके उत्तर मे वह कहता है-मुझे स्वर्ग भी नहीं चाहिए। तो क्या मोक्ष चाहिए ? वह बोला—नहीं, मुझे मोक्ष की कामना भी नहीं है। तब चाहिए क्या ? इसके उत्तर में उसने कहा—मैं यही चाहता हूँ कि दुखी जीवों का दुख मिट जाए। बस, एक मात्र यही मेरी कामना है।

आपकी समझ में इस प्रकार की माँग करने वाला क्या पागल है ? उसने राज्य नही लिया, स्वर्ग नहीं लिया, मोक्ष भी नहीं चाहा और दुखियों का दुःख नष्ट करना ही माँगा। दूसरा कोई सुखी रहे या दुखी रहे, इससे आपको क्या सरोकार ! अपने को तो अपनी सोचना है। ऐसा कहने वाले भी बहुत मिलेंगे। एक तो पंथ ही ऐसा चल पडा है जो पराये दुःख को दूर करने में पाप मानता है। ऐसे लोग उस भक्त की माँग को पागलपन भी कह सकते हैं, मगर वह तो यही चाहता है कि दुखी जीवों के दुख का नाश हो।

इसे कहते हैं निस्वार्थ प्रेम। इसी को अहेतुकी अनुरक्ति भी कहते हैं। निस्वार्थ प्रेम ससार में दुर्लभ वस्तु है। वह सच्चे

भक्त में ही हो सकता है। इसी कारण सच्चा भक्त राज्य और स्वर्ग आदि की आकांक्षा नहीं करता। वह दुखियों के दुखों का नाश चाहता है। सब दानों मे अभयदान ही श्रेष्ठ माना जाता है। जो दाता है वह अभयदान देकर पराये दुःख का नाश ही चाहेगा और इस प्रकार मोक्ष भी प्राप्त कर लेगा। मोक्ष की प्राप्ति इच्छा करने से नहीं होती, बल्कि मोक्ष की सामग्री जुटाने से होती है। इच्छा उल्टी मोक्ष-प्राप्ति में बाधक है। कहा भी है—

यस्य मोक्षेऽप्यनाकाक्षा स मोक्षमवगच्छति।

अर्थात्—जिसे मोक्ष की भी इच्छा नहीं रहती वही मोक्ष पाता है। इच्छा करने से ही मोक्ष प्राप्त होने लगे तो कौन मुक्त न हो जाय? मगर मोक्ष यों नहीं मिलता। मोक्ष की सामग्री जुटने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष की सामग्री में करुणाभाव की प्रधानता है। निस्वार्थ प्रेम की आवश्यकता है। अहेतुकी अनुरक्ति के विना मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती।

अहेतुकी अनुरक्ति किसमें और कैसी होती है, यह प्रकट करने के लिए महाकवियों ने सर्वसाधारण का हृदय खोलने के लिए बहुत कुछ कहा है। उन्होंने जो कुछ कहा है उसे समझने वाला ही पूरी तरह समझ सकता है। वैषयिक अनुरक्ति को वृद्धावस्था बिगाड़ देती है, स्वार्थमयी अनुरक्ति भी स्वार्थभंग होते ही लुप्त हो जाती है, परन्तु अहेतुकी अनुरक्ति को कोई विगाड़ नहीं सकता। विषयजन्य प्रेम मे और निस्वार्थ प्रेम में वैसा ही अन्तर है जैसा कामधेनु और कुत्ते में है। विषयजन्य प्रेम भटकने वाले कुत्ते के समान है। जो कुत्ता इधर-उधर भटकता फिरता है,

उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब और किस कुत्ती से खराब हो जायगा ? इसी प्रकार जिन व्यक्तियों को जाति और कुल आदि का विचार नहीं है, उनके प्रेम का भी कोई ठिकाना नहीं है। उनका विषयजन्य प्रेम किस समय नष्ट हो जायगा यह नहीं कहा जा सकता।

अहेतुकी अनुरक्ति ऐसी नहीं है। उसे जरा नहीं विगाड़ सकती। जरा के कारण जिस प्रेम में कोई अन्तर न आवे, उसी प्रेम को अहेतुकी अनुरक्ति समझना चाहिए। यह अहेतुकी अनुरक्ति वड़ी कठिनाई से मिलती है।

विवाह होने पर पति-पत्नी प्रेम-बन्धन में जुड़ जाते हैं। मगर उनके प्रेम मे भी भिन्नता देखी जाती है। किसी-किसी में विवाह करने पर भी स्वार्थपूर्ण प्रेम होता है और किसी-किसी में निस्वार्थ प्रेम भी रहता है। जिन दम्पती मे स्वार्थपूर्ण प्रेम होगा उनकी दृष्टि एक दूसरे की सुन्दरता पर रहेगी और किसी कारण सुन्दरता मे कमी होने पर वह प्रेम टूट जायगा। परन्तु जिनमें निस्वार्थ प्रेम है, उनमें अगर पति रोगी या कुरूप अथवा कोढ़ी होगा तो भी पत्नी का प्रेम कम नहीं होगा। श्रीपाल को कोढ़ हो गया था। फिर भी उसकी पत्नी ने पति--प्रेम में किसी प्रकार की कमी नहीं की। तात्पर्य यह है कि जिस प्रेम में किसी भी कारण से न्यूनता आ जाय, वह निस्वा[illegible] है, वह स्वार्थपूर्ण और दिखावटी प्रेम है। इसके विर[illegible] भी समय, किसी भी कार[illegible] [illegible]र किसी भी न हो वह निस्वार्थ प्रेम [illegible] क्त परमात्म प्रेम ही करते हैं। इसी [illegible] लिए कुछ यही इच्छा करते हैं

[ग]

श्रीमहावीर नमूं वर नाणी ।
शासन जेहनो जाण रे प्राणी ॥

यह चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की प्रार्थना है। आज जो संघ विद्यमान है वह भगवान् महावीर का ही है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध संघ भगवान् महावीर ने ही स्थापित किया है।

आज भगवान् महावीर स्थूल रूप में हमारे सामने नहीं हैं, लेकिन जिसे भगवान् महावीर पर श्रद्धा है, उसे समझना चाहिए कि चतुर्विध संघ में ही भगवान् महावीर हैं। भगवान् तीर्थंकर थे और तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थङ्कर कहलाते हैं। आज तीर्थङ्कर नहीं हैं, लेकिन उनके बनाये तीर्थ मौजूद हैं। जिस कारीगर का बनाया हुआ किला विशाल और सुदृढ़ है तो निश्चय ही वह कारीगर बड़ा विशाल होगा। जिसका संघ आज हजारों वर्ष की नींव हो जाने पर भी मौजूद है, उस संघ का संस्थापक कोई होना ही चाहिए और इस प्रकार महावीर भगवान् संघ के रूप में प्रत्यक्ष हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से हम में और भगवान् मे समय का बहुत अन्तर है, लेकिन गौतम स्वामी तो भगवान् महावीर के समय में ही थे। भगवान् ने तो गौतम से भी कहा था—

'न हु जिणे अज्ज दीसइ।'

अर्थात्—गौतम ! आज तुझे जिन नहीं दीखते, (लेकिन तू इसके लिए सोच मत कर। उनके द्वारा उपदिष्ट स्याद्वाद-मार्ग तो तेरी दृष्टि में है ही। तू यह देख कि यह मार्ग किसी अल्पज्ञ का बतलाया नहीं हो सकता। तूने न्यायमार्ग प्राप्त किया है, अतएव जिन को न देख पाने की परवाह मत कर। उनके उपदिष्ट मार्ग को ही देख कि यह सच्चा है या नहीं ? अगर उनका मार्ग सच्चा है तो जिन हैं ही और वह सच्चे हैं।)

प्रश्न होता है, भगवान स्वयं मौजूद थे, फिर उन्होंने गौतम स्वामी से क्यों कहा कि आज तुझे जिन नहीं दिखलाई देते ? इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

इस गाथा का अर्थ करते हुए डाक्टर हर्मन जैकोबी भी गड़बड़ में पड़ गये थे। अन्त में उन्होंने यह गाथा प्रक्षिप्त (बाद में मिलाई हुई) समझी। उनकी समझ का आधार यही था कि खुद भगवान् महावीर बैठे थे, फिर वह कैसे कह सकते कि आज तुझे जिन नहीं दीखते ? इस कारण उन्होंने लिख दिया कि यह गाथा प्रक्षिप्त है।

डाक्टर हर्मन जैकोबी की दौड़ यहीं तक रही, लेकिन वास्तव में यह गाथा प्रक्षिप्त नहीं है, सूत्रकार की ही मौलिक रचना है। भगवान् महावीर केवलज्ञानी जिन थे और गौतम स्वामी छद्मस्थ थे। केवलज्ञानी को केवलज्ञानी ही देख सकता है। छद्मस्थ नहीं देख सकता। अगर गौतम स्वामी, जो छद्मस्थ थे केवलज्ञानी को देख लेते, तब तो वह स्वयं उसी समय केवलज्ञानी कहलाते। आचाराङ्ग सूत्र में कहा है—

'उवएसो पासगस्स नत्थि।'

अर्थात्—सर्वज्ञ के लिए उपदेश नहीं है।

इस गाथा से और ऊपर की गाथा से प्रकट है कि गौतम स्वामी उस समय छद्मस्थ थे। इस कारण उन्हें पूर्ण करने के लिए भगवान् ने उपदेश दिया है। भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि—हे गौतम! तेरी छद्मस्थ-अवस्था के कारण मैं तुझे केवलज्ञानी नहीं दीखता। मेरा जिनपना तुझे मालूम नहीं होता। क्योंकि शरीर जिन नहीं है और जिन शरीर नहीं है।

जिनपद नहीं शरीर में, जिनपद चेतन माँय।
जिन वर्णन कछु और है, यह जिन वर्णन नाँय॥

साधारण जनता नेत्रों से दिखाई वाले अष्ट महाप्रातिहार्ययुक्त आत्मा को जिन समझती है, लेकिन यह महाप्रातिहार्य से जिन नहीं है। ऐसे महाप्रतिहार्य तो मायावी-इन्द्रजालिया भी अपनी माया से रच सकते हैं। वास्तव में जिन चेतना है और उस चेतना रूप जिन को जिन ही प्रत्यक्ष से देख सकते हैं।

इस कथन का आशय यह नहीं है कि जिन भगवान् का शरीर भी नहीं दीखता। इसका ठीक आशय यही है कि जिनदशा वास्तव में आत्मा की ही होती है और उसे केवलज्ञानी के सिवाय दूसरा कोई नहीं देख सकता।

तब प्रश्न उपस्थित होता है कि साधारण आदमी उस पर श्रद्धा कैसे करे? जिन को हम पहचान नहीं सकते। ऐसी अवस्था में कोई भी हमें कह सकता है कि मैं जिन हूँ। जब हमें जिन दिखाई नहीं देते तो हम किसे वास्तविक जिन मानें और किसे न मानें?

इस विषय मे शास्त्र कहते हैं—विना प्रमाण के किसी को जिन न मानना ठीक ही है, लेकिन जिन भगवान् को पहचानने के लिए तुम्हारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण का साधन नहीं है। जिन को केवली ही प्रत्यक्ष से जान सकते हैं। तुम छद्मस्थ हो, इसीलिए अनुमान से निश्चय करना होगा। अनुमान प्रमाण से किस प्रकार निश्चय होता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक आदमी यमुना नदी को बहती देखता है। वह प्रत्यक्ष से यमुना को वहती देख रहा है, लेकिन कालिन्दी कहलाने वाली और कालिंजर पहाड़ से निकलने वाली यमुना का उद्गमस्थान उसे नहीं दीखता। उसे यह भी नहीं दीख पड़ता कि वह किस जगह समुद्र में मिल गई है। इस प्रकार यमुना नदी सामने है, मगर उसका आदि और अन्त उसे नजर नहीं आता, सिर्फ थोड़ा-सा मध्यभाग ही दिखाई देता है। इस मध्यभाग को देख कर मनुष्य को अपनी बुद्धि लगानी चाहिए कि जब इसका मध्य है तो आदि और अन्त भी होगा ही। हाँ, अगर मध्यभाग भी दिखाई न दे और आदि-अन्त मानने को कहा जाय तो वात दूसरी है, अन्यथा एक अंश को देख कर दूसरे पर विना देखे भी विश्वास करना न्याययुक्त है।

उदाहरण की यही बात गौतम स्वामी के लिए भी समझ लेना चाहिए। भगवान् कहते हैं—गौतम ! तू मुझे जबर्दस्ती जिन मत मान! किन्तु जैसे यमुना को देख कर उसका उद्गमस्थान और संगमस्थान मान लिया जाता है, उसी प्रकार तू जिन के उपदिष्ट मार्ग को देखकर अनुमान से जिन को स्वीकार कर!

जिन का मार्ग तो प्रत्यक्ष ही दीखाई देता है न ! तू श्रुतज्ञानी है। श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी को नहीं देख सकता। केवलज्ञानी ही केवलज्ञानी को देख सकता है। मैं जो उपदेश देता हूँ, वह केवलज्ञान का होने पर भी तेरे लिए श्रुतज्ञान का ही है, क्योंकि तू उससे अधिक नहीं देख सकता। लेकिन मेरा उपदेश पूर्ण है या अपूर्ण ? लौकिक है या अलौकिक ? साधारण है या असाधारण ? इत्यादि प्रश्नों पर विचार कर। अगर मेरा उपदेश श्रुतज्ञानी के उपदेश सरीखा ही हो, उसमें कुछ भी विशेषता नजर न आती हो तो भले ही मुझे केवली न मान, अगर कोई विशेषता मालूम होती हो—जो कि श्रुतज्ञानी के उपदेश में संभव नहीं है—तो मुझे केवली मान। इस प्रकार मेरे केवली होने न होने का निर्णय तू आप ही कर ले।

गौतम ! अगर मुझ पर तेरा विश्वास है, मेरे उपदेश की सत्यता तुझे अनुभव हो रही हो तो मेरा कहना मान। मेरा कहना यह है कि तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

'प्रमाद मत कर' यह भगवान् का वचन अत्यन्त गम्भीर है। गौतम स्वामी बेले-बेले का पारणा करते थे। शरीर को तो मानो वह त्याग ही चुके थे। वह चौदह पूर्वों के ज्ञाता और सर्वाक्षर सन्निपाती थे। तप और संयम में लीन रहते थे। ऐसी दशा में उन्हें समय मात्र का भी प्रमाद न करने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता पड़ी ?

सर्वज्ञ के सामने गौतम स्वामी जैसे विशिष्ट श्रुतज्ञानी और साधारण जीव ही हैं। उनका उपदेश सब के लिए समान है। गौतम आदि के लिए उपदेश न देकर वे दूसरों को ही उपदेश

इस विषय में शास्त्र कहते हैं—बिना प्रमाण को जिन न मानना ठीक ही है, लेकिन जिन भगवान् व नने के लिए तुम्हारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण का साधन जिन को केवली ही प्रत्यक्ष से जान सकते हैं। तुम छ इसीलिए अनुमान से निश्चय करना होगा। अनुमा से किस प्रकार निश्चय होता है, इसके लिए एक लीजिए—

एक आदमी यमुना नदी को बहती देखता है। से यमुना को बहती देख रहा है, लेकिन कालिन्दी कह और कालिंजर पहाड़ से निकलने वाली यमुना का उसे नहीं दीखता। उसे यह भी नहीं दीख पड़ता जगह समुद्र में मिल गई है। इस प्रकार यमुना न मगर उसका आदि और अन्त उसे नजर नहीं थोड़ा-सा मध्यभाग ही दिखाई देता है। इस म कर मनुष्य को अपनी बुद्धि लगानी चाहिए कि ज है तो आदि और अन्त भी होगा ही। हाँ, अगर दिखाई न दे और आदि-अन्त मानने को कहा दूसरी हैं, अन्यथा एक अंश को देख कर दूसरे भी विश्वास करना न्याययुक्त है।

उदाहरण की यही बात गौतम स्वामी के लेना चाहिए। भगवान् कहते हैं—गौतम! तू मु मत मान! किन्तु जैसे यमुना को देख कर उ और संगमस्थान मान लिया जाता है, उसी उपदिष्ट मार्ग को देखकर अनुमान से जिन को

जिन का मार्ग तो प्रत्यक्ष ही दीखाई देता है न! तू श्रुतज्ञानी है। श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी को नहीं देख सकता। केवलज्ञानी ही केवलज्ञानी को देख सकता है। मैं जो उपदेश देता हूँ, वह केवल-ज्ञान का होने पर भी तेरे लिए श्रुतज्ञान का ही है, क्योंकि तू उससे अधिक नहीं देख सकता। लेकिन मेरा उपदेश पूर्ण है या अपूर्ण? लौकिक है या अलौकिक? साधारण है या असा-धारण? इत्यादि प्रश्नों पर विचार कर। अगर मेरा उपदेश श्रुतज्ञानी के उपदेश सरीखा ही हो, उसमें कुछ भी विशेषता नजर न आती हो तो भले ही मुझे केवली न मान, अगर कोई विशेषता मालूम होती हो—जो कि श्रुतज्ञानी के उपदेश में संभव नहीं है—तो मुझे केवली मान। इस प्रकार मेरे केवली होने ने होने का निर्णय तू आप ही कर ले।

गौतम! अगर मुझ पर तेरा विश्वास है, मेरे उपदेश की सत्यता तुझे अनुभव हो रही हो तो मेरा कहना मान। मेरा कहना यह है कि तू समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

'प्रमाद मत कर' यह भगवान् का वचन अत्यन्त गम्भीर है। गौतम स्वामी बेले-बेले का पारणा करते थे। शरीर को तो मानो वह त्याग ही चुके थे। वह चौदह पूर्वों के ज्ञाता और सर्वाक्षर सन्निपाती थे। तप और संयम में लीन रहते थे। ऐसी दशा में उन्हें समय मात्र का भी प्रमाद न करने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता पड़ी?

सर्वज्ञ के सामने गौतम स्वामी जैसे विशिष्ट श्रुतज्ञानी और साधारण जीव ही हैं। उनका उपदेश सब के लिए समान है। गौतम आदि के लिए उपदेश न देकर वे दूसरों को

दें, ऐसी बात नहीं है। यह बात दूसरी है कि भगवान् के उपदेश का जो सूक्ष्म रहस्य गौतम स्वामी ही ग्रहण कर सके थे, वह दूसरा ग्रहण न कर सका, फिर भी उपदेश तो सबके लिए समान ही था। उपदेश को ग्रहण करने की मात्रा तो श्रोता की अपनी शक्ति पर निर्भर करती है। सरोवर किसी को जल लेने से इन्कार नहीं करता, लेकिन जितना बड़ा पात्र होगा; वह उतना ही जल ग्रहण करेगा। इसी प्रकार भगवान् का ज्ञान-सागर सब के लिए है। जिसका जितना सामर्थ्य हो, उतना ग्रहण कर ले। गौतम अधिक ग्रहण कर सके, दूसरे लोग उतना न ग्रहण कर सके।

भगवान् ने गौतम को संबोधन करके कहा है कि एक समय मात्र भी प्रमाद मत करो। एक न्यायशील राजा यही कहेगा कि मेरा कानून प्रधान और प्रजा सभी के लिए समान है। अगर कोई कानून प्रधान के लिए न हो और सिर्फ प्रजा के लिए ही हो तो उस कानून को बनाने वाला राजा न्यायशील नहीं कहला सकता। न्यायशील राजा तो वही है जो सबके लिए समान कानून बनाता है। जब राजा अपने प्रधान से भी यही कहेगा कि मेरा कानून तुम्हारे लिए भी है, तब प्रजा आप ही काँप जाएगी। वह सोचेगी—प्रधान को भी कानून की मर्यादा पालनी पड़ती है तो हमारी क्या बिसात। हमें तो पालनी ही पड़ेगी।

इसी प्रकार गौतम स्वामी में विशेष प्रमाद नहीं है, फिर भी भगवान् ने उन्हे प्रमाद न करने की हिदायत की है। इससे हमें यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् ने यह बात हमारे लिए [illegible] है। भगवान् को गौतम स्वामी का जैसा ध्यान था वैसा [illegible] था।

भगवान् तीर्थङ्कर हैं। सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र तीर्थ हैं और चतुर्विध संघ तीर्थ के आधार हैं। या यों कहिए कि जिसमें उपर्युक्त रत्नत्रय मिल गया वही तीर्थ है। जिसमें यह तीन रत्न नहीं हैं वह तीर्थ नहीं—हड्डियों का ढेर है।

आज भगवान् नहीं दीखते, लेकिन उनका उपदेश किया हुआ मार्ग आज भी दीख रहा है। उनके द्वारा स्थापित तीर्थ आज भी विद्यमान हैं। इसे देखकर ही गौतम स्वामी ने भगवान् को केवलज्ञानी माना था। भगवान् का उपदेश किया हुआ मार्ग और स्थापित किया हुआ तीर्थ आज भी मौजूद है। इन्हें देखकर यह मानना चाहिए कि आज भी भगवान् मौजूद हैं।

ईश्वर चर्म-चक्षु से नहीं दीखता। हाँ, ईश्वर का शरीर चर्म-चक्षु से भले ही दिखाई दे और दिखाई देता भी है, लेकिन ईश्वरत्व तो उसी को दिखेगा, जो स्वयं ईश्वर होगा। जो लोग ईश्वर को आँखों से ही देखना चाहते हैं और देखे विना उस पर विश्वास नहीं करना चाहते, वे भ्रम में पड़े हुए हैं। ईश्वर को देखने के लिए दिव्यदृष्टि की आवश्यकता होती है। दिव्यदृष्टि प्राप्त होने पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है। मगर जो लोग दिव्य-दृष्टि प्राप्त करने के लिए योग्य साधन करना नहीं चाहते, फिर भी ईश्वर को देखना चाहते हैं, उनकी स्थिति बड़ी विचित्र है। उनका यह बालहठ ही कहा जा सकता है।

हमें अपने अनन्त सामर्थ्य पर विश्वास रखते हुए भी मौजूद असामर्थ्य को भूलना नहीं चाहिए। आत्मा में अनन्त ज्ञानशक्ति है, अनन्त दर्शनशक्ति है। आत्मा वीर्य का भंडार है। किन्तु आज वह अप्रकट है। अतएव हमें ईश्वर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को ही देखना चाहिए और यदि वह परिपूर्ण दिखाई दे तो

उसके उपदेष्टा को भी परिपूर्ण समझ लेना चाहिए। इस प्रकार करने से ईश्वरीय मार्ग पर चलने की रुचि जागृत होगी और धीरे-धीरे ईश्वरत्व भी प्राप्त हो सकेगा। ईश्वरत्व प्राप्त होने पर ईश्वर दिखाई देगा। अथवा यह कहिए कि उस समय ईश्वर को देखने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

ग्रहण दो प्रकार से होता है—बुद्धि से और इन्द्रियों से। इन्द्रियों से देख कर ही अगर ईश्वर को मानने की इच्छा रक्खी जाय, तो बड़ी गड़बड़ी होगी। ईश्वर केवल बुद्धिगम्य है और वह भी विशिष्ट बुद्धिगम्य है।

जिस समय तुम भगवान् महावीर के उपदेश के मर्म को भली-भाँति जानोगे उस समय यह भी तुम्हें मालूम हो जायगा कि ऐसा उपदेश किसी अल्पज्ञ के द्वारा होना सभव नहीं है। यह ज्ञान ही तुम्हें भगवान् का साक्षात्कार कराएगा। इसी से ईश्वर की ईश्वरता पहचान पाओगे।

भक्तों का कथन है कि ईश्वर को ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर मत भटको। पृथ्वीतल बहुत विशाल है और तुम्हारे पास छोटे-छोटे दो पैर हैं। इनके सहारे तुम कहाँ-कहाँ पहुँच सकोगे? फिर इतना समय भी तुम्हारे पास कहाँ है? ईश्वर को खोजने का ठीक उपाय यह नहीं है। मन को शान्त और स्वस्थ बनाओ। फिर देखोगे तो ईश्वर तुम्हारे ही निकट-निकटतर दिखाई देगा।

मो कों कहाँ तू ढूँढे, मैं तो हरदम तेरे पास में।
ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद ना काशी कैलाश में॥
ना मैं बैसूं अब्ज द्वारिका, मेरी भेट विश्वास में ॥मोको॥

मगर लोग बाहर की दृष्टि से देखते हैं, जिससे लाभ के बदले संदेह ही ज्यादा होता है। कोई मुझ से पूछे कि सुमेरु पर्वत कहाँ है? मैं उत्तर दूंगा सुमेरु प्रथम तो केवली के ज्ञान में है; दूसरे शास्त्र में है; तीसरे नक्शे में है। पृथ्वी पर सुमेरु कहाँ है, यह मुझे मालूम नहीं और पता लगाने की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि भगवान् ने पिंड में ब्रह्माण्ड बतलाया है।

परिकर कर धर कंचुकी, पुरुष फिरे चकचोर।
यह आकार है लोक का, देख्यो ग्रंथ निचोर॥

झगा पहन कर और कमर पर हाथ रख कर नाचता हुआ पुरुष जिस आकार का दिखाई देता है, वह लोक का आकार है। संक्षेप में कहा जाय तो यह कि मनुष्य सारी दुनियाँ का नक्शा है। लोक को देखने के लिए कृत्रिम नक्शा देखने की जरूरत नहीं है। लोक के नक्शे में जो रेखाएँ हैं, वैसी ही मनुष्य के शरीर में नसों के रूप में मौजूद हैं। मानव-शरीर के ठीक बीचों-बीच नाभि है। यह नाभि सूचित करती है कि सुमेरु पर्वत भी इसी तरह का है। शरीर का नाभि और सुमेरु गिरि रूप लोकनाभि ठीक बीच में है। कदाचित् कोई प्रश्न करे कि मनुष्य शरीर में सुमेरु कहाँ है? तो मैं कहूँगा—अपनी नाभि में। सृष्टि के मध्य का सुमेरु पर्वत तभी मिलेगा, जब ऊर्ध्वगामी बन कर ब्रह्माण्ड, मस्तक और नाभि को एक कर दोगे तथा जब सोती हुई शक्तियाँ जाग उठेंगी। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर आप ही सुमेरु गिरि का पता लग जायगा।

सुमेरु पर्वत पर भगवान् ने चार वन बतलाये हैं। सब से नीचे भद्रशाल वन है। उससे पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर

उसके उपदेष्टा को भी परिपूर्ण समझ लेना चाहिए। इस प्रकार करने से ईश्वरीय मार्ग पर चलने की रुचि जागृत होगी और धीरे-धीरे ईश्वरत्व भी प्राप्त हो सकेगा। ईश्वरत्व प्राप्त होने पर ईश्वर दिखाई देगा। अथवा यह कहिए कि उस समय ईश्वर को देखने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

ग्रहण दो प्रकार से होता है—बुद्धि से और इन्द्रियों से। इन्द्रियों से देख कर ही अगर ईश्वर को मानने की इच्छा रक्खी जाय, तो बड़ी गड़बड़ी होगी। ईश्वर केवल बुद्धिगम्य है और वह भी विशिष्ट बुद्धिगम्य है।

जिस समय तुम भगवान् महावीर के उपदेश के मर्म को भली-भाँति जानोगे उस समय यह भी तुम्हें मालूम हो जायगा कि ऐसा उपदेश किसी अल्पज्ञ के द्वारा होना संभव नहीं है। यह ज्ञान ही तुम्हें भगवान् का साक्षात्कार कराएगा। इसी से ईश्वर की ईश्वरता पहचान पाओगे।

भक्तों का कथन है कि ईश्वर को ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर मत भटको। पृथ्वीतल बहुत विशाल है और तुम्हारे पास छोटे-छोटे दो पैर हैं। इनके सहारे तुम कहाँ-कहाँ पहुँच सकोगे? फिर इतना समय भी तुम्हारे पास कहाँ है? ईश्वर को खोजने का ठीक उपाय यह नहीं है। मन को शान्त और स्वस्थ बनाओ। फिर देखोगे तो ईश्वर तुम्हारे ही निकट-निकटतर दिखाई देगा।

मो को कहाँ तू ढूँढे, मैं तो हरदम तेरे पास में।
ना मैं मंदिर ना मैं मस्जिद ना काशी कैलाश में॥
ना मैं बैसूं अञ्ज द्वारिका, मेरी भेट विश्वास में ॥मोको॥

मगर लोग बाहर की दृष्टि से देखते हैं, जिससे लाभ के बदले संदेह ही ज्यादा होता है। कोई मुझ से पूछे कि सुमेरु पर्वत कहाँ है? मैं उत्तर दूंगा सुमेरु प्रथम तो केवली के ज्ञान में है; दूसरे शास्त्र में है; तीसरे नक्शे में है। पृथ्वी पर सुमेरु कहाँ है, यह मुझे मालूम नहीं और पता लगाने की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि भगवान् ने पिंड में ब्रह्माण्ड बतलाया है।

परिकर कर धर कंचुकी, पुरुष फिरे चकचोर।
यह आकार है लोक का, देख्यो ग्रंथ निचोर॥

झगा पहन कर और कमर पर हाथ रख कर नाचता हुआ पुरुष जिस आकार का दिखाई देता है, वह लोक का आकार है। संक्षेप में कहा जाय तो यह कि मनुष्य सारी दुनियाँ का नक्शा है। लोक को देखने के लिए कृत्रिम नक्शा देखने की जरूरत नहीं है। लोक के नक्शे में जो रेखाएँ हैं, वैसी ही मनुष्य के शरीर में नसों के रूप में मौजूद हैं। मानव-शरीर के ठीक बीचों-बीच नाभि है। यह नाभि सूचित करती है कि सुमेरु पर्वत भी इसी तरह का है। शरीर का नाभि और सुमेरु गिरि रूप लोकनाभि ठीक बीच में है। कदाचित् कोई प्रश्न करे कि मनुष्य शरीर में सुमेरु कहाँ है? तो मैं कहूँगा—अपनी नाभि में। सृष्टि के मध्य का सुमेरु पर्वत तभी मिलेगा, जब ऊर्ध्वगामी बन कर ब्रह्माण्ड, मस्तक और नाभि को एक कर दोगे तथा जब सोती हुई शक्तियाँ जाग उठेंगी। ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर आप ही सुमेरु गिरि का पता लग जायगा।

सुमेरु पर्वत पर भगवान् ने चार वन बतलाये हैं। सब से नीचे भद्रशाल वन है। उससे पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर

नन्दन वन है। उससे साढ़े बासठ योजन ऊपर सौमनस वन है और उससे भी छत्तीस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है। उस पाण्डुक वन के ऊपर अभिषेक-शिला है। तीर्थंकर के जन्म के समय इन्द्र उन्हे इस अभिषे-शिला पर ले जाते हैं और वहाँ उनका अभिषेक करते हैं। उपनिषद् में कहा है—

'देवो भूत्वा देवं यजेत् ।'

अर्थात्–ईश्वर बन कर ईश्वर को देख–ईश्वर की पूजा कर। यानी अपने आत्मा का स्वरूप पहचान ले, बाहर के झगड़े दूर कर।

हम भी परमात्मा की पूजा करते हैं, मगर धूप, दीप, फल और मिठाई आदि से नहीं। ऐसा करना जड़-पूजा है। सच्ची पूजा वह है जिसमे पूज्य और पूजक का एकीकरण हो जाय। जैसे शक्कर की पुतली पानी की पूजा करने में उसके साथ एक-मेक हो जाती है—उसी में मिल जाती है, उसी प्रकार ईश्वर की पूजा करनी चाहिए। शास्त्र में कहा है—

'कित्तिय–वन्दिय–महिया'

अर्थात्–हे प्रभो ! तू कीर्तित है, वन्दित है और पूजित है।

साधु भी यह पाठ बोलते हैं। यह पाठ षडावश्यक के दूसरे अध्ययन का है। भगवान् की पूजा यदि केवल धूप, दीप आदि से ही हो सकती होती तो साधु उनकी पूजा कैसे कर सकते थे ?

परमात्मा की पूजा के लिए पूजक को सर्व प्रथम यह चाहिए कि मैं कौन हूँ ? हे पूजक ! क्या तू हाड़, मांस,

नख या केश है। अगर तेरी यही धारणा है तो तू ईश्वर की पूजा के अयोग्य है। तू 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' तत्त्व नहीं जान सकता। क्योंकि हाड़-माँस का पिंड अशुचि है, जो ईश्वर की पूजा में नहीं टिक सकता। अपने आपको मास का पिंड समझने वाला पहले तो ईश्वर की पूजा करेगा नहीं अगर करेगा भी तो केवल मांस पिंड बढ़ाने के लिए। अगर मास पिंड बढ़ाने के लिए ईश्वर की पूजा की और उससे मांस बढ़ गया तो चलने फिरने में और कष्ट होगा, मरने पर उठाने वालो को कष्ट होगा और जलाने में लकड़ियाँ अधिक लगेंगी।

मैं पूछता हूँ; आप देह हैं या देही हैं? घर हैं या घरवान् हैं? आप कहेंगे हम देही हैं, हम घरवाले हैं। घर तो चूना, ईंट या पत्थर का होता है। मगर देखना, आप कहीं घर ही तो नहीं बन गये हैं? अगर कहीं अपने आपको घरवान् न मान कर घर ही मान लिया तो बड़ी गड़बड़ी होगी।

'देहो यस्यास्तीति देही' अर्थात् देह जिसका है, जो स्वयं देह नहीं है—वह देही है। निश्चय समझो—मैं हाथवान् हूँ, स्वयं हाथ नहीं हूँ। ऐसा निश्चय होने पर तुम देव बन कर देव की पूजा के योग्य अधिकारी बन सकोगे। गीता में कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु:, इन्द्रियेभ्यो परं मन: ।
मनसस्तु परा बुद्धि:, यो बुद्धे: परतस्तु स: ।।

तू इन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं है। वरन् बुद्धि को शक्ति देकर उसका प्रयोग करने वाला है।

जिसने इस प्रकार ईश्वर को समझ लिया है, वह ईश्वर की खोज मे मारा-मारा नहीं फिरेगा और न ईश्वर के नाम पर

अन्याय ही करेगा । कानों मे उँगली डालकर ईश्वर को पुकारे और फिर कहे—या अल्लाह ! तू हिन्दुओं को मार डाल । ऐसा कदापि नहीं करेगा । जर्मन लोग इँग्लेण्ड वालों को मार डालने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और इँग्लेण्ड वाले जर्मनों को मार डालने के लिए । अब बेचारा ईश्वर किसकी रक्षा करे और किसे मार डाले ? वह किस का पक्ष ले ? यह ईश्वर की सच्ची प्रार्थना नहीं है । ऐसी प्रार्थना करने वाला ईश्वर को समझता ही नहीं है ।

कहा जाता है कि सिकन्दर के हाथ में उसके शत्रु-पक्ष की ओर से आया हुआ तीर चुभ गया । सिकन्दर आग बबूला हो गया और उसने तीर मारने वाले की जाति के दो हजार कैदियों के सिर कटवा लिए । क्या यह ईश्वर को जानना है ? क्या यह न्याय है ? लेकिन सिकन्दर के सामने कौन यह प्रश्न उपस्थित करता ? ईश्वर की सच्ची पूजा तो आत्मा को उन्नत बनाने के उद्देश्य मे ही निहित है । जिसने आत्मा का असली स्वरूप समझ लिया है, उसने परमात्मा पा लिया है । परमात्मा की खोज आत्मा में तन्मय होने पर समाप्त हो जाती है ।

[घ]

श्री महावीर नमूं वर नाणी ।

यह भगवान् महावीर की प्रार्थना है । प्रार्थना आत्मा को आनन्ददायिनी वस्तु है । प्रत्येक प्राणी और विशेषतः मनुष्य को प्रार्थनामय जीवन बनाना आवश्यक है । त्यागीवर्ग यानी साधुसंतों को ही नहीं, किन्तु पतित से पतित जीवन बिताने वालों को भी परमात्मा की प्रार्थना करके जीवन को पवित्र और

पवित्रतर बनाने का अधिकार है। संसार में जिसे पापी कह कर लोग घृणित समझते हों, ऐसे घोर पापी, गो, ब्राह्मण, स्त्री और बालक के घातक, चोर, लबारी, जुआरी और वेश्यागामी अथवा पापिनी, दुराचारिणी और दुष्कर्म करने वाली स्त्री को भी परमात्मा की प्रार्थना का आधार है।

इस प्रकार जो प्रार्थना त्यागी और भोगी, सदाचारी और दुराचारी, सज्जन और दुर्जन, पापी और पुण्यात्मा–सभी को समान रूप से आधारभूत है, गुणदायिनी है, उस प्रार्थना में कैसी शक्ति है ? एकाग्र-चित्त होकर प्रार्थना में ध्यान लगाने से ही इस प्रश्न का समाधान हो सकता है। प्रार्थना का वास्तविक मूल्य और महत्त्व प्रार्थनामय जीवन बनाने से ही मालूम हो सकता है। प्रार्थना चाहे सादी भाषा में हो या शास्त्रीय शब्दों में हो, उसका आशय यही होता है कि:—

गो ब्राह्मण प्रमदा बालक की मोटी हत्याचारो।
तेनो करणहार प्रभु भजने होत हत्या से न्यारो ॥पदम प्रभु॥
वेश्या चुगल छिनाल कसाई चोर महा बटमारो।
जो इत्यादि भजे प्रभु ! तो ने तो निवृत्त संसारो ॥पदम प्रभु॥

जो वस्तु इतनी पावन है, उसकी महिमा जीभ से किस प्रकार कही जा सकती है ? जीभ में, बुद्धि में और मन में प्रार्थना की महिमा प्रकट करने की शक्ति कहाँ ? संसार ने जिसकी अवहेलना कर दी है, लोग जिसका मूंह देखना पाप समझते हैं और जिसे पास में खड़ा भी नहीं रहने देना चाहते, ऐसे पापी को भी जो प्रार्थना पवित्र बना देती है और ऐसा पवित्र बना देती है कि उसकी घृणा करने वाले लोग ही उसकी प्रार्थना करने लगते

हैं तथा प्रार्थना करके अपना जीवन सफल मनाते हैं, उस प्रार्थना की महिमा अगाध है। उसकी महिमा कौन कह सकता है ?

परमात्मा की प्रार्थना में इतनी पावनी शक्ति है। फिर भी जो लोग प्रार्थना में न लग कर गंदी बातों में जीवन लगाते हैं, उन-सा मूर्ख और कौन होगा ? परमात्मा की प्रार्थना में न धन खर्च करने की आवश्यकता है, न कष्ट सहन करने की ही। हृदय को शुद्ध करके परमात्मा पर विश्वास रख कर उसका स्मरण करना ही प्रार्थना है। ऐसे सरल उपाय का अवलम्बन करके कौन विवेकशील पुरुष पवित्र न बनना चाहेगा ?

प्रार्थना किसे पवित्र नहीं बना सकती ? जो पानी राजा की प्यास बुझा कर उसके प्राण बचाता है, वही पानी क्या एक अधर्मी की प्राणरक्षा न करेगा ? जो अन्न राजा, महाराज, तीर्थङ्कर, अवतार आदि के प्राणों की रक्षा करता है, वह क्या कनिष्ठ प्राणी के पेट में जाकर उनकी रक्षा नहीं करेगा ? अन्न की कीमत चुकानी पड़ती है और पानी भी बिकने लगा है, लेकिन पवन प्राणरक्षा करता है या नहीं ? और वह सभी के प्राणों की रक्षा करता है या किसी-किसी के ही प्राणों की ? अगर थोड़ी देर तक ही पवन नाक में न आवे तो क्या जीवन-रक्षा हो सकती है ? नहीं। ऐसी दशा में मरण के सिवाय और क्या शरण है ? पवन स्वयं नाक में आता और प्राण बचाता है। इस प्राण-रक्षक पवन की कोई कीमत नहीं देनी पड़ती। जहाँ मनुष्य है, वहाँ वह आ जाता है। यही नहीं, वरन् कई बार लोग उसकी अवहेलना करते हैं, उसे रोकने की चेष्टा करते हैं, तब भी वह नाक में आ ही जाता है। उदाहरणार्थ—बुखार आने पर रोगी

के परिचारक उसे अनाप सनाप कपड़े ओढ़ा देते हैं। ऐसा करना पवन रुकने के कारण स्वास्थ्य के लिए घातक है। फिर भी पवन किसी न किसी मार्ग से पहुँचकर नाक में घुसता ही है और जीवन देता है।

जैसे पवन की कीमत नहीं देनी पड़ती, फिर भी वह जीवन देने वाला है, उसी तरह प्रार्थना भी जीवन देने वाली है और उसकी भी कीमत नहीं देनी पड़ती। लेकिन लोग शायद यह चाहते हैं कि जिस तरह पवन स्वयं ही आकर हमरी नाक में घुस जाता है उसी प्रकार प्रार्थना भी हमारे हृदय में घुस जाय! और शायद इसी विचार से वे परमात्मा की प्रार्थना नहीं करते। उन्हें प्रार्थना के लिए समय नहीं मिलता, गन्दी और निरर्थक बातों के लिए समय मिल जाता है। जिन कामों से गालियाँ खानी पड़ती हैं, बुराइयाँ पैदा होती हैं और आत्मा पर सकट आ पड़ता है, ऐसे कामों के लिए समय की कमी नहीं, सिर्फ प्रार्थना के लिए कमी है।

आप कहेंगे कि हम प्रार्थना करने में कब प्रमाद करते हैं? तो मैं सब से अलग-अलग न पूछ कर सभी से एक साथ पूछता हूँ कि आप लोग जब रेल में बैठकर कहीं जाते आते हैं, तब वहाँ कोई काम नहीं रहता। फिर भी उस समय में से कितना समय प्रार्थना में लगाया है और कितना निरर्थक गप्पों में? कभी आपने इस बात पर विचार भी किया है? उस खाली समय में क्यों प्रार्थना करना भूल जाते हो? कितने मनुष्य ऐसे हैं जो एकान्त तन्मयता से प्रार्थना करते हैं और प्रार्थना करते समय उनका रोम-रोम आह्लाद का अनुभव करता है? दर्पण में मुंह देखने की तरह सभी लोग अपने-अपने को देखो कि हम

कितना समय प्रार्थना में लगाते हैं और कितना समय रगड़ों-झगड़ों मे खर्च कर देते हैं ?

लोग कहते हैं—भगवान के भजन के लिए समय नहीं मिलता। मैं कहता हूँ—भजन के लिए जुदा समय की आवश्यकता ही क्या है ? भजन तो चलते, फिरते, उठते-बैठते समय भी किया जा सक्ता है। आपका बाहरी जीवन किसी भी काम में लगा हो, लेकिन अगर आपके अन्तःकरण में प्रार्थना का संस्कार है तो प्रार्थना करने में विघ्न उपस्थित नहीं होगा।

कई लोग प्रार्थना करते हैं, मगर सांसारिक लालसाओं से प्रेरित होकर। किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं—संसार की सम्पद्-विपद् मत मानो, संसार सम्बन्धी लालसा से रहित होकर परमात्मा का भजन होना सम्पद् है और भजन न होना ही विपद् है।

गई सो गई अब राख रही को। आप लोग आगे से अपना जीवन प्रार्थनामय बनाइए। आपका हृदय समाधान पाया हो और आपको कल्याण करना हो तो दूसरी सब बातें भूल कर अखण्ड प्रार्थना की आदत डालो। ऐसा करने से तुम देखोगे कि थोड़े ही समय मे अपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि अखंड प्रार्थना करने वाले को सदैव योग-क्षेम रहता है। अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त वस्तु की रक्षा को क्षेम कहते हैं। योग और क्षेम के लिए ही आप दौड़धूप मचाते हैं और इस प्रार्थना

से यह प्रयोजन सहज ही सिद्ध हो जाता है अखण्ड प्रार्थना करने वाले को योग और क्षेम की चिन्ता ही नहीं रहती ।

ऐसा होते हुए भी आपका मन प्रार्थना पर विश्वास नहीं पकड़ता और रात-दिन बुरे कामो में व्यस्त रहता है। मूल्यवान् मनुष्य जन्म इस प्रकार बर्बाद होते देख कर ज्ञानियों को दुःख होता है, जैसे कीमती रत्न को समुद्र में फैंकते देख जौहरी को दुःख होता है। जौहरी जैसे रत्न का मूल्य जानता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष मानव-जीवन का मूल्य समझते हैं। इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं:—

> ख़याल आता है मुझे दिलजान तेरी बात का ।
> फिक्र तुझ को है नहीं आगे अन्धेरी रात का ॥
> जीवन तो कल ढल जागता दरियाव है बरसात का ।
> बेर कोई न खायगा उस रोज तेरे हाथ का ॥

ज्ञानी अपनी हार्दिक वेदना इस कविता द्वारा प्रकट करते हैं। वह कहते हैं—प्यारे भाई ! हमे तेरी दशा देख कर बहुत ही खयाल होता है कि तू अपना जीवन वृथा बर्बाद कर रहा है। तुझे जरा भी ध्यान नहीं है कि आगे चल कर मौत का और संकटों का सामना करना होगा। तू अपनी जवानी के जोश में भविष्य को भूल रहा है, मगर वह तो वर्षा से आने वाला नदी का पूर है। अधिक दिन ठहरने को नहीं। अतएव जल्दी चेत। वर्त्तमान में न भूल, भविष्य की ओर देख।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ वृथा बातें अधिक करती हैं। परनिंदा, और आलोचना में जो समय लगता है, उतना समय

अगर परमात्मा के भजन में लगे, तो बेड़ा पार हो जाय। एक वेश्या को भी अपना जीवन उन्नत बनाने का अधिकार है तो क्या श्राविका को यह अधिकार नहीं है? घर का काम-काज करते हुए भी भगवान् का भजन किया जा सकता है। फिर आत्मा को उस ओर क्यों नहीं लगातीं? आज अपने मन में दृढ़ संकल्प कर लो कि बुरी और निकम्मी बातों की ओर से मन हटा कर भजन और प्रार्थना में ही मन लगाना है। जो बात बड़े-बड़े ग्रन्थों में कही गई है, वही मैं आप से कह रहा हूँ। गीता में कहा है:—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

दुराचारी होकर भी जो अनन्य भाव से परमात्मा का भजन करता है उसे साधु होने में देर नहीं लगती। जिसने दुराचार किया है, उसे हमेशा के लिए हिम्मत हार कर नहीं बैठ जाना चाहिए।

आशंका हो सकती है कि—यह कैसे सम्भव है कि महापापी भी साधु बन सकता है? इसका समाधान यह है कि क्या संसार में यह बात प्रसिद्ध नहीं है कि ताँबे में जरा-सी रसायन डालने से वह सोना बन जाता है और पारस के संसर्ग से लोहा भी सोना हो जाता है? हाँ, बीच में पर्दा हो तो बात दूसरी है। इसी प्रकार भजन में भी पर्दा हो तो बात न्यारी है। कहावत है:—

सुणिया पिण सरध्या नहीं, मिटा न मन का मोह।
पारस से भेंट्या नहीं, रह्या लोह का लोह ॥

जैसे पारस और लोहे के बीच में कागज का पर्दा रह जाय तो लोहा सोना नहीं बनता, उसी प्रकार हृदय में जब तक पाप का पर्दा है, तब तक भजन से काम नहीं बन सकता। अतएव अपने हृदय के पर्दों को देखो। वृथा बातों से काम नहीं चल सकता और न कपट से ही काम हो सकता है।

बहुत से लोग माला फेरते और भजन करते तो देख पड़ते हैं, लेकिन उनके भजन करने का उद्देश्य क्या है? भगवान् की भक्ति करने के लिए भजन करते हैं या भगवान् को नौकर रखने के लिए? भगवान् के होकर उसे भजते हैं या कनक कामिनी के लिए? जो भगवान् का बन कर भगवान् को भजता है, उसे वस्तु की कामना नहीं रहेगी। चाहे उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ, फिर भी वह परमात्मा से बचने की प्रार्थना नहीं करेगा। ऐसे कठिन और संकट के समय भी उसकी प्रार्थना यही रहेगी कि—हे प्रभो! मुझे ऐसा बल दीजिए कि मै तुझे न भूलूँ।

गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमल ने आग रख दी। फिर भी मुनि ने यह नहीं कहा कि—'हे नेमिनाथ भगवान्! मुझे बचाओ, मैं तेरा भक्त हूँ।' मुंह से गजसुकुमार मुनि की गाथा गाई जाय और हृदय में मारण-मोहन आदि की कुविद्या चलती रहे, यह तो भगवान् के भजन को लजाना है। ऐसा करने वालों ने भगवान् का मजाक उड़ाया है और ईश्वर का फजीता किया है। यों तो परमात्मा के भजन से शूली भी सिंहासन बन जाती है, लेकिन भक्त यह कामना नहीं करता। गजसुकुमार मुनि चाहते, कि आग ठंडी हो जाय या सोमल अशक्त हो जाय तो ऐसा हो भी जाता, पर वह तो सोचते थे कि मुझे जल्दी मुक्ति प्राप्त करनी है और सोमल मेरी सहायता कर रहा है। आप बड़े चाव से गाते हैं:—

वसुदेवजी का नन्दन धन धन गजसुकुमार ।
रूपे अति सुन्दर कलावन्त वय बाल ॥
सुन नेमजी री वाणी छोड्यो मोह जंजाल ।
भीखू री पडिमा गया मसाणे महकाल ॥
देखी सोमल कोप्यो मस्तक बाँधी पाल ।
खेर ना खीरा सिर ठविया असराल ॥
मुनि नजर न खन्डी मेटी मनडा री झाल ।
परीषह सहि ने मोक्ष गया तत्काल ॥
भावे करि वन्दूं दिन में सौ सौ वार ।

क्षमा और शान्ति का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा? गजसुकुमार मुनि की क्षमाशीलता की कथा संसार के इतिहास में अद्वितीय है।

मित्रो ! यह बात आपका हृदय कहता हो तो इस पर कुछ विचार करो कि—जिनके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थीं और श्रीकृष्ण भाई थे, उनकी छत्रछाया में रहने वाले गजसुकुमारजी भगवान् नेमिनाथ से मुनिदीक्षा लेकर, श्मशान में जाकर ध्यान करने लगे। उनका ध्यान यही था कि मैं कब इस शरीर के बन्धन से मुक्त होऊँ। मुनि ध्यान में मग्न थे कि उसी समय वहाँ सोमल आ गया। मुनि पर नजर पड़ते ही सोमल का क्रोध भड़क उठा। क्रोध का कारण यही था कि इसने मेरी लडकी से विवाह नहीं किया। यद्यपि विवाह करना या न करना अपनी मर्जी पर है और उस लड़की को इच्छानुसार करने का अधिकार था, फिर भी सोमल ने मुनि पर यह अभियोग लगाया। अगर

गजसुकुमार मुनि सोमल पर भी अभियोग लगाते, तो जीत उन्हीं की होती। मगर उन्होंने दावा नहीं किया। उनमें इतना सामर्थ्य था कि अगर वह जरा-सा घुड़क देते तो भी सोमल के प्राण छूट जाते। मगर उन्हें तो सिद्ध करना था कि उन्होंने सोमल को अपकारी नहीं, उपकारी माना।

क्षमासागर गजसुकुमार की भावना थोड़ी देर के लिए भी आप में आ जाय तो कल्याण होते देर नहीं लगेगी। मगर आप यहाँ की खटपट में वहाँ की बात भूल रहे हैं। आप यह नहीं देखते कि आपकी आत्मा कल्याण के मार्ग से किस प्रकार दूर होती जा रही है। आज वही होशियार माना जाता है जो ज्यादा बोल सके और लड़ कर जीते, लेकिन संसार के किसी भी बड़े से बड़े नेता से पूछो कि गजसुकुमार में इतना सामर्थ्य होने पर भी उन्होंने सोमल से बदला नहीं लिया, तो बताओ बड़ा कौन रहा ? आज के होशियार बड़े हैं या गजसुकुमार महान् हैं ? आज के लोग लड़ाई-झगडे करके विजय चाहते हैं, छल-कपट में ही वीरता मानते हैं। ऐसे समय में आपके भाग्य अच्छे है कि आपके सामने गजसुकुमार का आदर्श है; जिसके कारण आप और लोगों की तरह गैस या बम फैंक कर लोगों की जान नहीं लेना चाहते। अब जरा मन को सावधान करके देखो कि गजसुकुमार मुनि ने क्या भावना की थी ? वह कहते थे कि:—

ससुरो सुभागी म्हाने पागड़ी बन्धावे।

जब सोमल सिर पर धधकते अँगार रखने के लिए चिकनी मिट्टी की पाल बाँध रहा था तो महामुनि गजसुकुमार

कहते थे—मेरे पगड़ी बाँध रहा है। धन्य मुनि ! धन्य है तुम्हारी उत्कृष्ट भावना ! धन्य है तुम्हारी क्षमाशीलता !!

लोगों को पुरानी और फटी पोशाक बदलने में जैसा आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द ज्ञानी को मृत्यु के समय—शरीर बदलते समय होता है। जीवन भर आचरण किये हुए तप, संयम आदि का फल मृत्यु-मित्र की सहायता के बिना प्राप्त नहीं होता।

गजसुकुमारजी सोचते थे—जिसके लिए घर छोड़ा, माता-पिता का त्याग किया, ससार के सुखों की उपेक्षा की, राज-पाट को तुच्छ गिना और भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षा धारण की, उस उद्देश्य की सिद्धि में विलम्ब हो रहा था। लेकिन इस भाई ने आकर मुझे सहायता पहुँचाई है। अब मेरा प्रयोजन जल्दी पूरा हो जायगा।

अगर आप गजसुकुमार सरीखे नहीं बन सकते, तो उनके भक्त ही बनो ! गजसुकुमार बनने की भावना रक्खो।

शंका की जा सकती है कि मुनि में और धर्म में अनन्त शक्ति है तो फिर अङ्गार ठंडे क्यों नहीं हो गये ? इस शंका का उत्तर यह है कि यदि गजसुकुमार मुनि इच्छा करते तो आग अवश्य ठंडी हो जाती। पर उन्होंने ऐसी इच्छा ही नहीं की। आपको किसी आवश्यक काम से कहीं जाना हो और रेल निकल गई हो। इसी समय कोई मोटर वाला आपसे कुछ लिए बिना ही आपको उस स्थान तक पहुँचाने लगे तो आप उस मोटर का बिगाड़ चाहेंगे या कुशल चाहेंगे ? इसी प्रकार गजसुकुमार को मोक्ष में पहुँचना है, जिसके लिए उन्होंने दीक्षा ली

है। मगर मोक्ष पहुँचने में देरी हो रही है। एकाएक सोमल वहाँ आ पहुँचता है। वह गजसुकुमार को जल्दी ही मोक्ष में पहुँचाने का उपाय करता है। ऐसी अवस्था में मुनि अङ्गार ठंडे करके अपनी अभीष्ट-सिद्धि में विघ्न क्यों डालेंगे ?

गजसुकुमार मुनि की इस ऊँची भावना को यदि हृदय स्वीकार करता हो तो उसे बार-बार समझाओ। प्रार्थना में तुच्छ वस्तुओं की कामना न करो। यही सोचो कि—'हे भगवान् ! तू और मैं एक ही हैं।'

ज्यों कचन तिहुँ काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जग जीव चराचर योनी, है चेतन गुण एक रे प्राणी॥

निश्चय नय का अवलम्बन करने से वस्तु का असली स्वरूप समझ में आयगा। आचार्य कहते हैं:—

यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं सः परमस्तथा।
अहमेव मयाऽऽराध्यः, नान्य कश्चिदिति स्थितिः॥

इस श्लोक में 'सोऽहम्' का तत्त्व ही व्यक्त किया गया है। जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है। ऐसी स्थिति में मैं ही मेरा आराध्य हूँ, अन्य कोई नहीं।

इस प्रकार की शुद्ध मानसिक स्थिति प्राप्त होने पर सकल कामनाओं का कचरा अन्तःकरण से हट जाता है और उज्ज्वल कल्याण का द्वार खुल जाता है।




समाप्तम्